





सचित्र

# श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवादसहित]

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध-३

अनुवादक

साहित्यवाचस्पति चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा

डी० ओ० सी० (काशी)

---

प्रकाशक

रामनारायण लाल अरुण कुमार

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता,

२, कटरा रोड, इलाहाबाद

[ मूल्य २०.०० ]

मुद्रक : प्रीमियर आफसेट वर्क्स, इलाहाबाद

# अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध

## की विषय-सूची

### चौवनवाँ सर्ग

५६३—५७३

गङ्गा-यमुना के सङ्गम-स्थल पर भरद्वाज के आश्रम में श्रीरामचन्द्रादि का पहुँचना । भरद्वाज को श्रीरामचन्द्र जी का अपने आगमन की सूचना दिलाना । भरद्वाज जी का आतिथ्य ग्रहण कर, श्रीरामचन्द्र जी का उनसे रहने के लिये किसी एकान्त स्थल के विषय में प्रश्न करना । उत्तर में भरद्वाज का चित्रकूटपर्वत पर रहने की सम्मति देना ।

### पचपनवाँ सर्ग

५७४—५८२

भरद्वाज जी के बतलाए हुए मार्ग से श्रीरामचन्द्रादि का चित्रकूट की ओर प्रस्थान । यमुना के दक्षिणतट पर वटवृक्ष के नीचे सीतालक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्र जी का टिकना ।

### छप्पनवाँ सर्ग

५८२—५९३

सीतासहित श्रीरामलक्ष्मण का चित्रकूट पहुँचना, वहाँ वाल्मीकि मुनि से भेंट और उनसे वार्तालाप । चित्रकूट पर लक्ष्मण जी का पर्णकुटी बनाना ।

### सत्तावनवाँ सर्ग

५९३—६०१

श्रीरामचन्द्रादि का विदा कर और गुह से विदा माँग सुसंत्र का अयोध्या की ओर प्रयाण । राजमार्ग में पुर-



( २ )

वासियों का आर्तनाद सुनते हुए दशरथ-सदन में इनका प्रवेश । श्रीरामचन्द्र जी के बिना सुमंत्र को आया देख, महाराज दशरथ और उनकी स्त्रियों का पुनः विलाप ।

**अट्ठावनवाँ सर्ग**

६०२—६११

पुत्रों के वनप्रवेश का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना । तदनन्तर किसी प्रकार सचेत होने पर महाराज दशरथ की सुमंत्र के साथ बातचीत । सुमंत्र द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का संदेशा महाराज दशरथ को सुनाया जाना ।

**उनसठवाँ सर्ग**

६११—६२०

श्रीरामचन्द्र जी के विरह में अपने राज्य में बसने वालों के विषाद का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना ।

**साठवाँ सर्ग**

६२०—६२६

पुत्रवात्सल्य के कारण पुत्र के वियोग का दारुण दुःख सहने में असमर्थ कौसल्या जी को वन जाने का आग्रह करते देख, सुमंत्र जी का उनको समझाना बझाना ।

**इकसठवाँ सर्ग**

६२६—६३३

महाराज के सामने कौसल्या का विलाप ।

**बासठवाँ सर्ग**

६३३—६३८

सचेत होने पर महाराज दशरथ का कौसल्या जी से अपने पूर्वकृत कर्मों का स्मरण करते हुए, वार्तालाप ।

( ३ )

**तिरसठवाँ सर्ग**

६३६—६४२

अन्ध-मुनि-पुत्र-वध सम्बन्धी अपनी पापकथा का  
कौसल्या जी से दशरथ जी का निरूपण करना ।

**चौंसठवाँ सर्ग**

६४३—६७२

अन्धमुनि से महाराज दशरथ का अपने हाथ से  
मारे गए मुनिकुमार के वध का वृत्तान्त निवेदन करना ।  
अपने सुत के मरण का दुस्संवाद सुन और दुःखी हो  
अन्धमुनि का महाराज दशरथ को शाप देना । महाराज  
दशरथ की मरणावस्था का वर्णन । महाराज के जीवन  
का अन्त ।

**पैंसठवाँ सर्ग**

६७२—६८०

महाराज के मर जाने पर उनकी पत्नियों का रोना धोना ।

**छयाछठवाँ सर्ग**

६८०—६८८

कैकेयी की निन्दा कर के कौसल्या जी का विलाप ।  
अमात्यों द्वारा महाराज के शव की रक्षा ।

**सरसठवाँ सर्ग**

६८८—६९६

मार्कण्डेयादि द्वारा सार्वजनिक सभा का बुलाया  
जाना और उसमें अराजक राज्य के दोषों का वर्णन ।

**अड़सठवाँ सर्ग**

६९६—७०५

वसिष्ठ जी की सम्मति से राजदूतों का भरत जी के  
बुलाने को भेजा जाना ।

**उमसठवाँ सर्ग**

७०५—७१०

ननिहाल में उदास भरत जी का अपने सुहृदों से  
पिछली रात के दुःस्वप्न का वर्णन करना ।



**सत्तरवाँ सर्ग**

७११—७१६

इतने ही में अयोध्या के दूतों का भरत जी के सामने पहुँचना । दूतों से भरत जी द्वारा कुशलप्रश्न पूछा जाना । दूतों के साथ भरत शत्रुघ्न का अयोध्या की ओर प्रस्थान ।

**इकहत्तरवाँ सर्ग**

७११—७३१

केकय देश से बड़ी हड़बड़ी में प्रस्थान कर, भरत जी का उदास अयोध्या में पहुँच वहाँ की शोच्य निरानन्दमयी दशा को देखना ।

**बहत्तरवाँ सर्ग**

७३२—७४५

पिता के भवन में पिता के दर्शन न पाकर भरत का कैकेयी के भवन में जाना और वहाँ अपनी जननी के मुख से अपने पिता की मृत्यु का संवाद एवं अपने को राज्य दिलाने के लिए, श्रीरामचन्द्र जी के निर्वासन का वृत्तान्त सुनना ।

**तिहत्तरवाँ सर्ग**

७४५—७५२

माता के वचनों को सुन शोकसन्तप्त भरत की शोकावस्था का वर्णन ।

**चौहत्तरवाँ सर्ग**

७५२—७६२

भरत द्वारा कैकेयी को फटकारा जाना ।

**पचहत्तरवाँ सर्ग**

७६२—७८१

विलाप करते हुए भरत का कण्ठस्वर पहचान, कौसल्या का सुमित्रा जी को भेज कर, भरत को अपने

( ५ )

निकट बुलवाना । कौसल्या जी के सामने भरत जी का  
अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए शपथें खाना ।

**छिहत्तरवाँ सर्ग**

७८१—७८७

वसिष्ठ जी के समझाने बुझाने पर भरत जी का पिता  
जी के शव का दाहकर्म करने को प्रवृत्त होना ।

**सत्तहत्तरवाँ सर्ग**

७८७—७९३

महाराज दशरथ के शव का प्रेतकर्म; पिता के गुणों  
को स्मरण कर, भरत शत्रुघ्न का विलाप करना ।

**अठहत्तरवाँ सर्ग**

७९३—८००

पूर्वद्वार पर खड़े हुए और आपस में बातचीत करते  
हुए भरत शत्रुघ्न का कुञ्जा को देखना और भरत द्वारा  
शत्रुघ्न का ध्यान उस ओर आकर्षित किया जाना, तब  
रोष में भर शत्रुघ्न का मन्थरा को बसीटना ।

**उन्नासीवाँ सर्ग**

८००—८०४

राजकर्मचारियों द्वारा राजगद्दी पर बैठने की प्रार्थना  
किए जाने पर, भरत जी का उसे अस्वीकार करना  
और श्रीरामचन्द्र जी को वन से लाने के लिए वन जाने  
की इच्छा प्रकट करना और मार्ग ठीक करने को  
शिल्पियों को भेजने की आज्ञा देना ।

**अस्सीवाँ सर्ग**

८०४—८११

भूप्रदेश-विशेषज्ञों द्वारा मार्ग की मरम्मत ।

**इक्यासीवाँ सर्ग**

८११—८१५

प्रातःकाल होने पर मागधवन्दीजनों द्वारा अपनी  
स्तुति सुन, भरत जी का उनको वर्जना और स्वयं  
विलाप करना ।



( ६ )

**ध्यासीवाँ सर्ग**

८१५—८२४

सभा में बैठे हुए मध्यस्थों द्वारा भरत जी से अभिषेक करामे का अनुरोध किया जाना । उनके बचन को अस्वीकार कर, भरत का पास बैठे हुए सुमंत्र से वन जाने के लिए सेना तैयार करने की आज्ञा देना ।

**तिरासीवाँ सर्ग**

८२५—८३१

अपने अनुयायियों के साथ भरत जी का गङ्गातट पर पहुँचना ।

**चौरासीवाँ सर्ग**

८३२—८३६

गङ्गातट पर पड़ी हुई भरत की सेना को देख और यह सोच कि भरत, श्रीरामचन्द्र जी को मारने जाते हैं, गुह का अपने अनुयायियों को एकत्र करना । तदनन्तर गुह का भरत जी को फलों फूलों की भेंट देना ।

**पचासीवाँ सर्ग**

८३६—८४२

भरद्वाजाश्रम का मार्ग जानने के लिए भरत का गुह से प्रश्न । भरत और गुह का वार्तालाप ।

**छियासीवाँ सर्ग**

८४३—८४६

भरत के प्रति गुह का लक्ष्मण जी के गुणों का वर्णन करना ।

**सत्तासीवाँ सर्ग**

८४६—८५६

गुह की बातें सुन मूर्छित भरत जी का कौसल्या जी को समझाना । भरत को गङ्गातट पर गुह द्वारा श्रीराम लक्ष्मण के टिकने का स्थान दिखलाया जाना

( ७ )

**अट्ठासीवाँ सर्ग**

८५६—८६४

इङ्गुदी वृक्ष के नीचे गुह की दिखलाई श्रीरामचन्द्र जी की साथरी देख, भरत जी का विलाप करना ।

**नवासीवाँ सर्ग**

८६५—८७१

सोकर उठने पर भरत का शत्रुघ्न जी से गुह द्वारा नावें मँगवाने को कहना और गुह का भरत के समेप आना । भरतादि का गङ्गा के पार होना ।

**नब्बेवाँ सर्ग**

८७२—८७८

वसिष्ठ जी को आगे कर भरत का भरद्वाजाश्रम में प्रवेश । भरत और भरद्वाज जी का संवाद । भरद्वाज द्वारा भरत को श्रीरामचन्द्र जी के वसने का स्थान बतलाया जाना ।

**इक्यानवेवाँ सर्ग**

८७८—८८८

अपने तपःप्रभाव से भरद्वाज द्वारा भरत और उनके लश्कर का आतिथ्य किए जाने के वृत्तान्त का वर्णन ।

**बानबेवाँ सर्ग**

८८९—९०८

आतिथ्य ग्रहण करने के बाद भरत जी का भरद्वाज जी से विदा माँगना । मुनि का भरत जी को चित्रकूट का मार्ग बतलाना । भरद्वाज जी के पूँछने पर भरत जी का अपनी माताओं का परिचय देते हुए अपनी जननी कैकेयी की निन्दा करना । तब भरद्वाज जी का श्रीरामचन्द्र जी की वनप्रयात्रा का प्रयोजन बतलाना । भरत जी का वहाँ से प्रस्थान ।



( ८ )

**तिरानबेवाँ सर्ग**

६०८—६१५

दूर ही से भरत द्वारा चित्रकूट पर्वत पर श्रीरामचन्द्र  
जी का देखा जाना।

**चौरानबेवाँ सर्ग**

६१५—६२१

श्रीरामचन्द्र जी का सीता के प्रति चित्रकूट के वन  
की शोभा का वर्णन करना।

**पञ्चानबेवाँ सर्ग**

६२२—६२७

चित्रकूट के निकट बहने वाली मन्दाकिनी के तट की  
शोभा का वर्णन।

**छियानबेवाँ सर्ग**

६२७—६३४

भरत जी के सैन्य-चालन का शब्द सुन वनवासी  
पशु-पक्षियों का भयभीत हो इधर उधर भागना। यह  
देख श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को बुलाना। साल के  
वृत्त पर चढ़ लक्ष्मण जी का भरत जी की सेना को  
देखना। ससैन्य भरत को आया हुआ देख, सशङ्कित  
हो लक्ष्मण जी का भरत के वध के लिए श्रीरामचन्द्र  
से अनुरोध करना

**सत्तानबेवाँ सर्ग**

६३५—६४२

श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी को उनकी भूल  
बतलाना। लक्ष्मण जी का अपनी भूल पर लज्जित  
होना। श्रीरामाश्रम से दूर भरत जी का अपनी सेना को  
ठहराना।

**अट्टानबेवाँ सर्ग**

६४२—६४६

श्रीरामाश्रम की ओर गुड़ के साथ भरत जी का  
पैदल प्रस्थान करना।



( ६ )

**निन्यानबेवाँ सर्ग**

६४६—६५७

पर्णशाला में श्रीरामचन्द्र जी को देख, भरत जी का  
उनको प्रणाम करना ।

**सौवाँ सर्ग**

६५७—६७६

भरत के प्रति कुशल प्रश्न पूँछने के मिस श्रीराम-  
चन्द्र जी का राजनीति का उपदेश ।

**एक सौ पहला सर्ग**

६८०—६८२

भरत का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के  
स्वर्गवासी होने का संवाद सुनाना ।

**एक सौ दूसरा सर्ग**

६८२—६६४

पिता के मरने का दुस्संवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी का  
विलाप करना और जलाञ्जलि देने के लिए सब भाइयों  
का मन्दाकिनी के तट पर जाना ।

**एक सौ तीसरा सर्ग**

६६४—१००२

वसिष्ठ जी को आगे कर, महाराज दशरथ की  
रानियों का मन्दाकिनी के तट पर जाना । कौसल्या  
जी का सीता जी को धीरज बँसाना ।

**एक सौ चौथा सर्ग**

१००३—१००६

श्रीरामचन्द्र जी का भरत जी से उनके वहाँ आने का  
कारण पूँछना । इस पर वन से लौट कर अयोध्या में  
जा, राज्य करने के लिए भरत जी की श्रीरामचन्द्र जी  
से प्रार्थना । उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी का पिता के  
वचन का गौरव रखने तथा उनके सत्य की रक्षा करने  
के लिए अयोध्या जाना अस्वीकार करना ।

( १० )

**एक सौ पाँचवाँ सर्ग**

१००६—१०११

“पितृशोक को दूर कर तुम स्वयं राज्य करो”—यह  
उपदेश श्रीरामचन्द्र जी का भरत को देना ।

**एक सौ छठवाँ सर्ग**

१०२१—१०३०

श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिए भरत जी का  
यत्न करना ।

**एक सौ सातवाँ सर्ग**

१०३१—१०३६

बिरादरी वालों के बीच बैठ कर, श्रीरामचन्द्र जी का  
भरत के गुणों की प्रशंसा करना ।

**एक सौ आठवाँ सर्ग**

१०३७—१०४२

ब्राह्मणोत्तम जाबालि का नास्तिकवाद के सहारे  
श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का प्रयत्न करना ।

**एक सौ नवाँ सर्ग**

१०४२—१०५४

जाबालि की बातों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उत्तर ।

**एक सौ दसवाँ सर्ग**

१०५४—१०६२

इक्ष्वाकुकुल में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजगद्दी पर बैठते  
आए हैं, यह समझाने के लिए वरानुचरित कथनपूर्वक  
वासष्ठ जी का श्रीरामचन्द्र को कुलधर्मोपदेश ।

**एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग**

१०६२—१०७१

वासष्ठ जी के समझाने पर भी श्रीरामचन्द्र जी को  
लौटाने के लिए तैयार न देख, भरत जी का अनशनव्रत  
धारण करने की तैयारी करना । तब श्रीरामचन्द्र जी का  
भरत को सान्त्वना प्रदान करना ।



( ११ )

**एक सौ बारहवाँ सर्ग**

१०७१—१०७६

दशग्रीव-वधैवी महर्षि का भरत जी को समझाना कि वे श्रीरामचन्द्र जी का कहना मान लें और अयोध्या में जा राज्य करें। इतने बड़े भारी राज्य का शासन करने के विचार से भयभीत हो भरत का श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं का उनसे माँगना।

**एक सौ तेरहवाँ सर्ग**

१०७६—१०८४

पादुका ग्रहण कर भरत जी का पुनः भरद्वाजाश्रम में आना। भरद्वाज जी का भरत के कार्यों की प्रशंसा करना। भरत जी का शृङ्गवेरपुर में पहुँचना।

**एक सौ चौदहवाँ सर्ग**

१०८५—१०९२

भरत जी के अयोध्या में जाने पर, वहाँ की दुर्दशा देख, भरत जी का विलाप करना।

**एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग**

१०९२—१०९६

पुरोहित, मंत्री और पुरवासियोंसहित भरत का नन्दिग्राम में प्रवेश और वहाँ पर पादुकाओं का पट्टा-भिषेक।

**एक सौ सोलहवाँ सर्ग**

१०९६—११०६

अपने अपने आवासस्थानों को छोड़ कर भागे हुए ऋषियों का श्रीरामचन्द्र जी के सामने खर की दुष्टता का वर्णन करना।

**एक सौ सत्रहवाँ सर्ग**

११०६—१११३

श्रीरामचन्द्र जी का महर्षि अत्रि के आश्रम में गमन। अनुसूया को सीता जी का प्रणाम करना और अनुसूया जी का सीता को आशीर्वाद देना।

( १२ )

**एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग****१११४—११२६**

पातिव्रत्य धर्म के विषय में सीता और अनुसूया जी का परस्पर कथोपकथन । अत्रिपत्नी अनुसूया का सीता को प्रीतिपुरस्कार । सीता का अनुसूया जी को अपने स्वयंवर का समस्त वृत्तान्त सुनना ।

**एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग****११२६—११३२**

रात भर अत्रिआश्रम में रह कर, दूसरे दिन श्रीरामादि का मुनि से विदा माँग, दण्डकवन में प्रवेश करना ।

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध की विषय-पूची समाप्त हुई ।

॥ श्रीः ॥

## श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातन धर्म के अन्तर्गत जिन वैदिक सम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं ]

### श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

— — —

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।  
 आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥  
 वाल्मीकेर्मुनिर्हिंस्रश्च कवितावनचारिणः ।  
 शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥  
 यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।  
 अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥  
 गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।  
 रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥  
 अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।  
 कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥  
 मनोजव मारुततुल्यवेगं  
 जितेन्द्रिय बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।  
 वातात्मजं वानरयूथमुख्यं  
 श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥



( २ )

उल्लङ्घय सिन्धोः सलिलं सलीलं

यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैव ददाह लङ्कां

नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं

काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं

भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र तत्र रघुनाथकीर्तनं

तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं

मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मज ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं

सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं

दशशिरशश्च बधं निशम्यध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं

सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।

आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्ष

रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे

मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

( ३ )

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनमुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं  
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १३ ॥

—:०:—

### माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।  
असन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥  
लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।  
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुह्यतं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥  
वेदे रायायणे चैव पुराणे भारते तथा ।  
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥  
सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकर परम् ।  
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥  
सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।  
जानकोजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥  
अध्वनं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।  
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥  
भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी  
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।  
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा  
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥  
मिथ्या सिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।  
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥



चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखाण्डतैः ।

गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं राम गमेति मधुरं मधुराक्षरम् ।

आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेमुनिसहस्य कवितावनचारिणः ।

शृण्वन् रामकथानाद को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।

अतृप्तस्तं मुन वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराजसम् ।

रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।

कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।

वातात्मजं वानरयुथमुख्यं

श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं

यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैव ददाह लङ्कां

नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं

काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

( ५ )

पारिजाततरुमूलवासिनं

भावयामि पत्रमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं

तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं

मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।

लोकाभिरामं श्रोत्रासं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धयोगं

समभधुरोपनतार्थवाक्यवद्धम् ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं

दशशिरसश्च वधं निशाम्यध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले ह्रैमे महामण्डपे

मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं

व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं राम भजे श्यामलम् ॥ २२ ॥

चन्दे बन्धं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः

व्यक्त व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।

धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः

सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥ २३ ॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं

लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।



( ६ )

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युत्तमं

कौसल्यायां लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।

कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।

नानावीरसुवर्णानां निकषाशमायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।

उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।

यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णाका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।

विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।

तस्य निःसरते वाणी जह्नु कन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—: ० :—

## स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।

प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युरन्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयं मक्षमालां दधानः ।

हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुक्लं पुस्तकं चापरेण ।



( ७ )

भासा कुन्देन्दुशङ्करकटिकमणिनिभा भासमानासमाना  
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥ ३ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।  
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेमुनिसिंहस्य कवितावनचाग्रिणः ।  
शृ वनरामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।  
अतृप्तस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।  
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीर जानकीशोकनाशनम् ।  
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उत्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं  
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।  
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां  
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं  
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।  
पारिजाततरुमूलवासिनं  
भाषयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं  
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

( ८ )

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं

मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।

वातात्मजं वानरयूथमुख्यं

श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक् पिवत्यादरात्

वाल्मीकेर्वदनागविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।

जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं

संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥ १३ ॥

तदुपगतसमाससन्धयोग

सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।

स्थुवरचरितं मुनिप्रणीतं

दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।

पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।

काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे

मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्व मुनिभ्यः परं

व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १८ ॥

( ६ )

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः

शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाग्वादिकोणेषु च ।

सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्

मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१६॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय

देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।

नमोऽस्तुरुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो

नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—:०:—





# श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

अयोध्याकाण्डः

(उत्तरार्द्ध)

चतुःपञ्चाशः सर्गः

ते तु तस्मिन्महावृक्ष उपित्वा रजनीं शिवाम् ।  
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद्देशात्प्रतस्थिरे ॥१॥

इस प्रकार वे तीनों उस बड़े वटवृक्ष के नीचे रात बिता कर,  
प्रातःकाल विमल सूर्योदय होने पर, वहाँ से खाना हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते ।  
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥२॥

जहाँ पर श्रीगंगा और श्रीयमुना का संगम होता था, वहाँ अर्थात्  
उस देश की ओर, उस महावन में हो कर वे चले जाते थे ॥ २ ॥

तेऽभूमिभागान्विविधान्देशांश्चापि मनोरमान् ।  
अदृष्टपूर्वान्पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥३॥

वे यशस्वी दोनों भाई रास्ते में अनेक वनप्रदेशों और अनेक  
पहिले न देखे हुए और रमणीय देशों को देखते हुए आगे बढ़ते  
चले जाते थे ॥३॥

---

१ भूमिभागान्— वनप्रदेशान् । (गो०)



यथा क्षेमेण<sup>१</sup> गच्छन्स पश्यंश्च विविधान्द्रुमान् ।

निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥४॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ते में उठते बैठते तथा अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों की शोभा निरखते हुए, जब दिन थोड़ा रह गया; तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुद्गतम्\* ।

अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः ॥५॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रयाग तीर्थ को ओर जो धुआँ उठ रहा है, वह मानों भगवान् अग्निदेव की पताका फहरा रही है । इससे जान पड़ता है कि, भरद्वाज जी का आश्रम भी यहीं कहीं पास ही है ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं<sup>२</sup> गङ्गायमुनयोर्वयम् ।

तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिषट्पजः† ॥६॥

हम लोग गङ्गा यमुना के संगम के समीप निश्चय ही आ पहुँचे हैं, क्योंकि दोनों नदियों के टकर से उत्पन्न शब्द साफ सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥

दारुणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः ।

भरद्वाजाश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥७॥

यहाँ के वन में से लकड़ी इत्यादि काट कर बेचने वालों ने लकड़ियाँ काटी हैं । देखो भरद्वाज जी के आश्रम में ये नाना प्रकार के वृक्ष कटे हुए देख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

१ क्षेमेण—उपविश्योत्थायच शनैः स्वेच्छानुरोधेन सम्पश्यन् सम्पश्यन् । ( रा० ) २ सम्भेदं—संगम । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“धूम-मुद्गतम्” † पाठान्तरे—“वारिषट्पजः” ।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे ।

गङ्गायमुनयोः सन्धौ<sup>१</sup> प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥८॥

इस प्रकार आपस में बातचीत करते हुए दोनों धनुर्धारी भाई सूर्य के छिपते-छिपते रूगम पर स्थित भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः ।

गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥९॥

आश्रम में दो धनुर्द्वारों को आते देख, आश्रमवासी पशु पक्षी भयभीत हुए । इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त चल कर, भरद्वाज जी की ( कुटी के ) पास पहुँच गए ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेदर्शनकाङ्क्षिणौ ।

सीतयाऽनुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥१०॥

तदनन्तर सीता सहित दोनों वीर भरद्वाज जी के दर्शन करने की अभिलाषा से, कुटी से कुछ दूर रुक गए । ( रुकने का कारण भूषण टीकाकार ने यह बतलाया है कि सन्ध्या का समय था । अतः उस समय ऋषिप्रवर अग्निहोत्र कर रहे थे । कहीं उनके कार्य में विघ्न न पड़े, अतः कुछ देर वे ठहर गए, किन्तु जब अनुमति मिल गई तब ) ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम् ।

२ संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥११॥

---

१ सन्धौ—सङ्गमे वर्तमानं । २ संशितव्रतं—तीक्ष्णव्रतं । ( गो० )



फिर श्रीरामचन्द्र (आदि) आश्रम में गए । वहाँ पहुँच कर उन्होंने शिष्यों से घिरे उग्र व्रतधारी एवं तपद्वारा भूत, भविष्य वर्तमान का ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से सम्पन्न भरद्वाज जी को देखा ॥ ११ ॥

हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागं कृताञ्जलिः ।

रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥१२॥

महाभाग ऋषि को अग्निहोत्र करते हुए देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीतासहित हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १२ ॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः ।

पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ ॥१३॥

और यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपना परिचय दिया— हे भगवन् ! हम दोनों श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महाराज, दशरथ के पुत्र हैं ॥ १३ ॥

भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा ।

मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥१४॥

और यह कल्याणी जानकी मेरी स्त्री और राजा जनक की पुत्री है और यह अनिन्दिता जानकी मेरे साथ विजन तपोवन में जाने के लिए आई हैं ॥ १४ ॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।

अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥१५॥

पिता ने मुझे वनवास दिया है और सुमित्रा देवी के पुत्र तथा मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण दृढ़व्रत धारण किए हुए मेरे पीछे हो लिये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् ।

धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥१६॥

हे भगवन् ! हम लोग पिता के आदेशानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और वहाँ फलमूल खा कर, धर्माचरण करेंगे ॥१६॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

उपानयत<sup>१</sup> धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥१७॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने धीमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन कर, उनको मधुपर्क, अर्घ्य और चरण धोने को जल रखा ॥ १७ ॥

[ टिप्पणी श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार का विशेषण आदि कवि ने इसलिए दिया है कि, भरद्वाज ने उनको मधुपर्क दिया था । मधुपर्क देने का विधान स्मृत्यनुसार राजा को भी है । यथा—

गो मधुपर्काहो वेदाध्याप्याचार्य ऋत्विक् स्नातको राना वा धर्मयुक्तः इति ]

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान् ।

तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवान्वकल्पयत्\* ॥१८॥

नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल अन्न तथा रसीले पदार्थ उनके भोजन के लिए दिए और टिकने के लिए स्थान बतलाया । (रसीले पदार्थ से अभिप्राय शरबत से जान पड़ता है) ॥ १८ ॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः ।

राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥१९॥

१ उपानयत—रामसमीपं प्रापयत । ( शि० ) २ अन्नरसान्—रस प्रधानान्पदार्थविशेषानित्यर्थः । (गो०) \* पाठान्तरे—“चैवाभ्यकल्पयत् ।”



मृग, पक्षी और मुनियों के बीच में बैठे हुए महर्षि भरद्वाज ने श्रीरामचन्द्र जी का स्वागत किया और उनसे कुशल पूछी ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य च तामर्चासुपविष्टं स राघवम् ।

भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥२०॥

तदनन्तर, इस प्रकार महर्षि की पूजा, ग्रहण कर के, आसीन श्रीरामचन्द्र जी से, भरद्वाज जी ने ये धर्मयुक्त वचन कहे ॥ २० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम् ।

श्रुतं तत्र मया चेदं विवासनमकारणम् ॥२१॥

हे काकुत्स्थ ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ । मैंने सुना है कि, तुमको अकारण वनवास हुआ है ॥ २१ ॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।

पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम् ॥२२॥

अतः इन दोनों महानदियों के संगम पर, इस एकान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुखपूर्वक वास करें ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः ।

प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥२३॥

भरद्वाज के इन वचनों को सुन, सर्वहितैषी श्रीरामचन्द्र जी ने शुभ वचन कहे ॥ २३ ॥

[ टिप्पणी—“सर्व-हिते रतः “श्रीरामचन्द्र के लिए प्रयुक्त यह विशेषण ब लाता है कि श्री राम ने आश्रमवसी ऋषियों की राक्षसों के उपद्रव से रक्षा की थी । राक्षसों के उपद्रव कहते हैं ]

भगवन्निव आसन्नः पौरजानपदो जनः ।

१ सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥२४॥

१ सुदर्श—सुखेन द्रष्टुं शक्यं । ( गो० )

आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः ।

अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

हे भगवन् ! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा । अतः मुझे और सीता जी को देखने के लिए लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे । अतः मुझे यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता ॥ २४ ॥ २५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।

रमेत यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! अतः काँइ ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिए बतला दीजिए, जहाँ जानकी जी का मन लगे और ( यह ) सुखपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः ।

राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहकः मन्त्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन शुभ वचनों को सुन, महर्षि भरद्वाज उनसे यह अर्थबोधक वचन बोले ॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।

महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः ॥ २८ ॥

हे वत्स ! यहाँ स दस कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से सेवित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य है ॥ २८ ॥

[ टिप्पणी—प्रयाग से चित्रकूट का फासला अब अधिक है । इसका कारण यह है कि त्रेता के लोग कलियुगी लोगों से डील डौल में कहीं लंबे चौड़े होते थे, अतः उस समय के एक कोस का नाप उनके हाथों के नाप से बतलाया गया है । ]

१ अर्थग्राहक—अर्थबोधक । ( गो० )



गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्ष निपेवितः ।

चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः ॥ २६ ॥

उस पर्वत पर लंगूर, बंदर और रीछ घूमा फिरा करते हैं ।  
उस पर्वत का नाम चित्रकूट है और उसका शोभा गन्धमादन  
पर्वत की तरह है ॥ २६ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।

कल्याणानि१ समाधत्ते२ न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥

जब तक लोग चित्रकूट के शृङ्गों को देखते हैं, तब तक उनको  
पुण्य होता है और उनका मन पाप की ओर नहीं दौड़ता ।  
अथवा जो लोग चित्रकूट पर्वत के शृङ्गों को देख लेते हैं, वे  
पुण्याचरण करने लगते हैं, उनका मन कभी पाप कर्मों की ओर  
नहीं जाता—फिर जो लोग वहाँ रहते हैं, उनके पुण्य का ही  
क्या कहना है ! ॥ ३० ॥

ऋषयस्तत्र बहवौ विहृत्य शरदां शतम् ।

तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

वहाँ बहुत से ऋषि लोग सैकड़ों वर्षों तक तप कर (बृद्धावस्था  
को प्राप्त हो कर भी, तपःप्रभाव से शरीर से दृष्ट पुष्ट बन रह कर)  
खेलते कूदते सशरीर स्वर्ग चले गए हैं ॥ ३१ ॥

प्रविविक्तमहं मन्ये त वासं भवतः सुखम् ।

इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥

१. कल्याणानि—पुण्यकर्माणि । (गो०) २ समाधत्ते—प्राप्नोति (गो०)

३ कपालशिरसासह—सशरीराः स्वर्गगता इत्यर्थः । (गो०)



वह स्थान बिल्कुल एकान्त है । मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम से रहेंगे । अथवा हे राम ! वनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम ही में रहिए ॥ ३२ ॥

[टिप्पणी—भरद्वाज जी के कहने पर श्री राम जी प्रथम ही भरद्वाजाश्रम में अपने वास करने के अनौचित्य का कारण बतला चुके थे अब पुनः भरद्वाज का उसी बात का दुहराना केवल शिष्टाचार है ।]

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् ।

सभार्य सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह धर्मवित् ॥ ३३ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने सीता और लक्ष्मण सहित आरामचन्द्र जी का, अतिथियाग्य आतिथ्य (पहुनाई) कर, उनको अपने वश में कर लिया था ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः ।

प्रपन्ना<sup>२</sup> रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रयागक्षेत्र में महर्षि भरद्वाज जी के साथ समागम होने पर अनेक प्रकार की कथा वार्त्ता होते, पुण्यमयी रात्रि हो गई ॥ ३४ ॥

३सीतातृतीयः काकुत्स्थ परिश्रान्तः सुखोचितः ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम् ॥ ३५ ॥

सुख से रहने योग्य आरामचन्द्र लक्ष्मण और तीसरी सीता अर्थात् तानों ने मार्ग चलने की थकावट से कातर हो रमणीक भरद्वाज जी के आश्रम में सुखपूर्वक वह रात बिताई ॥ ३५ ॥

१ सर्वकामैः प्रतिजग्राह—अतिथियोग्यस्कारैर्वशीकृतवान् । प्रतिजग्राह—उपचार । (गो०) २ प्रपन्ना--प्राप्ता । (गो०) ३ सीतातृतीयायस्यसः ।

( शि० )

प्रभातायां रजन्यां तु भरद्वाजमुपागमत् ।

उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततैजसम् ॥ ३६ ॥

जब रात व्यतीत हुई और सबेरा हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान महर्षि भरद्वाज के पास गए और यह बोले ॥ ३६ ॥

शर्वर्गं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे ।

उषिताः स्मेहवसतिमनुजानातु<sup>१</sup> नो भवान् ॥ ३७ ॥

हे सत्यशील भगवन् ! आज हमने आपके इस आश्रम में बस कर, रात (बड़े आराम से) बिताई। अब आप कृपा कर हमें उस स्थान पर, जिसे आपने बतलाया है, जाने की आज्ञा दीजिए ॥ ३७ ॥

रात्र्या तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।

मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥

उस रात के बात जाने पर भरद्वाज जी ने यह कहा—अब आप मधु, मूल, फलयुक्त चित्रकूट पर्वत पर जाइए ॥ ३८ ॥

वासमौषयिकं मन्ये तव राम महाबल ।

नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥

हे महा-ली राम ! मेरी समझ में चित्रकूट ही आपके रहने योग्य ठीक स्थान है। क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, वहाँ किन्नर और नाग बसते हैं ॥ ३९ ॥

[ टिप्पणी—श्री राम को भरद्वाज जी द्वारा “महाबली” कहे जाने का अभिप्राय यह है कि चित्रकूट राक्षसों के उपद्रव से खाली नहीं था—अतः वहाँ महाबली ही रह सकता है ]

१ अनुजानातु—आज्ञापयतु । ( गो० )



मयूनादाभिरुतो गजगजनिवेतितः ।

गम्यतां भवता शैलश्चिक्कटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

वहाँ नार वाता करत हैं और बड़े बड़े हाथी घूमा करते हैं,  
अतः आप उस प्रसिद्ध चिक्कट पर्वत पर जाइए ॥ ४० ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।

तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चाभितः ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तेऽभिस्तानि द्रक्ष्यसि राघव ।

वह स्थान अति पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार के  
कन्दमूलों और फलों से परिपूर्ण है। वहाँ कुज्रों और मृगों के  
झुण्ड घूमा करते हैं। उन्हें तुम वहाँ देखोगे ॥ ४१ ॥

सरित्प्रसवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्दारान् ।

चरतः सातया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तत्र ॥ ४२ ॥

वहाँ की नदियों, झरनों, पर्वतशिखरों और कन्दराओं को  
देखते हुए, विचरण करने पर, तुम्हारा और साता का मन बहुत  
प्रसन्न होगा ॥ ४२ ॥

प्रहृष्ट होयष्टिः ककोकिलस्रनैर्विनादितं तं वसुधाधरं शिवम् ।

मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जैः सुरम्यमासाद्य समावसाश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उस पवित्र पर्वत पर टिटहरीयों और कोयतों प्रसन्न हो  
बोला करती हैं। उस पर अनेक मृग और बहुत से मत्त गज  
घूमा करते हैं। इस प्रकार के उस बड़े रमणीक पर्वत पर आप  
जाकर वास कीजिए ॥ ४३ ॥

अथाध्याकाण्ड का चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

१ कोयष्टिकाः—टिट्टिकाः ( गो० )



## पञ्चपञ्चाशः सर्गः

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिन्दमौ ।

महर्षि मभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम और लक्ष्मण प्रयाग में एक रात रह कर, प्रातःकाल होते ही मुनि को प्रणाम कर, चित्रकूट पर्वत की ओर प स्थानित हुए ॥ १ ॥

तेषां चैव स्वस्त्ययनं महर्षिः स चकार ह ।

प्रस्थितांश्चैव तान् प्रेक्ष्य पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥ २ ॥

उनको वहाँ से यात्रा करते देख, महर्षि भरद्वाज ने उसी प्रकार उनका स्वस्त्यवाचन किया जिस प्रकार पिता अपने निज पुत्र का करता हो ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।

भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महर्षि भरद्वाज सत्यपराक्रमी श्रीराम-चन्द्रजी से कहने लगे ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ ।

कालिन्दीमनुगच्छेतां<sup>१</sup> नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्<sup>२</sup> ॥ ४ ॥

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस गंगा यमुना के संगम से, पश्चिम की ओर यमुना के किनारे तुम जाओ ॥ ४ ॥

<sup>१</sup> अनुगच्छेतां—अनुसृत्यगच्छता । (गो०) <sup>२</sup> पश्चान्मुखाश्रिताम्—पश्चिमाभिमुखोभूत्वागच्छेतां । (गो०)

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतसमापगाम् ।

तस्यास्तीर्थं<sup>१</sup> प्रचरितं<sup>२</sup> पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥

तुम लोग शीघ्र बहने वाली गंगा में मिलने वाली यमुना के किनारे किनारे चल कर, एक घाट देखोगे, जो बहुत पुराना होने से टूटा फूटा है ॥ ५ ॥

तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं<sup>३</sup> नदीम् ।

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥

वहाँ पर घरनई बना कर तुम सूर्यपुत्रा यमुना नदी को पार करना । तदनन्तर उस पार जाने पर बड़ा बरगद का वृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे-हरे हैं ॥ ६ ॥

विवृद्धं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।

तस्मै सीताऽञ्जलिं कृत्वा ४ प्रयुञ्जीताशिषः<sup>५</sup> शिवाः ॥ ७ ॥

बड़ बड़ वृक्ष अनेक वृक्षों के बीच में हैं, उसके पत्तों का रंग श्यामता लिये हुए हरा है और सिद्धों द्वारा वह सेवित है । अर्थात् वहाँ सिद्ध लोग रहते हैं; वहाँ पहुँच कर, जानकी हाथ जोड़ कर, अपने शुभ मनोरथों के सफल होने के लिए प्रार्थना करे ॥ ७ ॥

समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा ।

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥

या तो उसपेड़ के नीचे कुछ देर तक ठहर कर विश्राम कर लेना अथवा आगे को चले जाना । वहाँ से एक कोस आगे जाने पर नीलवन देख पड़ेगा ॥ ८ ॥

१ तीर्थ—अवतरणदेश । (गो०) २ प्रचरितं—गमनागमनाभ्यामति क्रुरणमित्यर्थः । (गो०) ३ आंशुमती—अंशुमतः सूर्यस्यापत्यभूता । (गो०)) ४ प्रयुञ्जीत—प्रार्थयेत् । (गो०) ५ आशिषः—मनोरथान् । (गो०)



पलाशवदगीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ।

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुबहुशो मया ॥ ९ ॥

उस वन में साल, जामुन और बेरा के अनेक वृक्ष हैं। वही मार्ग चित्रकूट को जाता है। मैं उस मार्ग से कितनी ही बार चित्रकूट गया हूँ ॥ ९ ॥

रम्यो मार्दवयुक्तश्च वनदावैर्विवर्जितः ।

इति पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यवर्तत ॥ १० ॥

यह मार्ग रमणीक, कोमल ( अर्थात् काँटों कंकड़ों से रहित अथवा रेतीला होने से कोमल है। उस वन में दावानल का भी भय नहीं। इस प्रकार ( कह और कुछ दूर साथ जाकर ) रास्ता बतला महर्षि भरद्वाज लौट आए ॥ १० ॥

अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ।

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ११ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने भी प्रणाम कर उनको विदा किया। जब भरद्वाज जी लौट गए, तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ११ ॥

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ।

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वास्तव में हम लोग बड़े पुरुषवान हैं, तभी तो महर्षि भरद्वाज जी हमारे ऊपर इतनी कृपा करते हैं। दोनों मनस्वी पुरुष संह राजकुमार इस प्रकार बातचीत करते ॥ १२ ॥

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ।

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतोवहां नदीम् ॥ १३ ॥

और सीता को आगे कर, यमुना की ओर चले और शीघ्र बहने वाली यमुना के पास पाँचे ॥ १३ ॥

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः ।

तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहास्रवम् ॥ १४ ॥

वे सब उसको पार करने के लिए चिन्ता करने लगे । उन दोनों राजकुमारों ने बहुत सी लकड़ियाँ एकत्र कर, एक बड़ा वेड़ा बनाया ॥ १४ ॥

शुष्कैर्वृक्षैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ।

ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥

चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ।

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥ १६ ॥

(वह वेड़ा किस प्रकार बनाया गया—यह बतलाते हैं ।) उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सूखे बाँसों को पास-पास बाँध कर वेड़ा बनाया । फिर बाँसों की मन्धियाँ भरने को संधों में खस भरा । तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर वेत तथा जामुन की डालियाँ काट कर और बिछा कर सीता जी के आराम से बैठने के लिए आसन बना दिया । तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्य सौन्दर्यवती प्यारी सीता को, ॥ १५ ॥ १६ ॥

ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत स्रवम् ।

पार्श्वे च तत्र वैदेह्या वसने भूषणानि च ॥ १७ ॥

१ अचिन्त्यां—अचिन्त्यसौन्दर्या । ( गो० )

वा० रा०—३७



जो ( पति के हाथ का सहारा पाने से ) कुछ कुछ लज्जायुत थीं, हाथ पकड़ कर उस बेड़े पर बिठाया । और उनके पास ही उनके गहने कपड़े रख दिए ॥ १७ ॥

सर्वे कठिनकाजं<sup>१</sup> च रामश्चक्रे सहायधैः ।

आरोप्य प्रथमं सीतां सङ्घाटं परिगृह्य तौ ॥ १८ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने काठ के बेट की कुदाली और मृगचर्म से मढ़ा हुआ पिटारा तथा अपने समस्त आयुध ( हथियार ) रखे । प्रथम सीता को उस पर बिठा दोनों भाइयों ने बेड़ा पकड़ कर चलाया ॥ १८ ॥

[ नोट—इससे स्पष्ट है कि, उस बेड़े पर केवल सीता जो बैठी थीं और साथ का सारा सामान रखा था । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस बेड़े को दोनों ओर से पकड़कर उसे जल पर तैराते तथा स्वयं तैरते हुए उस पार हुए थे । [ आगे के श्लोक में 'प्रतेरतुर्युक्तौ' से यह बात समर्थित होती है । ]

ततः प्रतेरतुर्युक्तौ वीरौ दशरथात्मजौ ।

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥ १९ ॥

तदनन्तर दोनों वीर दशरथनन्दनों ने उस बेड़े में युक्त अर्थात् लग कर यमुना पार की । जब बेड़ा बीचोबीच धार में पहुँचा, तब सीता जी ने यमुना जी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥

१ कठिनकाजं—कठिनकं कन्दमूलखननसाधनं आयसाग्रदारु ।  
आजं—अजचर्नपिन्द्वं पिटकं । ( गो० )

स्वस्ति देवि तगामि त्वां १ पारयेत् मे पतिव्रतम् २ ।

यच्चे त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥ २० ॥

हे देवि ! हम लोग आपक पार जा रहे हैं । यदि मेरे पति का व्रत अर्थात् ( वनवास का सङ्कल्प ) निर्विघ्न पूरा हो गया, तो आपकी प्रसन्नता के लिए मैं एक हजार गौएँ दान कर तथा सौ घड़े सुरा के नैवेद्य से आपका पूजन करूँगी । [ टिप्पणी—यह पूजन विधान एक क्षत्रियाणी के योग्य ही है ] ॥ २० ॥

स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिच्चाकुपालिताम् ।

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

सीता जो यमुना से हाथ जोड़ कर यह वर मांगती हुई कि, श्रीरामचन्द्रजी सकुशल इक्षव कुपालित अयोध्या में लौट आवें ॥ २१ ॥

तीरमेवाभि सम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ।

ततः स्रवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥

शीघ्रगामिनी और तरङ्गवती सूर्यपुत्री यमुना को पार कर, उसके दक्षिण तट पर सीता जो पहुँची ॥ २२ ॥

तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः सन्तेरुर्यमुनां नदीम् ।

ते तीर्णाः स्रवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ३ ॥ २३ ॥

वे यमुना को पार कर और उस बेड़े को वहीं छोड़ कर, यमुना के तीरवर्ती अनेक वृक्षों से युक्त वन में हो कर चले ॥ २३ ॥

श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ।

न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

१ पारयेत्—समापयेत् । ( गो० ) २ मे पतिः व्रतं—वनवाससङ्कल्पं । ( गो० ) ३ यमुनावनात् 'यमुनातीरवनात्' । ( गो० )



वे श्यामवर्ण और हस्तिपत्तों से युक्त, शीतल छाया वाले वरुण वृत् के नीचे पहुँचे। वटवृत् के पास पहुँच, जानकी जी कहने लगी ॥ २४ ॥

नमस्तेऽस्तु महावृत् पारयेन्मे पतिव्रतम् ।

कौसल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥ २५ ॥

हे महावृत् ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप मेरे पति का व्रत पूरा कीजिए, जिससे मैं अपनी यशस्विनी (सास) कौसल्या और सुमित्रा के फिर दर्शन कर सकूँ ॥ २५ ॥

इति सीताऽञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छत्<sup>१</sup> बनस्पतिम् ।

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ॥ २६ ॥

दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज<sup>२</sup> ॥ २७ ॥

यह प्रार्थना कर और हाथ जोड़े हुए सीता जी ने वट वृत् की परिक्रमा की। तब अनिन्दिता, प्राणप्यारी एवं अनुकूल-वर्तिनी जानकी को इस प्रकार वर माँगते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, हे भरत के छोटे भाई ! तुम सीता को अपने साथ ले आगे चलो ॥ २६ ॥ २७ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांवर ।

यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम ! मैं शस्त्र लिए पछे पीछे आता हूँ। सीता जी जिस फल और जिम फूल को पसंद करें या चाहें ॥ २८ ॥

१ पर्यगच्छत्—प्रदक्षिणं चकार । ( गो० ) २ भरताग्रजेति बहु-  
व्रीहिः । ( गो० )

तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ।

गच्छतोऽतु तयोर्मध्ये\* बभौ च जनकात्मजा ॥२८॥

वह फूल और फल जानकी को दे दिया करना, जिससे इनका मन बहला रहे । जानकी जी उन दोनों के बीच में वैसे ही चलने लगीं ॥ २८ ॥

मातङ्गयोर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव ।

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥ ३० ॥

अदृष्टपूर्वां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साऽवला ।

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्कटान् ॥ ३१ ॥

सीतावचनसन्निध्य आनयामास लक्ष्मणः ।

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।

रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३२ ॥

जैसे हाथियों के बीच हाथिनी चले । सीता प्रत्येक वृक्ष, गुल्म और पुष्पित लता के बारे में जिसे सीता जी ने कभी देखा नहीं था, श्रीरामचन्द्र जी से पूछती जाती थीं । वहाँ पर तरह तरह के रमणीय वृक्ष और फूल लगे थे, जिनमें से जिसे सीता जी पसंद करतीं, लक्ष्मण जी उसे ही ला दिया करते थे । उस नदी को; जिसका बालुकामय तट और निमल जली था तथा जिसके तट पर हंस, सारस मधुर बोलियाँ बोल रहे थे, देख कर, सीता जी प्रसन्न होती जाती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

---

१ मेघान्—शुभीन् भक्षयानिति यावत् । ( गो० ) २ चेरतुः भक्षितवन्तौ । चरगतिभक्षणयोः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“बभूव ।”



क्रोशमात्रं ततो गत्वा आतरौ रामलक्ष्मणौ ।

बहून् मेध्यान्<sup>१</sup> मृगान् हत्वा चेतु<sup>२</sup> र्यमुनावने ॥३३॥

दोनों भेड़ियां ने एक कोस चलकर तथा यमुना तारती वन में अनेक पवित्र मृगों को मारकर, खाया ॥ ३३ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगना<sup>३</sup>दिते

शुभे वने वानरवारणायुते ।

२समं<sup>४</sup> नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं<sup>५</sup>

निवासमाजगमुर्दीनदर्शनाः ॥३४॥

इति पञ्चमोऽशः सर्गः ॥

इस प्रकार दोनों वीर भाइयों ने सीधे-सहित उस मनोहर वन में, जहाँ सोरों के झुंड के झुंड बोल रहे थे तथा हाथी और बंदर घूम रहे थे; विहार कर, नदी तट पर एक सुन्दर समथर स्थान पर, जिसे साता जी ने भी पसन्द किया, निभय हो, वास किया ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का पंचमन <sup>१</sup> सर्ग समाप्त हुआ ।

## षट्पञ्चाशः सर्गः

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तं<sup>१</sup> मनन्तरम्<sup>२</sup> ।

प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥

१ पूगः—समूहः ( गो० ) २ समं—अनिम्नोन्नतं । ( गो० ) ३ नदीवप्रं—नदीतीर । ( गो० ) ४ सम्मतं—निवासं सीताभिमतं वासस्थानं । ( गो० ) ५ अवसुप्तं—ईषत् सुप्तं । ( गो० ) ६ अनन्तरम्—स्वप्रबोधानन्तरम् । ( गो० )

जब रात बीत गई तब श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं जाग कर, ओंघते हुए लक्ष्मण को धीरे-धीरे चैतन्य किया ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां<sup>१</sup> वल्गु<sup>२</sup> व्याहरतां स्वनम् ।

सम्प्रतिष्ठम्हे कालः प्रस्थानस्य परन्तप ॥ २ ॥

( श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ) हे लक्ष्मण ! देखो तो ये वन के तोते, कायल, मैना आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं। हे परन्तप ! मार्ग चलने के लिए यही समय ( अच्छा ) है। अतः अब हमको ग्रहों से चल देना चाहिए ॥ २ ॥

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः ।

जहौ निद्रां च तन्द्रीं च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥३॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने जागने के समय लक्ष्मण जी को जगाया, तब वे, निद्रजनित आलस्य को त्याग और रास्ता चलने की थकावट को दूर कर, उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा<sup>३</sup> नद्याः<sup>४</sup> शिवं जलम् ।

पन्थान<sup>५</sup> मृषिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥४॥

तदनन्तर सब जनों ने उठकर पवित्र यमुना जल में स्नानादि क्रिया पूरी की। फिर उन सब ने महर्षि भरद्वाज के बतलाए हुए पलाशवन में हो कर, चित्रकूट का रास्ता पकड़ा ॥ ४ ॥

[ टिप्पणी—किंवदन्ता है कि लक्ष्मण चौदह वर्षों तक सोए ही नहीं थे, तभी वे इद्रजीत मेघनाद को मारने में समर्थ हुए थे।

१ वन्याना—शुकपिकशादिकादीनां । ( गो० ) २ वल्गु—सुन्दरं ।

( गो० ) ३ स्पृष्ट्व—स्पृष्टेत्युपलक्षणं प्रातःकालिकस्नानादिकृत्यानां ।

( गो० ) ४ नद्याः—कालिन्द्याः । ( गो० ) ५ पन्थानम्—पलाश-वनरूपं । ( गो० )



इस श्लोक में लक्ष्मण के लिए 'अवसृप्त' का प्रयोग देख, किंव-  
दन्ती का खण्डन हो जाता है ।

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह ।

सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी के साथ जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कमल के  
समान नेत्र वाली सीता जी से यह वचन बोले ॥ ५ ॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् ।

स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः<sup>१</sup> शिशिरात्यये ॥ ६ ॥

हे वैदेही ! वसन्त के आगमन से देखो पलास कैना फूला  
है । पलास के लाल फूलों को देख ऐसा जान पड़ता है, मानों  
पलाश के वृक्षों में आग लग गई है । फूलों से सब वृक्षों की ऐसी  
शोभा हो रही है, मानों सब वृक्ष पुष्पों की मालाएँ धारण किए  
हुए हों ॥ ६ ॥

पश्य भल्लातकान् फुल्लान्नरैरनुपसेवितान् ।

फलपत्रैरवनतान्नूनं शक्यामि जीवितुम् ॥ ७ ॥

देखो, भिलावे के वृक्ष कैसे फूले हैं । अगम्य होने के कारण  
मनुष्य की उनमें गुजर नहीं । मैं तो फल और पत्ते खा कर  
गुजारा भी कर सकता हूँ अथवा जीवित रह सकता हूँ ॥ ७ ॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण ।

मधूनि<sup>३</sup> मधुकारीभिः सम्भृतानि<sup>४</sup> नगे<sup>५</sup> नगे ॥ ८ ॥

१ मालिनः—मालावत इवस्थितान् (गो०) । २ द्रोणं—आढकद्वयं ।

( गो० ) ३ मधूनिकुर्वन्तीति मधुकार्यः कर्मण्यण् ङीप् । ( गो० ) ४

संभृतानि—निर्मितानि । (गो०) ५ नगे नगे—वृक्षे वृक्षे । (गो०)

हे लक्ष्मण ! देखो हरेक वृक्ष में शहद की मक्खियों के लगाए शहद से भरे छत्ते लटक रहे हैं । इनमें ३२ सेर से कम शहद न निकलेगा ॥ ८ ॥

एष क्रोशति नत्पूहस्तं<sup>१</sup> शिखी प्रतिकूजति ।

रमणीये वनोद्देशे<sup>२</sup> पुष्पसंस्त<sup>३</sup> रसङ्कटे ॥ ९ ॥

देखो यह जलकौवा कैसा बोल रहा है । इसका बोलना सुन मोर भी शोर करता है । इस रमणीय वनप्रदेश की भूमि फूलों से ढक गई है ॥ ९ ॥

मातङ्ग<sup>४</sup> यूथानुसृतं पत्तिसङ्गानुनादितम् ।

चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं<sup>५</sup> गिरिम् ॥ १० ॥

देखो यह चित्रकूट पर्वत का उच्चशिखर देख पड़ता है, जहाँ पर हाथियों के झुंड घूम रहे हैं और पत्तियों के झुंड बोल रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते ।

पुण्ये रस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

हम लोग इस चित्रकूट के वन में ( कहीं ) समतल भूमि, सुन्दर वृक्षों का झुरमुट तथा साफ सुथरा रमणीक स्थल देख, रमैंगे ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया ।

रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

१ नत्पूहः—दात्पूहः । ( गो० ) २ वनोद्देशे—वनप्रदेशे । ( गो० )  
३ पुष्पसंस्तरसङ्कटे—पुष्पमयास्तरणेननिविडे । ( गो० ) ४ मातङ्ग-  
यूथानुसृतं—गजकुलैः व्याप्तं । ( गो० ) ५ प्रवृद्धशिखरं—उन्नत-  
शिखरं । ( गो० )



इस प्रकार सीता को साथ लिए हुए दोनों भाई बातचीत करते पैदल चल कर, मनोरम और रम्य चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे ॥ १२ ॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् ।

बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नं सरसोदकम् १ ॥ १३ ॥

उस पर्वत पर अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे, बहुत से फल व मूल थे तथा अनेक स्वादिष्ट जल के कुण्ड थे ॥ १३ ॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।

बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः २ प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—हे सौम्य ! यह पर्वत कैसा मनोहर है । यह अनेक प्रकार के वृक्ष, लता और बहुत से फलों तथा मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीय देख पड़ता है । यहाँ बड़ी सरलता से हम लोगों का निर्वाह हो जायगा ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिन्शिलोच्चये ३ ।

अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥ १५ ॥

इस पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं । अतएव यही हमारे रहने योग्य है और हम यहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

इति ४ सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

अभिगम्याश्रमं ५ सर्वे वाल्मीकिमभिवादन्य ॥ १६ ॥

१ सरसोदक—स्वादूदकम् । (गो०) २ स्वाजीवः—शोभना जी विका यस्मिन् । (गो०) ३ शिलोच्चये—पर्वते । (गो०) ४ इति—इतिनिश्चित्य । (गो०) ५ आश्रमं—वाल्मीकियं । (गो०)

इस प्रकार निश्चय कर, श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता दोनों जन ) व वाल्मीकि जी के आश्रम में गए और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १६ ॥

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् ।

आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च ॥ १७ ॥

तब धर्मात्मा महर्षि वाल्मीकि ने इनको देख और प्रसन्न हो, इनका सत्कार किया और बैठने को आसन दे और यह कह कर कि, पवारिए सात किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।

सन्निवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये<sup>१</sup> प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि वाल्मीकि जी अपना, लक्ष्मण का तथा सीता का परिचय दे और वनवासादि का कारण बतला लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च ।

कुरुष्वान्यथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! अच्छी और मजबूत लकड़ियाँ एकत्र कर कुटी बनाओ । क्योंकि हे सौम्य ! यहीं बसने की मेरी इच्छा है ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान् ।

आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः ॥ २० ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी छोटी डालें काट कर लाए और उनसे पर्णकुटी बना दी ॥ २० ॥

१ यथान्यायं—यथाक्रमम् । (गो०) २ आत्मानं ऋषये सन्निवेद्य—  
पुत्रोह अयं मदभ्राता इत्यादि । (गो०)



तां निष्ठितां<sup>१</sup> बद्धकटां<sup>२</sup> दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।

शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं<sup>३</sup> वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उस अचल और दृढ़ से बंद होने वाली तथा देखने में भी सुन्दर कुटी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सेवाकाय में निरत लक्ष्मण जी से कहा ॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां<sup>४</sup> यक्ष्यामहे वयम् ।

कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरवासिभिः<sup>५</sup> ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! हिरन का मांस ले आओ, जिससे हम दोनों पर्णशालाविष्ठात्री देवता की पूजा करें। क्योंकि यदि बहुत दिनों ( किसी नवीन बने हुए घर में ) रहना चाहे, तो उसे वास्तु-शान्ति ( गृहप्रवेश कर्म ) करनी चाहिए ॥ २२ ॥

[ ब्रह्माण्डपुराण में वास्तुशान्ति की फलस्तुति के सम्बन्ध में यह एक श्लोक दिआ है :—

“नचव्याधिभयं तस्य न च बन्धुजनक्षयः

जीवेद्वर्षशतं स्वर्गकल्पमेवं वसेन्नरः ॥”

अर्थात् जो नवीन गृह में वास्तुशान्ति करके रहता है, उसको न तो किसी प्रकार की व्याधि का भय होता है और न उसके बन्धुवान्धवों का वंशलोप होता है। उस घर का मालिक बहुत दिनों तक इस लोक में जीवित रह कर मरने पर एक कल्प भर स्वर्ग में रहता है । ]

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण ।

कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिधर्म<sup>६</sup> मनुस्मर<sup>६</sup> ॥ २३ ॥

१ निष्ठितां—निश्चलां । ( गो० ) २ बद्धकटां—बद्धवाह्यावरणां वा । ( गो० ) ३ एकाग्रलक्ष्मणं । ( रा० ) ४ शालां—शालाविष्ठात्रीः तत्तद्दिग्वसिनीः देवताः । ( गो० ) ५ धर्म—तदनुकुलधर्मशास्त्रं । ( गो० ) ६ अनुस्मर—अवधेहि । ( गो० ) ७ पाठान्तरे—“चिरजीविभिः ” ।

हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र एक काला हिरन मारकर ले आओ ।  
क्योंकि भली भाँति सावधानतापूर्वक इस विषय की धर्मशास्त्र  
द्वारा निर्णीत विधि को, यथारिति करना उचित है ॥ २३ ॥

आतुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

चकार स यथोक्तं च तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जी भाई की आज्ञा के अनुसार एक  
काला मृग मारकर ले आए । फिर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानु-  
सारे कार्य कर चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी ने पुनः उनसे कहा ॥ २४ ॥

ऐशेयं १ श्रपयस्वैतच्छालां यद्यामहे वयम् ।

त्वर सौम्य मुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च २ दिवसोऽप्ययम् ॥ २५ ॥

अच्छा अब इस मांस को राँधो, जिससे हम हवन करें । हे  
सौम्य ! शीघ्रता करो । क्योंकि यह मुहूर्त भी स्थिर है और  
दिन भी अच्छा है ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् ।

अथ विक्षेप ३ सौमित्रिः समिद्धे ४ जातवेदसि ५ ॥ २६ ॥

तब प्रतापी लक्ष्मण ने मारे हुए यज्ञोप काले मृग को अच्छी  
तरह जलती हुई आग में डाल कर भूना ॥ २६ ॥

तं तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् ।

लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

और जब वह भुन गया और उसका रुविर जल गया, तब  
लक्ष्मण जी ने पुरुषासह श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २७ ॥

---

१ श्रपयस्व---पच । ( गो० ) २ ध्रुवः---स्थिरइत्यर्थः । ( गो० ) ३  
चिक्षेप---पपाच । ( गो० ) ४ समिद्धे---सम्यग्दीप्ते । ( गो० ) ५  
जातवेदसि---अग्नौ । ( गो० )



अयं कृष्णः समाप्ताङ्गः श्रुतः कृष्णमृगो यथा ।

देवतां देवसङ्काश यजस्व कुशलो<sup>१</sup> ह्यसि ॥ २८ ॥

हे देवतुल्य ! मैंने इस सम्पूर्ण अंगोंयुक्त कृष्ण मृग को राँध कर तैयार कर दिया । आप इस बर्तन को करने के अधिकारी हैं, अतः वास्तुदेवता की प्रसन्नता के लिए यज्ञ कीजिए ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्छप्यकीविदः ।

संग्रहेणा<sup>२</sup> करोत्सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान्<sup>३</sup> ॥ २९ ॥

तब अमित तेजधारी, गुणवान एवं जप करने में चतुर श्री-रामचन्द्र जी ने विधिपूर्वक स्नान किए और संक्षेप से वास्तुयज्ञ समाप्त करने के लिए, समाप्ति के समस्त मन्त्रों को पढ़ा ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान्<sup>४</sup> सर्वान्विवेश<sup>५</sup> सदनं शुचि ।

बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

वास्तु देवताओं का पूजन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस पवित्र घर में प्रवेश किया । उस समय अपरिमित तेजसम्पन्न श्रीराम जी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

वैश्वदेववलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।

श्वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि<sup>६</sup> प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

१ कुशलोसि---समर्थोऽसि । ( गो० ) २ संग्रहेण---संक्षेपेण । ३ सत्रावसानिकान् सत्रं वास्तुयागः यैर्मन्त्रैरवसीयतेपरिममाप्यतेतेसत्रावसानाः सत्रावसाना एव सत्रावसानिकाः । ( गो० ) ४ देवगणान्---वास्तुदेवताः । ( गो० ) ५ वास्तुसंशमनीयानि---गृहारिष्टशामकानि । ( गो० ) ६ मङ्गलानि---मंगलकराणि-पुण्याहवाचन शनिजपादीनि । ( गो० )  
\* पाठान्तरे---“सर्वान्विवेशावसथंशुचिः ।”

अनन्तर उन्होंने वैश्वदेव के लिए रुद्र और विष्णु के निमित्त बलिदान किया। फिर उन्होंने गृह के अरिष्टादि हर करने के लिए, पुण्याहवाचन, शान्ति, मंत्र जापादि किए ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि ।

पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

फिर विहित सख्यक मंत्र जप कर तथा यथाविधि फिर नदी में स्नान कर, पाप की शान्ति के लिए उत्तम बलिदान किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायः तनानि च ।

आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

फिर आठों दिशाओं में बलिहरणार्थ, वेदियाँ और गन्धर्वों के वासस्थानों को तथा विष्णु आदि देवताओं के वासस्थानों को आश्रम के अनुरूप स्थापना किया ॥ ३३ ॥

वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पक्कैर्मसैर्यथाविधि ।

अद्भिर्जपैश्च वेदोक्तैर्दमैश्च सप्तमित्कुशैः ॥ ३४ ॥

तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया ।

तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ ॥ ३५ ॥

फिर यथाविधि फूलमालाओं, फूलों, मूलों और रंवे हुए माँस से तथा कुश की पवित्रियाँ धारण कर, कुश मिले हुए जल से, वैदिक मंत्रों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी ने भूतों को तृप्त कर, सीता सहित उस मनोहर और शुभलक्षण वाली (अर्थात् हवा

---

१ चैत्यानि—गन्धर्वाद्यावासस्थानानि । ( गो० ) २ आयतनानि—विष्णवाद्यावास स्थलानि । ( गो० )



रोशनी जाने आने के लिए पर्याप्त साधनों से युक्त ) शाला में प्रवेश करने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां

यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम् ।

वासाय सर्वे त्रिविशुः समेताः

सभां यथा देवगणाः सुधार्मा ॥ ३६ ॥

जिस प्रकार देवतागण सुधर्मा नामी सभा में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ( श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीता ) तीनों जनों ने एक साथ, वृक्षों के पत्तों से छाई हुई, उचित स्थान में प्रतिष्ठित मनोहर एवं वायुरहित पर्णशाला में रहने के लिए, उसमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनेकनानामृगपक्षिङ्गुले

विचित्रपत्रस्तबकैर्द्रुमैर्युते ।

वनोत्तमे व्यालः मृगानुनादिते

तदा विजहुः सुसुखं जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

अनेक पशु पक्षियों से पूर्ण, तरह तरह के पत्रों पुष्पों से शोभित वृक्षों से युक्त, उस उत्तम वन में, जिसमें हाथी और अन्य जङ्गली जानवर दोला करते थे, जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं

नदीं च तां<sup>२</sup> माल्यवतीं सुतीर्थाम्<sup>३</sup> ।

३ व्यालः—सर्पः गजा वा । (गो०) १ तां—प्रसिद्धां । (गो०)

२ सुतीर्थाम्—शोभनजलावतरणप्रदेशां । (गो०)

ननन्द रामोऽमृगपक्षिजुष्टां

जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥३८॥

इति षट्सञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार सुन्दर और रमणीय तथा मृग पक्षियों से युक्त चित्रकूट पर्वत पर, स्वच्छ मीठे जल वाली सुन्दर घाटों से युक्त एवं प्रसिद्ध माल्यवती नदी को पाकर, श्रीरामचन्द्र जी ऐसे प्रसन्न हुए कि अयोध्या त्यागने का दुःख भूल गए ॥ ३८ ॥

[ नोट—इस सर्ग तक महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी की अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया । अब आगे फिर श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में अयोध्या में हुई घटनाओं का वर्णन आरम्भ होता है । स्मरण रखना चाहिए कि, श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिनों में आए थे । रास्ते में तीन दिन तो केवल जल पी कर ही रह गए थे, चौथे दिन माँस खाया था और पाँचवें दिन चित्रकूट में नियमित रूप से भोजन करना आरम्भ किया था । श्रीरामचन्द्र जी क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे । अतः उनका माँस खाना पढ़ पाठक चौकें नहीं । ]

अयोध्याकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।

रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

गृह अत्यन्त दुःखी हो, सुमन्त्र के साथ बहुत देर तक बात-चीत करता रहा और जब श्रीरामचन्द्र जी गङ्गा के दक्षिणतट पर पहुँच गए तब गृह अपने घर को चला गया ॥ १ ॥

\* पाठान्तरे—“दृष्टो ।”

वा० रा०—३८



भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सहासनम् ।

१ आगिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैर्गमिलक्षितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, शृङ्गवेरपुर के चरों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का प्रयाग में भरद्वाज जी के आश्रम में जाना, उनके यहाँ ठहरना तथा वहाँ से चित्रकूट पर्वत पर जाने आदि का पता लेते रहे ॥२॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।

अयोध्यामेव नगरं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुह से बिदा हो, सुमंत्र रथ में उत्तम घोड़े जोत अत्यन्त उदास हो अयोध्या की ओर चल दिए ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।

पश्यन्नतिययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

सुमंत्र जी सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण वनों, नदियों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों को देखते हुए बड़ी तेजी से चले जाते थे ॥४॥

ततः सायाह्नसमये तृतीयेऽहनि सारथिः ।

अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दं ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुर से रवाना होने के तीसरे दिन सायंकाल को सुमंत्र अयोध्या में पहुँचे और देखा कि अयोध्या में उदासीनता छाई हुई है ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।

सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

जनशून्य-जैसी अयोध्या नगरी में सन्नाटा छाया हुआ देख, सुमंत्र बहुत उदास हुए और शोकाकुल हो सोचने लगे ॥ ६ ॥

१ आ-गिरे :—गिरिपर्यन्तम् ।

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।

रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुगी ॥ ७ ॥

कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरनिवासियों और महाराज सहित ; श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य सन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न, शोकरूपी आग से भस्म तो नहीं हो गई ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।

नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इस प्रकार सोचते हुए सुमंत्र ने शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर सवार नगरद्वार पर पहुँच, तुरन्त नगर में प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः ।

क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥

सुमंत्र को नगर में आया हुआ देख, सैकड़ों हजारों पुरवासी जनों ने दौड़ कर, उन्हें घेर लिया और यह पूछने लगे कि श्रीरामचन्द्र जी कहाँ हैं ? ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ च राघवम् ।

अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥

उन सब को सुमंत्र ने यही उत्तर दिया कि, गङ्गा जी के तट पर पहुँच, धार्मिक महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने की आज्ञा दी, तब मैं लौट कर यहाँ आया हूँ ॥ १० ॥

ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा जनाः ।

अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशुः ॥ ११ ॥



तब वे पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी को गङ्गा के पार उतरा जान रोने लगे और धिक्कारते हुए और दीर्घ श्वास ले हा राम-हाराम !! कहकर चिल्लाने लगे ॥ ११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दंवृन्दं च तिष्ठताम् ।

हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

उस समय उस जनसमुदाय से यही सुन पड़ता था कि, हा ! हम लोग मारे गये जो हम राम को नहीं देख पाते ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।

न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥ १३ ॥

हाय ! दान, यज्ञ, विवाह और बड़े-बड़े समाजों में लोगों के बीच, माला के सुमेरु की तरह बैठे हुए श्रीराम को हम अब कभी न देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।

इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥ १४ ॥

हा ! वे श्रीरामचन्द्र जी तो अमुकजन के लिए क्या ठीक है, क्या अच्छा है और क्या सुखदायी है, इन सब बातों का विचार कर, पिता की तरह नगरवासियों का पालन करते थे ॥ १४ ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।

रामशोकाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम् ॥ १५ ॥

सुमंत्र, सड़क के दोनों तरफ भरोखों में बैठी हुई श्रीराम के वियोग से सन्तप्त पुरनारियों के विलाप सुनते हुए जा रहे थे ॥ १५ ॥

---

१ पुनःजातु—कदाचिदपि । (रा०) २ अन्तरा—मध्येनायकमर्थि-वद्वर्तमानं (गो०) ।

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।

यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन, सुमन्त्र ने अपना मुख ढक लिया और बड़ी शीघ्रता से वे महाराज के देवोपम गृह की ओर गए ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।

कच्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

सुमन्त्र ने रथ से उतर बड़ी शीघ्रता से लोगों की भीड़ से परिपूर्ण सात फाटकों को पार कर राजभवन में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् ।

हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्षिताः ॥ १८ ॥

छज्जों, सतखने मकानों की अटारियों और भवनों में बैठी तथा श्रीराम के वियोग से कर्षित स्त्रियाँ (अकेले) सुमन्त्र को आया देख, हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैश्चरैश्चुवेगपरिप्लुतैः ।

अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥

वे बड़े-बड़े विमल नेत्रों से आँसू ढलकाती हुई परस्पर देखती थीं और अत्यन्त दुःखी हो ऐसे विलाप भरे वचन कहती थीं, जो अस्पष्ट थे ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।

रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥



राजभवन के भीतर भी सर्वत्र महाराज दशरथ की रानियों का जो श्रीरामचन्द्र के शोक से सन्तप्त थीं, धीमे स्वर में विलाप सुन पड़ता था ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।

सूतः किं नाम कौसल्यां शोचन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥ २१ ॥

वे कहती थीं कि, यह सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को ले कर गया था, किन्तु उनको छोड़ कर अकेला लौट कर आया है। अब देखें रोती हुई कौसल्या को किस प्रकार यह धीरज बँधाता है ॥ २१ ॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।

आच्छिद्यः पुत्रे निर्याति कौसल्या यत्र जीवति ॥ २२ ॥

हम तो यही कहेंगे कि, जीव को दुःख भोगने के लिए जीना जैसे पसन्द है वैसा सुख के लिए नहीं। देखो इसीसे तो अपने पुत्र (श्रीरामचन्द्र) के राज्य छोड़ कर वन चले जानें पर भा, कौसल्या अब तक जा रही है ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् ।

प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन रानियों के ये सत्यवचन सुनते हुए सुमंत्र, शोक से दग्ध हो, अचानक महाराज के घर में जा पहुँचे ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् ।

पुत्रशोकपरिधूनं मपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

१ आच्छिद्य—राज्यंत्यक्ते । ( शि० ) २ परिधूनं—क्षीणं । ( गी० )

\* पाठान्तरे—“प्रदीप्तइव ।”

आठवीं ड्योही लाँघ उसने महाराज के सफेदी से पुते कमरे में जा कर देखा कि, महाराज दीन, आतुर और पुत्रशोक से क्षीण हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च ।

सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमन्त्र ने जा कर बैठ हुए महाराज का प्रणाम किया और जो बातें श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज से कहने के लिए उठासे कहीं थीं—वे बातें उ्यों की थीं उसने महाराज से कहीं ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विश्रान्तचेतनः ।

मूर्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥ २६ ॥

उन बातों को चुपचाप सुन, महाराज की बुद्धि ठीक ठिकाने न रही । वे श्रीराम के वियोगजनित शोक से अत्यन्त विकल होने के कारण, अचेत हो पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं<sup>१</sup> मूर्छिते पृथिवीपतौ ।

जद्भृत्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥

उस समय महाराज को मूर्छित हो, पृथिवी पर पड़ा देख, रनवास की सब रानियाँ अत्यन्त दुःखी हुई और बाहें उठा उठा कर रोने लगी ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् ।

उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

---

१ आविद्धं—शोकेनामिहतं । ( गो० )



तव सुमित्रा और कौसल्या ने जमीन पर पड़े हुए महाराज को उठाया और कहने लगीं ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।

वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

हे महाभाग ! मझकठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र के, ये दूत वन कर वन से आए हुए हैं । इनसे तुम बातचीत क्यों नहीं करते ॥ २९ ॥

अद्येममनयं<sup>१</sup> कृत्वा व्यपत्रपसि राघव ।

उत्तिष्ठ सुकृतं<sup>२</sup> तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥ ३० ॥

हे राघव ! श्रीरामचन्द्र जी को देशनिकाला दे कर, अब तुम क्यों लज्जित हो रहे हो । उठो उठो ! अब इस शोक के लिए कोई चारा नहीं—अतः अब तुम शोक मत करो । अर्थात् अब इस शोक को निवृत्त करने के लिए कोई उपाय शेष नहीं रहा । ऐसी दशा में तुम्हारे लिए अब शोक करना शोभा नहीं देता ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।

नेह तिष्ठति कैकेयी विस्रब्धं<sup>३</sup> प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

हे देव ! जिसके भय से तुम सुमंत्र से बातचीत नहीं करते वह कैकेयी यहाँ नहीं है । तुम निर्भय हो बातचीत करो ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा ।

धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

१ इममनयं—पुत्रविवासनं । ( गो० ) २ सुकृतं—शोभनं । ( गो० )

३ विस्रब्धं—निःशङ्कम् । ( गो० )

सप्तपञ्चाशः सर्गः

६०१

महाराज से ये वचन कहते-कहते कौसल्या शोक से कातर हो गईं उनका कण्ठ गद्गद हो गया । वे भूमि पर गिर पड़ीं ॥३२॥

एवं विलपतीं दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि ।

पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः सुस्वरं रुरुदुः स्त्रियः ॥३३॥

इस प्रकार विलाप करती हुईं और भूमि पर मूर्छितावस्था को प्राप्त कौसल्या को तथा महाराज को देख, वहाँ जो अन्य स्त्रियाँ तथा अन्तःपुर की स्त्रियाँ थीं—वे सब उच्चस्वर से रुदन करने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं

समीक्ष्य<sup>१</sup> वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।

स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः

पुरं तदासीऽऽत्पुनरेव<sup>२</sup> संकुलम् ॥३४॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

रत्नवास में रोने का शब्द सुन, अयोध्यापुरी में उस समय जितने बूढ़े और जवान पुरुष थे तथा वहाँ जितनी स्त्रियाँ थीं, वे सब की सब चारों ओर रोने लगीं और समूची अयोध्यापुरी में फिर एक बार वैसा ही हाहाकार हुआ, जैसा श्रीरामचन्द्र के वन जाते समय हुआ था ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

---

१ समीक्ष्य—श्रत्वा । ( गो० ) २ पुनरेवसङ्कुलम् । रामगमनकाल-इवव्याकुलमासीत् । ( गो० )



## अष्टपञ्चाशः सर्गः

—: ० :—

प्रत्याश्वस्तो<sup>१</sup> यदा राजा मोहात्प्रत्यागतः<sup>२</sup> पुनः ।

अथाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

कुछ देर बाद जब महाराज उपचारद्वारा सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त सुनने के लिए सूत को पुकारा और जनकी ओर अपना मुख फेरा ॥ १ ॥

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः ।

राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, महाराज के सामने हाथ जोड़े खड़े थे । उस समय महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र के वियोग से चिन्तित और शोक से विकल थे ॥ २ ॥

वृद्धं परमसन्तप्तं नवग्रहमिव द्विषम् ।

विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम्<sup>४</sup> अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥

बूढ़े महाराज दशरथ, हाल के पकड़े हुए हाथी की तरह परम सन्तप्त थे और उसी तरह उसाँसे ले रहे थे, जिस प्रकार एक व्याधिग्रस्त हाथी उसाँसे लेता है ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा सूतं<sup>\*</sup> ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।

अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

१ प्रत्याश्वस्तः—उपचारैरुद्बोधितः । ( गो० ) २ प्रत्यागतः—

सूतस्याभिमुखगतः । ( गो० ) ३ नवग्रहं—सद्योगहीनं । ( गो० )

४ अस्वस्थ—व्याधिग्रस्त । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“धूतं ।”

सुमंत्र के सारे शरीर में धूल लगी थी, आँखों से आँसू वह  
रहे थे, देखने से वे अत्यन्त विकल जान पड़ते थे। ऐसी दशा  
को प्राप्त सुमंत्र से, महाराज दशरथ अत्यन्त कातर मनुष्य की  
तरह बोले ॥ ४ ॥

कनु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

साऽन्यन्तसुखितः सूत किमिशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे सुमंत्र ! वह धर्मात्मा कहाँ—वृक्ष के नीचे वास करता  
होगा और जो हर प्रकार से सुखपूर्वक रहने योग्य है—वह  
राम वन में क्या खाता होगा ?

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः ।

भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाधवत् ॥ ६ ॥

हे सुमंत्र ! हमारा राम दुःख भोगने योग्य नहीं—वह तो  
सेज पर सोने योग्य है। भला एक राजकुमार एक अनाथ की  
तरह कैसे भूमि पर सो सकता है ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः ।

स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

जिस राजकुमार की सवारी के पीछे अनेक पैदल सिपाही,  
रथ आर घोड़े चला करते थे, वह राम निर्जन वन में कैसे रह  
सकेगा ? ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।

कथं कुमारौ वैदह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥



जिस वन में अनेक अजगर और दुष्ट वनजन्तु विचरते हैं और जिसमें काले साँप रहा करते हैं, उस वन में सीता सहित दोनों राजकुमार कैसे रहते होंगे ? ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्रा सह सीतया ।

राजपुत्रो कथं पादैरवरुह्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥

हे सुमन्त्र ! उस सुकुमारी और दुःस्वियारी सीता को साथ ले—वे दोनों राजकुमार किस तरह रथ से उतर कर पैदल चले होंगे ! ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।

वनान्तं प्रविशन्तौ तावद्विनाशिव मन्दरम् ॥ १० ॥

हे सुमन्त्र ! तू बड़ा भाग्यवान् है, जिसने मेरे दोनों राजकुमारों को वन में उसी प्रकार जाते देखा, जिस प्रकार अश्विनी-कुमार मन्दराचल पर जाते हैं ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।

सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

हे सुमन्त्र ! वन में पहुँच, राम ने क्या कहा, लक्ष्मण ने क्या कहा और सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।

जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम राम के उपवेशन, शयन तथा भोजन का वृत्तान्त कहो, जिसके सुनने से मैं कुछ देर और उसी प्रकार जीवित रह सकूँ, जिस प्रकार साधु के वचनों को सुन, राजा ययाति जीवित रहे थे ॥ १२ ॥

टिप्पणी—[लिखा है, राजा ययाति जब स्वर्ग में पहुँचे और अपने सुकृतों का वर्णन करने लगे; तब इन्द्र ने उनसे कहा कि, जिह्वा पर अग्निदेव का वास है। तुमने अपने सुकृतों का आने आप वर्णन कर, अपने सुकृतों को दग्ध कर डला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते। मृत्युलोक को चले जाओ। तब ययाति ने यह प्रार्थना की कि, यदि आप मुझे मृत्यु लोक में भेजते हैं, तो वहाँ ऐसी जगह भेजिए जहाँ साधुओं का साथ मिले। ययाति का यह प्रार्थना स्वकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि, ययाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था, वह साधुभाराम से दूर हो गया था।]

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया<sup>१</sup> ।

उवाच वाचा राजानं स वाष्प<sup>२</sup> परिबधया ॥ १३ ॥

जब महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुमित्र गद्गद कण्ठ हो, लड़खड़ाती वाणी से कहने लगे ॥ १३ ॥

अब्रवीन् मां महाराज धर्मभैवानुपालयन् ।

अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥

सूत मद्वचना<sup>३</sup> तस्य तातस्य विदितात्मनः<sup>४</sup> ।

शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ<sup>५</sup> पादौः पुनः पुनः ॥ १५ ॥

हे महाराज ! धर्म के पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ और मस्तक झुका कर यह कहा कि, मेरी ओर से संसार में धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध एवं वन्दनीय महाराज पिता के चरणों को बार बार प्रणाम कर ॥ १४ ॥

१ सज्जनमानया—स्खलन्त्या । (गो०) २ वाष्पपरिबधया—कण्ठगतवाष्प रुद्धवत्पर्यः । (गो०) ३ मद्वचनात्—ममप्रतिनिधित्वेन । (गो०) ४ विदितात्मनः लोके धर्मित्वेन सिद्धस्य । (गो०) ५ वन्द्यौ—वन्दनीयौ । (गो०)

\* पाठान्तरे—“महात्मनः ।”



सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्रचनाच्चया ।

आरोग्यमविशेषेण यथाहं चाभिवादनम् ॥ १६ ॥

अन्तःपुरवासी समस्त स्त्रियों और पुरुषों को भी मेरी ओर से मेरा कुशल समाचार कहना और यथायोग्य प्रणामादि कहना ॥ १६ ॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।

अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनमि'' वचः ॥ १७ ॥

मेरी माता कौसल्या से भी मेरा कुशल समाचार कह कर, मेरी ओर से प्रणाम कहना और यह भी कह देना कि, अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद न करें अर्थात् तत्पर रहें ॥ १७ ॥

धर्मनित्या यथाकालमग्न्यागारपरा<sup>१</sup> भव ।

देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय<sup>२</sup> ॥ १८ ॥

और यथासमय नित्य धर्मानुष्ठानादि करती रहै और यज्ञ-शाला की चौकसी रखें । फिर यह कहा है कि, हे देवि ! महाराज को देवतावत् मान उनकी चरणसेवा करो ॥ १८ ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।

अनु राजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय<sup>३</sup> ॥ १९ ॥

और कुलाभिमान एवं बड़प्पन का विचार त्याग कर, मेरी अन्य माताओं के साथ व्यवहार करना । महाराज की विशेष

१ अग्न्यागारपरा—यागशाला, न्तिकाभव । (शि०) । २ परि-पालय—निषेवस्व । (शि०) ३ कारय—राजानं कैकेयीतुल्यअनुवर्तस्व ।

कृपापात्र माता कैकेयी है । अतः उनके प्रति भी वैसा ही व्यवहार करना जैसा महाराज के साथ ॥ १६ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।

अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

और कुमार भरत से राजा जैसा वर्ताव करना—यद्यपि भरत वय में नहीं, तथापि धन से ज्येष्ठ होने के कारण, राजधर्मानुसार उनके प्रति राजा जैसा व्यवहार करना ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्रचनेन च ।

सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

( हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के लिए यह कहा है कि ) भरत जी से मेरा कुशलवृत्त कहना और यह बात कहना कि, वे सब माताओं के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें ॥ २१ ॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिच्चाकुकुलनन्दनः ।

पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत से यह भी कहना कि, युवराज हो कर वे पिता की आज्ञा अनुसार चलें ॥ २२ ॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यवरोरुधः १ ।

कुमारराज्ये जीव त्वं तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

महाराज अब बहुत बूढ़े हैं, अतएव उनको राज्यभ्रष्ट न करना अर्थात् राज्यासन का अभिलाष मत करना और युवराज पद पा कर ही सन्तोष कर, महाराज जो कहें, वही करना ॥ २३ ॥

१ व्यवरोरुधः—व्यपरोरुधः राज्यात् अंशयेत्यर्थः । ( रा० )



अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।

मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुखिआ कर मुझसे यह भी कहा है कि, भरत जी से यह बात कह देना कि, मेरी पुत्रवत्सला माता को अपनी माता की तरह समझें ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः ।

रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

महाबाहु, महायशस्वी, पद्मपलाशलोचन श्रीरामचन्द्र ने मुझसे ये सन्देशो कहे और बहुत रोए ॥ २५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत् ।

केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

तब लक्ष्मण जी ने अत्यन्त कुपित हो और ऊँची सांस ले यह कहा । इन राजकुमार ने कौनसा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें देशनिकाला दिया गया है ॥ २६ ॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु त्वाश्रित्य शासनम् ।

कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

महाराज ने कैकेयी की तुच्छ बात मान और प्रतिज्ञा कर कार्य अकार्य का कुछ भी विचार न किया । ( इसका फल यह हुआ कि ) दुःख हम लोगों को भोगना पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।

वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी, कैकेयी के ( अनुचित ) लालच वश  
अथवा वरदान पूरा करने के लिए वन भेजे गए हैं, तो यह कार्य  
सर्वथा बुरा है ॥ २८ ॥

इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।

रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्ष्ये ॥ २९ ॥

यदि ईश्वर के करने से उन्होंने ऐसा किया है, तो भी श्रीराम-  
चन्द्र के निर्वासन में ईश्वर की कृति का कोई हेतु या कारण देख  
नहीं पड़ता ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।

जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

महाराज ने इसका परिणाम न सोचा, केवल बुद्धि की कोताई  
ही से यह काम किया, अतः श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास  
महाराज को दुःख देगा ॥ ३० ॥

अहं तावन् महाराजे पितृत्वं नोपलक्ष्ये ।

प्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

मुझे तो महाराज में पितृकर्तव्य का पालन कुछ भी नहीं  
देख पड़ता । अतः अब तो मेरे भाई, स्वामी, बन्धु और पिता  
सब कुछ श्रीरामचन्द्र ही हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।

सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं त्वाऽऽनेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

१ संक्रोशं—दुःखं । राज्ञोनुतापइतिभावः । (गो०)

वा० रा०—३६



सब लोगों के प्रिय और सब लोगों की भलाई करने में निरत श्रीरामचन्द्र जी को जब तुमने वनवास दिया—तब (तुम्हारे इस कर्म से तुम्हारे ऊपर) प्रजाजन कैसे प्रसन्न हुए होंगे ? ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रवाज्य धार्मिकम् ।

सर्वलोकं विरुद्धयेमं कथं राजा भविष्यसि ॥ ३३ ॥

ऐसे धार्मिक और प्रजाप्रिय श्रीरामचन्द्र को वन में निकालने के कारण सब प्रजाजनों के विरोधी बन, तुम किस प्रकार राजा कहला सकोगे ? ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती मनस्विनी<sup>१</sup> ।

भूतोपहतचित्तेन विष्टिता विस्मिता स्थिता ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! जानकी जो बड़े गम्भीर मन की है—भूत लगे हुए जन के चित्त की तरह अश्चर्यचकित हो, टकटकी बाँधे खड़ी की खड़ी ही रह गई ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।

तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

क्योंकि उस यश स्वनी राजदुलारी पर इसके पूर्व कभी दुःख नहीं पड़ा था । अतः इस दुःख में, मुँह से कुछ भी न कह, केवल वह बिलख रही थी ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।

मुमोच सहसा बाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

१ मनस्विनी—गम्भीरमनस्का । ( गो० )

एकोनषष्टितमः सर्गः

६११

और पति के अश्रुपूर्ण मुख को देख, उसका मुख सूख गया  
था और वह मेरी ओर देख सहसा आँसू गिराने लगी थी ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः

स्थितोऽभवत्तत्तमणवाहुपालितः ।

तथैव सीता रुदती तपस्विनी

निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ।

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी. जिनकी बाँह पकड़ लक्ष्मण खड़े  
थे, अश्रुमुख हो और हाथ जोड़े खड़े खड़े, मेरी ओर देख रहे थे।  
तपस्विनी सीता भी उसी तरह रोती हुई राजरथ को और मुझको  
देख रही थी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

---:❀:---

एकोनषष्टितमः सर्गः

---:००:---

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि ।

उष्णमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥

( सुमंत्र, महाराज दशरथ से कहने लगे ) श्रीरामचन्द्र जी के  
वन चले जाने पर जब मैं लौटने लगा, तब मेरे थके घोड़े  
रास्ते में अड़ गए और नेत्रों से गरम गरम आँसू गिराने  
लगे ॥ १ ॥



उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।

प्रस्थितो रथमास्थाय तदुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

मैंने दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर रथ में बैठ वहाँ से प्रस्थान किया और उस दुःख को भी किसी प्रकार सह लिया ॥ २ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्वहन् ।

आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी मुझे बुला कर, (अपने साथ ले चलें) इस आशा में मैं गुह के साथ वहाँ कई दिनों तक ठहरा रहा ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज रामव्यसनकश्चिताः ।

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

मैंने लौटते समय देखा कि, आपके राज्य के वृक्ष तक दुःखी हैं। क्योंकि उनके फूल अंकुर और कली कुम्हला गयी हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।

परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

नदियों, तलैयाँ और तालाबों का जल सूख रहा है। (और नदियों तलैयाँ और तालाबों में जल कम हो जाने के कारण) वनों और उपवनों के वृक्षों के पत्ते मुरझाए ; ए हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्ति<sup>१</sup> सत्त्वानि<sup>२</sup> व्याला<sup>३</sup> न प्रचरन्ति च

रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद्वनम् ॥ ६ ॥

१ नसर्पन्ति—नगच्छन्ति । (गो०) २ सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)

३ व्यालाः—हिंस्रपशवः, सर्वदासञ्चारस्वभावा गज, वा । (गो०)

जीव जन्तुओं ने चलना बन्द कर दिया है और हिंस्रपशु अथवा सदैव घूमनेवाले हाथी भी अब वनों में घूमते हुए नहीं देख पड़ते । राम के वियोगजनित शोक से वनों में सन्नाटा छाया हुआ है ॥६॥

लीनपुष्करपत्राश्च<sup>१</sup> नरेन्द्र कलुषोदकाः ।

सन्तप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनः<sup>२</sup> विहङ्गमाः ॥ ७ ॥

हं महाराज ! तालाबों का जल गंदला हो गया है और कमलों के पत्ते राम-वियोग-जन्य अतिशय ग्लानि उत्पन्न होने के कारण जल के भीतर डूब गए हैं । कमल के तालाबों में कमल सूख रहे हैं । मछलियों और ( जल ) पक्षियों ने पानी में घूमना फिरना छोड़ दिया है ॥ ७ ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि<sup>३</sup> स्थलजानि च ।

नाद्य भान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥ ८ ॥

जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसी गन्ध ही रह गई है और न फलों में पहले जैसा स्वाद ही रह गया है ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च ।

न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥

हे मनुजर्षभः यहाँ के उपवनों में भी पक्षियों के चुपचाप घोंसलों में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है । यहाँ की वाटिकाएँ भी मुझे शोभाहीन देख पड़ती हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यां मां न कश्चिदभिनन्दति ।

नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

<sup>१</sup>लीनपुष्करपत्राः—ग्लान्यतिशयेन जलान्तर्विलीनपद्मपत्राः । (गो०)

<sup>२</sup>लीनाः—सञ्चाररहिताः । (गो०) <sup>३</sup>माल्यानि—पुष्पाणि । (गो०)



मैं जब अयोध्या में आया, तब मैंने किसी को भी प्रसन्न न पाया प्रत्युत लोग (मेरे रथ में) श्रीरामचन्द्र को न देख, बार बार लम्बी साँसें लेने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा बिना राममिहागतम् ।

दुःखादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गगतो जनः ॥ ११ ॥

हे देव ! राजरथ में बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी को आते न देख रास्ते में जितने लोग थे, वे सब दुःखी हो रोने लगे ॥ ११ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।

हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्षिताः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिए उत्कंठित एवं विकल और छुज्जों, सतखने मकानों की छत्तों और भवनों के झरोखों में बैठी हुई स्त्रियों ने सूने रथ को आते देख, बड़ा हाहाकार किया ॥ १२ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।

अन्योन्यमभिवीक्षन्ते व्यक्तः मार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

वे (स्त्रियाँ) बड़े बड़े विमल नेत्रों में आँसू भर और बहुत कातर हो, एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं देख सकती थीं ॥ १३ ॥

[टिप्पणी—नेत्रों को विमल कहने का भाव यह है कि, नेत्रों में अञ्जन या काजल जो स्त्रियों के शृङ्गार का एक अङ्ग है, वह नहीं लगा था । ]

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।

अहमार्ततया किञ्चिद्विशेषमुपलक्ष्ये ॥ १४ ॥

१ अव्यक्तं—सम्यक् न । ( रा० )

मुझे तो आज क्या मित्र, क्या शत्रु और क्या उदासीन—  
किसी भी जन में, सिवाय कातरता के और किसी प्रकार का भी  
अन्य भाव नहीं देख पड़ा ॥ १४ ॥

अग्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरङ्गमा ।

आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥

जितने मनुष्य हैं वे तो सब के सब दुःखी हैं ही, किन्तु  
जितने हाथी घाड़े हैं वे भी उदास हैं । सब ही आर्तनाद करते  
हुए लम्बी लम्बी 'उसाँसे' ले रहे हैं ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा ।

कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने से सब लोग  
दुःखी हैं । अयोध्यापुरी तो मुझे पुत्र से बिछुड़ी हुई कौसल्या की  
तरह ( दीन ) दिखलाई पड़ रही है ॥ १६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा राजा परमदीनया ।

बाष्पोपहतया वाचा तं सूतमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमंत्र के वचन सुन महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो  
गद्गद् कण्ठ से सुमंत्र से यह बोले ॥ १७ ॥

कैकेय्या हि नियुक्तेन<sup>१</sup> पापाभिजनभावया ।

न मया मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम्<sup>२</sup> ॥ १८ ॥

१ पापाभिजनभावया = कूर-र्म विषयकसंमतिदानजनितपापविशि  
अभिजनाः अभितः समीपं विद्यमानाः जनाः मन्थरादयाः तैस्सहभावो  
संस्थितिर्यस्याः ( शि० ) २ नसमर्थितं—नविचारितं । ( गो० )



हे सुमंत्र ! दुष्ट बुद्धिवाली मन्थरादि का सहवास करने वाली कैकेयी को जब मैं वर देने लगा, तब ( शोक है कि ) न तो परामर्श देने में निपुण वृद्ध जनों से मैंने विचार किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा च नैगमैः ।

मयाऽयमर्थः सम्मोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

और न अपने सुहृदों और न अपने मन्त्रियों और न ( राज-जानी के ) महाजन साहूकारों से सलाह ली । मैंने यह अनर्थ केवल कैकेयी के लिए मोहवश सहसा कर डाला ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।

कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छयाः ॥ २० ॥

हे सुमंत्र ! निश्चय ही यह दारुण कष्ट होनी के वश, इच्छाकुल का सर्वनाश करने को अपने आप अथवा दैवइच्छा से उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन् मया तु सुकृतं<sup>१</sup> कृतम् ।

त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

हे सुमंत्र ! यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो, तो तू मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा । ( क्योंकि ) मेरे प्राण ( शरीर ) से निकलने के लिए ) जल्दी कर रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाशा निवर्तयतु राघवम् ।

न शक्यामि विना रामं सुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

---

१ यदृच्छया—देवेच्छया । ( रा० ) २ सुकृतं—उपकारः ( गो० ) ।

एकोनपष्ठितमः सर्गः

६१७

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरी आज्ञा मान, वन से लौट सकें, तो तू ही जाकर उनका लौटा ला । क्योंकि मैं राम बिना एक मुहुत्त भी नहीं जो सकता ॥ २२ ॥

अथवाऽपि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।

मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

अथवा यदि महाबाहु राम बहुत दूर निकल गए हों, तो मुझे रथ में बिठा शीघ्र ले चल कर, मुझे राम को दिखला दे ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रोऽमहेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।

यदि जीवामि साध्वेन पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

कुन्ददुष्पसम दाँतों वाले, महाधनुर्धर और लक्ष्मण के बड़े भाई राम कहाँ हैं ? यदि मैं जाता रहा तो सीतासहित इस साधु का अवश्य देखूँगा ॥ २४ ॥

लोहितानं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।

रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

यदि मैं लाल नेत्र वाले, महाबाहु और रत्नकुण्डलधारी राम को न देखूँगा; तो मैं यमालय का चला जाऊँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिच्छाकुनन्दनम् ।

इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

१ वृत्तदंष्ट्रो—कुन्दकुङ्कुमलाकारदंष्ट्रः । (गो०)



हा ! इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी, जो मैं इक्ष्वाकु-  
कुल-नन्दन राम को मरते समय भी नहीं देख सकता ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि ।

न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा तपस्विनी वैदेही ! मैं अनाथ की  
तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ, यह तू नहीं जानती ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितः चेतनः ।

अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

यह कहते कहते महाराज दशरथ का मन बहुत दुःखी हो  
गया । वे अपार शोकसागर में डूब कर कहने लगे ॥ २८ ॥

[ शोकसागर का रूपक बाँधा है । ]

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।

श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पफेनजलाविलः ॥ २९ ॥

बाहुविक्षेपमीनौघो विक्रन्दितमहास्वनः ।

प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥

ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः ।

वरवेला नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

राम का विरहजन्य शोक उस सागर की गहराई या चौड़ाई है,  
जिसके किनारे हैं सीताजी का विछोह । श्वास का निकलना उसके  
भवर हैं, नेत्रजल से मानों वह गँदला हो रहा है । हाथों को पट

१ अर्पित चेतनः—व्यातचित्तः । (गो०) २ अवगाढः—प्रविष्टः ।

(गो०)

कना मानों मछलियाँ हैं और आर्त्तनाद उस महासागर का मानों गजन तर्जन है। बिखरे हुए बाल मानों सिवार हैं और कैकेयी मानों बड़वानल (वह आग जो समुद्र के नीचे रहती है) है, नेत्रों का जल गम्भीरता उत्पन्न करने वाला है, मन्थरा के वाक्य मानों बड़े बड़े घड़ियाल हैं, कैकेयी के वर, जिससे श्रीरामचन्द्र जी वन गए मानों लंबे-लंबे तट हैं ॥ २६ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

यस्मिन्वत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।

दुस्तरौ जीवता देवि ममाऽयं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

हे कौसल्या ! मैं बिना राम के इस प्रकार के अथाह शोक-सागर में डूब रहा हूँ, सो जीते जी ता मैं इसे पार न कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

अशोभनं<sup>१</sup> योऽहमिहाद्य राघवं

दिदृक्षमाणो न लभे सलदमणम् ।

इतीव राजा विलपन् महायशाः

पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥

मैं आज लक्ष्मण सहित राम को देखना चाहता हूँ, किन्तु नहीं देख सकता, यह मेरे किसी महापातक का फल है। इस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ अनेक प्रकार से विलाप करते हुए तत्काल ही अचेत हो पलंग पर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे<sup>२</sup>

करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।

१ अशोभनं—मम महत्पापं । (रा०) २ प्रनष्टे—मूर्च्छिते । (रा०)



वचनमनुनिशम्य तस्य देवी

भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

महाराज जब श्रीरामचन्द्र के लिए अत्यन्त करुणपूर्ण विलाप करते करते मूर्छित हो गए; तब राममाता महारानी कौसल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन, दूना भय हुआ। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के लिए महाराज को करुणपूर्ण विलाप कर के मूर्छित हुआ देख, कौसल्या बहुत डरीं कि, कहीं महाराज प्राण न त्याग दें) ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

षष्टितमः सर्गः

—:—

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः ।

धरण्यां गतसत्त्वेव<sup>१</sup> कौसल्या स्रुतमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौसल्या, जो भूताविष्ट की तरह भूमि पर निर्जीव सी पड़ी काँप रही थीं, सुमंत्र से बोलीं ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।

तान् विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

हे सृत ! जहाँ राम, लक्ष्मण जानकी हों, वहीं मुझे ले चलो, क्योंकि बिना उनके आज मैं एक क्षण भी नहीं जी सकती ॥ २ ॥

१ गतसत्त्वेव—गतप्राणैव । (गो०)

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि ।

अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

अतः अति शीघ्र रथ फिर लौटाओ और मुझे भी दंडकवन में पहुँचा दो, यदि मैं उनके पास न पहुँची तो मैं यमपुरा को चल दूँगी ॥ ३ ॥

वाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया<sup>१</sup> !

इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

यह सुन सुमंत्र आँसू बहा, विकल हो और हाथ जोड़ कर, महाराना को धीरज बँधाते हुए बाले ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च<sup>२</sup> सम्भ्रमं<sup>३</sup> दुःखजं तथा ।

व्यवधूय च सन्तापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे देवि ! तुम शोक, माह और दुःख के कारण उत्पन्न विकलता को त्याग दो । क्योंकि श्रीरामचंद्र सुख से वन में वास करेंगे । ५ ॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने ।

आराधयति धर्मज्ञः परलोकं<sup>४</sup> जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्र की चरणसेवा कर, धर्मपूर्वक एवं जितेन्द्रिय हो, अपना परलोक सुधार रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता शसं प्राप्य गृहेष्विव ।

विस्त्रम्भं<sup>५</sup> लभतेऽभोता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

१ सज्जमानया—विकलवया । (गो०) २ सम्भ्रमं—व्याकुलत्वं (गो०) ३ पर-  
लोकमाराधयति—परलोकं साधयति । (गो०) ४ विस्त्रम्भ—प्रणयः (गो०)



विजन वन में भी सीता राम में अपना मन लगा, घर ही के समान, प्रीतिपूर्वक एवं निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किञ्चित्सुखद्वयमपि लब्धते ।

उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मा ॥ ८ ॥

सीता जी में मुझे जरा सी भी दीनता नहीं देख पड़ी । अतः मुझे तो वह प्रवास में रहने के योग्य ही मालूम पड़ती है ॥ ८ ॥

नगरोपवमं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।

तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीता नगर के बाग वगीचों में जाकर पहले यहाँ विहार किया करती थीं, उसी प्रकार वह वहाँ निर्जन वन में भी विहार करती हैं ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीताऽबालचन्द्रनिभानना ।

रामा रामे ह्यधीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥ १० ॥

पूरणिमा के चन्द्रमा की तरह मुखवाली सीता निर्जन वन में भी प्रसन्नचित्त हो कर राम में मन लगा और उनके अधीन हो, क्रीड़ा किया करती है ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं ह्यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।

अयोध्यापि भवेत्तस्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

क्योंकि केवल उसका मन ही सम्पूर्णतया श्रीराम के अधीन नहीं है, प्रत्युत उसका जीवन भी उन्हीं के ऊपर निर्भर है । अतः

बिना श्रीराम के उसके लिए यह अयोध्या भी वन के समान ही है ॥ ११ ॥

पथि पृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।

गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि ॥ १२ ॥

मार्ग में जो गाँव, नगर, नदी और अनेक प्रकार के वृक्षों को सीता देखती, उनके विषय में वह ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि पृष्ट्वा जानाति जानकी ।

अयोध्याक्रोशमात्रे तु विहारमिव संश्रिता ॥ १३ ॥

राम से और लक्ष्मण से पूँछ, उनका वृत्तान्त अथवा परिचय जान लेती है। वह वन तो उसके लिए माना अयोध्या से एक कोस के अन्तर पर अवस्थित एक विहारस्थल जैसा हो रहा है ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम् ।

कैकेयीसंश्रितं वाक्यं नेदानीं प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

सीता जी के विषय में तो मुझे इन्हीं बातों की याद है, उसने कैकेयी के बारे में जा कहा था—वह मुझे इस समय याद नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद्वाक्यं प्रमादात्पर्युपस्थितम् ।

ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

सुमन्त्र ने भूल से कैकेयी की चर्चा छेड़ दी थी—सो उस चर्चा को वहीं छोड़, फिर सुमन्त्र कौसल्या को प्रसन्न करने वाले वचन कहने लगे ॥ १५ ॥



अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन<sup>१</sup> च ।

न विगच्छति<sup>२</sup> वैदेह्यान्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

हे महारानी ! जानकी के मुख की चन्द्रमा जैसी प्रभा, मार्ग की थकावट से, हवा के भोंकों से, व्याघ्रादि भयङ्कर वन के जीव जन्तुओं के डर से, अथवा तेज धूप से फीकी नहीं पड़ती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य<sup>३</sup> पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।

वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।

अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

और न कमल एवं पूर्णचंद्र के तुल्य सीता जी का मुख मलिन होता है। यद्यपि उसके चरणों में महावर नहीं लगाई गई; तथापि अब तक उसके दोनों चरण, कमल की तरह लाल-लाल देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

नूपुरोद्घुष्टहेलेव खेलं<sup>४</sup> गच्छति भामिनी ।

इदानीमपि वैदेही तद्रागन्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अनुरागवती होने के कारण सीता ने अब तक आभूषण नहीं उतारे हैं, वह पैरों की पायजोबों की भनकार से हंस आदि के गमन को लजाती हुई बड़े आनन्द से चलती है ॥ १९ ॥

१ सम्भ्रमेण—व्याघ्रादिदर्शनजन्यव्याकुलत्वेन । (गो०) २ नविगच्छति—नविकरोति । (गो०) ३ शतपत्रस्य—पद्मस्य । (गो०) ४ खेल—सलील । (गो०)

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।

नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

वन में हाथी, सिंह और व्याघ्र को देख—वह डरती नहीं, क्योंकि श्री रामचन्द्र जी के भुजबल पर उसे विश्वास होने से, वह निर्भय रहती है ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मानः<sup>१</sup> शोच्यो नापि जनाधिपः ।

इदं<sup>२</sup> हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

अतः हे देवि ! तुम उन तीनों के लिए, अपने लिए और महाराज के लिए जरा भी चिन्ता न करो । पिता की आज्ञा मान कर वन जाने का श्रीराम जी का चरित आचन्द्रार्क इस संसार में प्रसिद्ध हो, प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा

महर्षियाते<sup>३</sup> पथि सुव्यवस्थिताः ।

वने रता वन्यफलाशनाः पितुः

शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

( श्रीरामचन्द्र ) शोक को दूर कर, प्रसन्न मन से महर्षियों के चले हुए मार्ग का भली भाँति अनुसरण कर, अर्थात् तपस्वियों के नियमों को पालन करते हुए, वन में रह और कन्दमूल फल खा, पिता की परम पवित्र आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥ २२ ॥

१ आत्मनः—वयं । ( गो० ) २ इदं चरितं—पितृवचनपरिपालनरूपं-चरितं । ( गो० ) ३ महर्षियाते—महर्षिभिः प्राप्ते । ( गो० )

वा० रा०—४०



तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना  
 निवार्यमाणा सुतशोककशिता ।  
 न चैव देवी विरराम कूजितात्  
 प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

इति षष्ठितमः सर्गः ॥

यद्यपि सूत ने कौसल्या को अनेक युक्तियों से बहुत कुछ समझाया, तथापि कौसल्या पुत्रवियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, रोने चिल्लाने से न रुकी और “अरे मेरे लाड़ले,” “अरे मेरे बेटे” “अरे राम !” बराबर कह कर रोतो ही रहीं ॥ २३ ॥

अयोध्याकांड का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: :—

एकषष्ठितमः सर्गः

--: ० :—

वनं गते धर्मपरे रामे रमयतां वरे ।

कौसल्या रुदती ॥ सार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

गुणाभिराम, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के वन चले जाने पर, कौसल्या विकल हो, रुदन करती हुई, अपने पति से यह बोली ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद्यशः ।

सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

\*पाठान्तरे---“स्वाती ।”

हे महाराज ! यद्यपि तीनों लोकों में तुम्हारी यह कीर्ति फैल  
हुई है कि, महाराज बड़े दयालु, उदार और प्रियवादी हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।

दुखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

तथापि हे पुरुषोत्तम ! (यह तो बतलाओ कि) सीता सहित  
तुम्हारे वे दोनों पुत्र, जो सुख में पाले पोसे गए हैं, दुखी हो,  
किस तरह वन में दुःख सह सकेंगे ? ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणीः श्यामाः सुकुमारी सुखोचिता ।

कथमुष्णं च शीतं च मैथिली प्रसहिष्यते ॥ ४ ॥

निश्चय ही युवावस्था को प्राप्त वह युवती एवं सुकुमारी सीता  
जो सुख से रहने योग्य है, किस प्रकार गर्मी सर्दी सह सकेगी ? ॥ ४ ॥

भुक्त्वाऽशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम् ।

वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

जो बड़े बड़े नेत्रों वाली सीता, ( रसोइयों के बनाए हुए )  
सुन्दर व्यञ्जन खाती थी, वही सीता क्योंकर, वन के चावलों  
को खा सकेगी ? ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभमनिन्दिता ।

कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

१ तरुणी -- आरब्धयौवना । ( गो० ) २ श्यामा -- यौवनमध्यस्था  
( गो० ) श्यामातरुणी -- यौवनमध्यस्था । ( गो० ) ३ सूपदंशान्वितं --  
शोभनव्यञ्जन सहितं । ( गो० )



जो अनिन्दिता सीता गाने और बजाने की (मधुर) ध्वनि (सदा) सुना करती थी, इस समय वह क्यों कर, माँसाहारी सिंहों का भयङ्कर शब्द सुन सकेगी ? ॥ ६ ॥

१महेन्द्रध्वजसङ्काशः क्व नु शेते महाभुजः ।

भुजं परिघसङ्काशमुपधाय ❀सहानुजः ॥ ७ ॥

जो इन्द्रधनुष के समान बड़ी भुजाओं वाले और महाबली है, वे अपनी विशाल भुजा तकिए की जगह सिर के नीचे रख कहाँ शयन करते होंगे ? ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।

कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

कमल के समान और सुन्दर केशों से युक्त, कमल जैसी सुगन्ध और कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द को, अब मैं कब देख सकूँगी ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदये मे न संशयः ।

अपश्यन्त्या न तं यद्वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का बना हुआ है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । क्योंकि यदि ऐसा न होता तो राम को न देखने से इसके सहस्रों टुकड़े हो गए होते ॥ ९ ॥

यत्त्रयाऽकरुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।

निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

---

१ महेन्द्रध्वजोनाम इन्द्रधनुः । (गो०) ❀ पाठान्तरे—“महाबलः”

महाराज ! तुमने मेरे प्रियजनों को राज्य से निकाल कर बड़ा निर्दयतापूर्ण कर्म किया है। जो सुख से रहने योग्य है, हाथ वे दीन हो, वन में मारे-मारे फिर रहे हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।

जह्याद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपभुज्यते ॥ ११ ॥

यदि चौदह वर्षों बाद श्रीरामचन्द्र लौट भी आवें ( तो भी मुझे भरोसा नहीं कि ) भरत उनको राज्य और कोश दे देंगे ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्स्वानेव बान्धवान् ।

ततः पश्चात्समीक्षन्ते कृतकार्या द्विर्जर्षमान् ॥ १२ ॥

कोई कोई श्राद्ध करने वाले विद्वान होकर भा ब्राह्मण को निमंत्रण देते हैं किन्तु पहले गुणहीन अपात्र भाईबन्दों को श्राद्ध में भोजन करवाते हैं और पीछे से उन निमंत्रित ब्राह्मणों को बुलाते हैं । १२ ॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।

न पश्चात्तेऽनुमन्यन्ते सुधामग्निं सुरोपमाः ॥ १३ ॥

तब उन ब्राह्मणों में जो गुणवान् एवं विद्वान् होते हैं, वे श्राद्ध के अमृत तुल्य भोज्य पदार्थों को मदिरा के समान ( त्याज्य ) क्या नहीं समझते ? ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि तृप्तेषु पश्चाद्भुक्तुं द्विर्जर्षभाः ।

नाभ्युपैतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥

( यही नहीं बालक ) अन्य ब्राह्मणों के भोजन से बचे हुए अन्न को, विद्वान् ब्राह्मण अङ्गोकार करने में वैसा ही अपना अनादर समझते हैं, जैसा बैल का अनादर उसके सींगों के काटने से होता है ॥ १४ ॥



एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते ।

भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥ १५ ॥

हे प्रजानाथ ! इसी तरह छोटे भाई के भोगे हुए राज्य का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भाई क्यों न अनादर करेगा, अर्थात् अवश्य अनादर करेगा ॥ १५ ॥

न परेणाहतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।

एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र दूसरे के मारे हुए शिकार को खाना पसंद नहीं करता, वैसे ही पुरुष-संह श्रीराम भी दूसरे की चक्खी हुई वस्तु कदापि अङ्गीकार न करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।

नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार एक यज्ञ में व्यवहृत हाँव, घी, पुरोडाश, कुश और खैर के खंभे दूसरे यज्ञ के काम के नहीं रहते ॥ १७ ॥

[टिप्पणी—प्रायः देखने में आता है एक मँडवा (यज्ञ-स्तम्भ) अनेक बार काम में लाया जाता है, पर इस वचन से ऐसा होना ठीक नहीं। प्रत्येक विवाह काय में नया मँडवा बनवाना उचित है।)

तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसागं सुरामिव ।

नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

उसी प्रकार मेरा राम इस उपभुक्त राज्य को सार निकली हुई सुरा और सोमरहित यज्ञ की तरह, कभी लेने की इच्छा न करेगा ॥ १८ ॥

१ विशांपते—हे प्रजानाथ । (गो०) २ परलीढं—परेणाखादितं (गो०)

३ आर्त्ता—उपभुक्तपूर्व । (गो०) ४ अभिमन्तुं—अभिलषितुं । (गो०)

नैवविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।

बलवानिव शादूलो बालधेरभिमर्शनम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार बलवान् सिंह अपनी पूँछ का मरुड़वाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार मेरा राम भी इस तरह के असत्कार को न सह सकेगा ॥ १६ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधेः ।

अधर्मं त्विव धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

क्या सब लोग यहाँ संग्राम में राम से नहीं डरते ? (अर्थात् सब डरते हैं । अतः वह बड़ा बलवान् है, वह चाहता तो यह राज्य अपने बाहुबल से ले सकता था, किन्तु) वह (केवल स्वयं ही) धर्मात्मा (नहीं) है प्रत्युत अधर्मियों को भी धर्म पथ पर चलने की शिक्षा देनेवाला है । अतः वह क्योंकि, अधर्म करे अर्थात् बलपूर्वक राज्य ले) ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैराणैर्महावीर्यो महाभुजः ।

युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

बड़ी भुजाओं वाला और महापराक्रमी राम जो अपने सुनहले रंग के बाणों से प्रलयकाल के समथ जैसा, (केवल) सब प्राणियों ही को (नहीं), समुद्र (तक) को भस्म कर सकता है ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।

स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

महामृधे—महायुद्धे । (गो०)



वह सिंह के समान बलशाली पुरुषश्रेष्ठ राम उसी प्रकार अपने पिता द्वारा मारा पड़ा, जिस प्रकार मछली के बच्चे (अपने पिता) मत्स्य द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं (मत्स्य अपने संतान को खा डालते हैं) ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः ।

यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

यदि तुम द्विजों द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त सनातन धर्ममानते होते, तो ऐसे धर्मनिरत पुत्र को देश निकाला कभी न देते ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।

तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज ! स्त्री के लिए पहला सहारा पति का, दूसरा पुत्र का और तीसरा भाईबंधों का है। स्त्री के लिए चौथा सहारा तो कोई है ही नहीं ॥ २४ ॥

यत्र त्वं चैव मे नास्ति रामस्य वनमाश्रितः ।

न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया ॥ २५ ॥

इनमें से तुम तो मेरे हो ही नहीं (और मेरे दूसरे सहारे राम को, तुमने वन भेज ही दिया है। तुमको छोड़ मैं वन भी नहीं जा सकती। तुमने तो मुझे बारहवाट कर दिया (अर्थात् मुझे कहीं का नहीं रखा, सब तरह से वरवाद कर दिया) ॥ २५ ॥

हतं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं

हतस्तथाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च

हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पौराः ।

सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

हे महाराज ! ( तुमने श्रीराम को वन में भेज कर ) अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य को, रात्रियों सहित अपने आपको, पुत्र सहित मुझको और समस्त अयोध्यावासियों को बरबाद कर डाला । ( तुम्हारे इस काय से प्रसन्न केवल दो ही हैं ) तुम्हारा भार्या कैकेयी और उसका पुत्र भरत ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंश्रितां

निशम्य राजाऽपि मुमोह दुःखितः ।

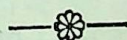
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः

स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तदा<sup>१</sup> स्मरन् ॥ २७ ॥

॥ इति इकषष्टितमः सर्गः ॥

कौसल्या के इस प्रकार के कठोर वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो मूर्छित हो गए और शोकसागर में निमग्न हो, वे इस दुःख का आदिकारण विचारने लगे ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



द्विषष्टितमः सर्गः

—: ० :—

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया ।

श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

---

<sup>१</sup> स्वदुष्कृतं स्मरन्—पतादृशदुःखस्यनिदानभूतं किं कर्म पूर्वं कृतं इति स्मरन् । ( गो० )



महाराज दशरथ शोक के कारण क्रुद्ध राममाता कौसल्या के ऐसे कठोर वचन सुन, दुखी हो सोचने लगे कि, अब क्या करें ? ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मुमोह व्याकुलेन्द्रियः ।

अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परन्तपः ॥ २ ॥

यही सोचते सोचते महाराज विकल हो मूर्छित हो गए और बहुत देर बाद वे सचेत हुए ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसत् ।

कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा पुनश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

वे सचेत होने पर बड़ी गहरी साँसे लेने लगे । कौसल्या को पास बैठी देख, वे फिर सोच में पड़ गए ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् ।

यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

सोचते-सोचते उनको अपना ( पूर्वकृत ) एक पाप कर्म याद पड़ा । ( वह था ) पहले किसी समय अनजाने एक तपस्वी का शब्दवेधी बाण से वध ॥ ४ ॥

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।

द्राभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत ॥ ५ ॥

महाराज एक तो श्रीरामचन्द्र के वियोग से दुःखी थे ही, अब उस पापकर्म का स्मरण भी, उन्हें दुःखी करने लगा । इन दोनों के शोक से महाराज सन्तप्त हो विकल हो गए ॥ ५ ॥

दह्यमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः ।

वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

इन दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ ने, काँप कर और नोचा भिर कर, कौमल्या को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हाथ जोड़कर, कहा ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ।

वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

हे कौमल्ये ! मैं बनती करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ । तू तो अपने शत्रुओं पर भी सदा दया दिखाती, और उनके प्रति भी अकटार व्यवहार करती है ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।

धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि तैवतम् ॥ ८ ॥

हे दांव ! ( यह भी तू जानती ही है कि ) धर्म की दृष्टि से, धर्माचरण करने वाली स्त्री के लिए उसका पति ही चाहे गुणी हो अथवा निगुणी, प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा ।

नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

सो तू नित्य धर्माचरण में तत्पर और संसार का ऊँच नीच समझने वाली हो कर भी, तुझे मुझसे ऐसे अप्रिय वचन कहना

---

१ दृष्टलोकपरावरा—दृष्टौलाकेजनेपरावरौ—उत्कर्षापकर्षौ यया-  
सातथेक्ता । ( गो० )



उचित नहीं । ( मैं यह जानता हूँ कि, तू दुःखी होने के कारण ऐसा कह रही है, तो भी ) मुझ जैसे अत्यन्त दुःखी से तुझे ऐसा कहना तेरे लिए शोभाप्रद नहीं है ॥ ९ ॥

तद्वाक्य करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।

कौसल्या व्यसृजद्वाप्यं प्रणालीव नवोदकम् ॥ १० ॥

महाराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुन, कौसल्या के नेत्रों से आँसुओं की धार उसी भाँति बही, जिस भाँति नालियों में वष । का जल बहता है ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् ।

सम्भ्रमादब्रवीत्तृप्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

कौसल्या ने महाराज के दोनों जुड़े हुए कमल सदृश हाथों को अपने सिर पर रख लिया और रोती हुई तथा घबड़ाती सी वह बोली ॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ २ निपतिताऽस्मि ते ।

याचितास्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया ॥ १२ ॥

हे देव ! तुम दुःखी न हो, प्रसन्न हो । मैं अपना सिर तुम्हारे चरणों में रख तुमको प्रणाम करती हूँ । तुम्हारा मेरी विनती करना, मेरे लिए मरने के समान कष्टदायी है । अतः आप मुझसे क्षमा न माँग कर, मेरे अनुचित कथन के लिए मुझे दंड दें ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।

उभयोर्लोकयोर्वार पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

१ नवोदकं—वर्षजलं । ( गो० ) २ भूमौ निपतितास्मि—प्रस-  
-तास्मीत्यर्थः । ( गो० )

वह स्त्री कुलीन नहीं कहला सकती, जिसको दोनों लोकों की एक मात्र गति ( अर्थात् उसका पति ) उसकी विनती कर उसे प्रसन्न करे ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।

पुत्रशोकार्तया तच्च मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं स्त्रीकर्तव्य को जानती हूँ और तुमको सत्यवादी मानती हूँ । उस समय मेरे मुख से जो थोड़ा बहुत अनुचित निकल गया, उसका कारण पुत्रशोक है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्<sup>१</sup> ।

शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक ( मनुष्य को केवल ) धैर्य और शास्त्रज्ञान ही नष्ट नहीं करता, प्रत्युत सर्वनाश कर देता है । अतः शोक से बढ़कर ( मनुष्य का ) शत्रु दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।

सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

अतएव अन्य बैरी के हाथ का प्रहार तो सह भी लिखा जा सकता है, किन्तु हठात्प्राप्त बहुत थोड़ासा भी शोक, नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गण्यते ।

यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

१ श्रुतम्—शास्त्रश्रवणजनितनिश्चितधर्म । ( शि० ) २ आपतितः—हठात्प्राप्तः । ( गो० )



राम को वनवास गए आज पांचवीं रात है किन्तु, मेरे लिए तो ये पांच वर्षों के समान हैं। क्योंकि राम-वियोग-जनित शोक के कारण हर्ष तो एकदम मुझसे चिदा हो गया है ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।

नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

राम की चिन्ता करने से मेरे हृदय में उसी प्रकार शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदी के जल के वेग से समुद्र का जल बढ़ता है ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः ।

मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाभ्यर्तत ॥ १९ ॥

कौसल्या जी के इस प्रकार विनम्रतापूर्ण वचन कहते कहते, सूर्य अस्त हो गए और रात हो गई ॥ १९ ॥

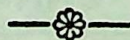
❀अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः ।

शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

महाराज दशरथ, कौसल्या की यह बातचीत सुन, हर्षित हुए और शोक से उत्पीड़ित होने के कारण उनको नींद आ गई ॥ २० ॥

अयोध्याका ड का द्वांठवां सर्ग समाप्त हुआ ।



\*पाठान्तरे—“तथा प्रसादितो ।”

## त्रिषष्टितमः सर्गः

—: ० :—

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।

अथ राजा दशरथश्चिन्तामभ्यवपद्यत ॥ १ ॥

एक मुहूर्त सोने के पाछे महाराज को आँखें खुलीं । आँखें खुलते ही शाक ने उनको फिर आ घेरा और वे चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद्वासवोपमम् ।

आविवेशोपसर्गः<sup>१</sup> तं तमः<sup>२</sup> सूर्यमिवासुरम्<sup>३</sup> ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के वनवास के उपद्रव से बड़े हुए शोक ने इन्द्र के समान महाराज दशरथ को उसी प्रकार आच्छादित कर लिया, जिम प्रकार राहु सूर्य को आच्छादित कर लेता है ॥ २ ॥

सभायै निर्गते रामे कौसल्यां कौसलेश्वरः ।

विवक्षु<sup>४</sup> रसितापाङ्गां स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

सखीक श्रीराम जी के वनवासी होने पर, महाराज ने अपने उस दुष्कृतकर्म की सुधि कर, उसे महारानी कौसल्या से कहने की इच्छा की ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।

अर्धरात्रे दशरथः संस्मरन् दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥

१ उपसर्गः—महोपद्रवः पुत्रशोकरूपः । ( गो० ) २ तमः—राहुः ।  
३ आसुरं—असुर संबन्धि । ( गो० ) ४ विवक्षुः वक्तुमिच्छुः । ( शि० )



श्रीराम के वनवास के दिन से छठवीं रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पापकृत्य को स्मरण किया ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।

कौसल्यां पुत्रशोकार्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्र के वियोग के शोक से विकल महाराज ने अपने पापकर्म को स्मरण कर, पुत्रवियोग से विकल महारानी कौसल्या से कहा ॥ ५ ॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।

तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥

हे कल्याणि ! मनुष्य भला या बुरा—जैसा कर्म करता है, उस भले या बुरे कर्म का फल, कर्ता को अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

गुरुलाघवमर्थानां<sup>१</sup> मारम्भे कर्मणां फलम् ।

दोषं वा यो न जानाति स बाल<sup>२</sup> इति होच्यते ॥ ७ ॥

अतएव कर्म करने के पूर्व जो मनुष्य कर्मके फल का गुरुत्व लघुत्व ( भलाई बुराई ) अथवा उसके दोष ( त्रुटि ) को नहीं जानता, वह अज्ञानी कहलाता है ॥ ७ ॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति ।

पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

जो आदमी पलाश के लाल लाल फूलों को देख, फल पाने की अभिलाषा से, आम के पेड़ को काट कर, पलाश वृक्ष को

१ अर्थानाम्—फलानाम् । ( गो० ) २ बालः—अज्ञः । ( गो० )

सींचता है, फल लगाने का समय आने पर उसे अवश्य ही पछ-  
ताना पड़ता है ॥ ८ ॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वेवानुधावति ।

स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥

अतः जो मनुष्य कर्म का परिणाम विचारे बिना ही कर्म  
करने लगता है, उसे भी फल प्राप्ति के समय, पलाश वृक्ष सींचने  
वाले (अज्ञानी) मनुष्य की तरह पछताना पड़ता है ॥ ९ ॥

सोऽहमाग्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम् ।

रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥ १० ॥

हे देवि ! मैंने भी आम के वृक्ष को काट कर पलाश के वृक्ष  
को सींचा है । सो फल लगाने के समय श्रीराम को त्याग कर  
मुझ दुष्टमति को भी पछताना पड़ रहा है ॥ १० ॥

लब्धशब्देन<sup>१</sup> कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता ।

कुमारः शब्दवैधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

हे कौसल्ये ! मैंने अपनी कुमारावस्था में, अपने को शब्द  
वैधी कहला कर प्रसिद्ध होने की कामना से धनुष धारण कर,  
यह पाप किया था ॥ ११ ॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम् ।

सम्मोहादिह कौसल्येन यथा स्याद्भक्षितं विषम् ॥ १२ ॥

१ लब्धशब्देन—प्राप्तख्यातिनामया यद्बाललब्धगजतुल्यमुनिपुत्र  
शब्देन । ( गो० ) कौ पाठान्तरे “—बालेन तदा ।”

वा० रा०—४१



सो हे देवि ! मैं इम दुःख का कारण स्वयं ही हूँ । जिस प्रकार अज्ञानवश विष खा ले, वैसे ही मैंने भी अनजान में पाप कर अपना सबनाश अपने हाथों ही किया है ॥१२॥

यथाऽन्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्मोहितो भवेत् ।

एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे कोई आदमा पलाशपुष्प को दग्ध, उससे उत्तम फल पाने की आशा से उसकी सेवा करे, पर उससे उसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती—वैसे ही मैंने शब्दवेधी शिकार को उत्तम समझ बिना जान बूझे ऐसा किया था, उसका मुझे (आज) यह फल प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

देव्यनूढा<sup>१</sup> त्वमभवो युवराजो<sup>२</sup> भवाम्यहम् ।

ततः<sup>३</sup> प्रावृट्नुप्राप्ता ममद कामविवर्धनी ॥ १४ ॥

हे देवि ! यह हाल उस समय का है, जिस ममरा तुम्हारे साथ मेरा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था । उन्होंने दिनों एक बार काम के वेग को उत्तेजित करने वाली वर्षा ऋतु आई ॥ १४ ॥

उपास्य हि रसान्<sup>४</sup> भीमांस्तप्त्वा च<sup>५</sup> जगदंशुभिः ।

परेताचरितां भीमां<sup>६</sup> रविराविशते<sup>७</sup> दिशम् ॥ १५ ॥

१ अनूढा—अकृत विवाहा । (गो०) २ भवामि—अभवं । (गो०)

३ प्रावृट्—वर्षाकालः । (गो०) ४ उपास्य—गृहीत्वा । (गो०) ५ रसान्—जलानि । (गो०) ६ जगत्—भूमिं । (गो०) ७ परेताचरितां—प्रेताचरितां । (गो०) ८ भीमांदिशम्—दक्षिणामित्यर्थः । (गो०)

९ आविशते—आविशतेस्म । (गो०)

सूर्यदेव पृथिवी के जल को सोख और अपनी किरणों से भूमि को तप्त कर, प्रेतगण सेवित भयङ्कर दक्षिण दिशा को चले गए (अर्थात् दक्षिणायन होगए) ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धाः ददृशिरे घनाः ।

ततौ जहृषिरे सर्वे मेकसारंगबर्हिणः ॥ १६ ॥

गरमी एकदम दूर हो गई । शीतल बादल दिखलाई देने लगे । उनको देख मेढ़क, चातक और मयूर हर्षित हो गए ॥ १६ ॥

किल्बिषक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।

वृष्टिवातावधूताग्राभ् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

बरसाती हवा से हिलते हुए पेड़ों पर, उन पक्षियों ने जिनके पर जल से भीग जाने के कारण, स्नान किए हुए जैसे जान पड़ते थे, बड़े कष्ट से बसेरा लिआ ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाछन्नः पतमानेन चासकृत् ।

आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

बरसे हुए और बरसते हुए जल से भीगे हुए मत्त हाथी, उस समय उसी प्रकार जान पड़ते थे, जिस प्रकार स्थिर महासागर में पर्वत खड़ा हो ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।

सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजङ्गवत् ॥ १९ ॥

---

१ स्निग्धाः— शीतलाः । ( गो० ) २ मत्तसारङ्गः—मत्तगजः । ( गो० )



पर्वतों की धातुओं से मिश्रित होने के कारण विमल जल के सोते भी पीले लाल अथवा राख मिलने से काले रंग के जल से युक्त हो, साँप की तरह देढ़ी मेंढी चाल से बह निकले ॥ १६ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मान् कवची रथी ।

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्त्रगां नदीम् ॥ २० ॥

उस सुखदायी समय में मैं शिकार खेलने के लिए धनुष बाण ले और रथ में बैठ सरयू नदी के तट पर पहुँचा ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाऽभ्यागतं नदीम् ।

अन्यं वा श्वापदं<sup>१</sup> कञ्चिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

मैं वहाँ गया, जहाँ रात के समय वनभैंसा, हाथी तथा अन्य व्याघ्रादि दुष्ट जन्तु, जल पीने आया करते थे । ( मैं इस उद्देश्य से वहाँ गया कि, कोई जानवर आवे और उसे मैं मारूँ ) क्योंकि उस समय मेरी प्रवृत्ति शिकार खेलने की ओर विशेष थी (अथवा मुझे शिकार से निवृत्ति नहीं हुई थी ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

इसी बीच में अँधेरे में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन, मैंने समझा कि कोई हाथी चिंघार रहा है । मुझे कुछ दिखलाई न पड़ा, मैंने केवल वह शब्द ही सुना ॥ २२ ॥

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः—मृगयाविहारकृतसङ्कल्पः । ( गो० ) २

श्वापदं—व्याघ्रादिदुष्टमृगं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“धनुष्मानिषुमान्-रथी ।”

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।

शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्य त्वपातयम् ॥ २३ ॥

(मैंने तरकस से सप के विष से बुझा अर्था पैना और चमचमाता बाण निकाल, उस हाथी को वेधने की इच्छा से, शब्द लक्ष्य कर छोड़ा ॥ २३ ॥

अमुञ्च निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।

तत्र वागुषन्नि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः<sup>१</sup> ॥ २४ ॥

मैंने ज्योंही वह विष का बुझा पैना बाण छोड़ा, त्योंही किसी वनवासी का शब्द मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा ॥ २४ ॥

हाहेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः ।

तस्मिन्निपतिते बाणे वागभूत्तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

वह (तपस्वी जिसके बाण लगा था) हाय हाय कह जल में गिर पड़ा—क्योंकि उस बाण से उस तपस्वी के मर्मस्थल बिँध गए थे । वह बाण के लगने पर जब पानी में गिर पड़ा, तब मनुष्य जैसी बोली ( इस प्रकार ) सुन पड़ी ॥ २५ ॥

कथमस्मद्विधे<sup>२</sup> शस्त्रं निपतेत्तु तपस्विनि ।

प्रविविक्तां<sup>३</sup> नदीं<sup>४</sup> रात्रा बुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

( वह बोला ) मेरे जैसे अजातशत्रु तपस्वी के क्यों इस प्रकार बाण लगा । मैं तो रात्रि के समय, निरास्ते में जल भरने आया था ॥ २६ ॥

१ वनौकसः—तपस्विनः । (गो०) २ अस्मद्विधे—अजातशत्रौ । (गो०) ३ प्रविविक्तां—प्रकर्षेण निर्जनां । (गो०) ४ रात्रौ—अपररात्रौ । (गो०) ।



इषुणाऽभिहतः केन कस्य वा किं कृतं मया ।

ऋषेहि<sup>१</sup> न्यस्तदण्डस्य<sup>१</sup> वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

किसने मुझे बाण से मारा, मैंने किसीका क्या बिगाड़ा था ?  
उस ऋषि को जो बाणी और शरीर से किसी जीव को नहीं  
सताता और वन में रह कर जो वन में उत्पन्न कन्दमूल फल  
खा कर जीवन बिताता है ॥ २७ ॥

कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते ।

जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

मुझ जैसे (एक ऋषि) को बाण मार कर, वध क्यों किया  
जाता है । अरे मैं जटाभार धारण कर, वल्कल और मृगचर्म  
पहिनता और ओढ़ता हूँ ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात्किं वास्यापकृतं मया ।

एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

इस दशा में रहने पर भी, मुझे मारने से किसी का क्या  
अर्थ साधन हो सकता है, अथवा मैंने किसी का क्या कुछ  
बिगाड़ा था ( जो उसने मुझे बाण मारा) । ऐसा निष्फल कर्म  
तो केवल अनर्थ ही की मूल है ॥ २९ ॥

न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।

नाहं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥

जैसे गुरु का शय्या पर बैठने वाला साधु नहीं समझा  
जाता (वैसे ही उमको भी कोई भला न कहेगा जिसने अकारण

१ न्यस्तदण्डस्य—उपरतवाङ्मनःकायसम्बन्धिपरहिंसस्य । (गो०)

मेरा वध करना चाहा है ।) मुझे अपने प्राण जाने की उतनी चिन्ता अथवा शोक नहीं है ॥ ३० ॥

मातरं पितरं चोभावनुशांचामि मद्बधे ।

तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

जितनी चिन्ता मुझे अपने मारे जाने पर माता पिता की है । उन दोनों वृद्धों का अब तक तो मैंने पालन पोषण किया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्नो कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।

वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥

किन्तु मेरे मर जाने पर, उनकी क्या दशा हागो, मेरी माता और मेरे पिता तो बूढ़े हैं और मैं इस प्रकार बाण से मारा गया ॥ ३२ ॥

केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मनाः ।

तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥

किसी दुर्बुद्धि मर्ख ने ( एक ही बाण से ) हम सब को मार डाला । ( हे कौसल्या ! ) इस प्रकार की करुणा भरी वाणी सुन, मुझ जैसे पुण्योपार्जन की इच्छा रखने वाले अथवा धर्म-भीरु ॥ ३३ ॥

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि ।

तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशि लालपतो बहु ॥ ३४ ॥

सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः ।

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥

---

१ अकृतात्मना—अनिश्चितबुद्धिना । (गो०) २ धर्मानु-  
काङ्क्षिणः—धर्मप्रतीक्षाशीलस्य । (शि०)



ऐसा व्यथित हुआ कि मेरे हाथ से धनुष बाण भूमि पर गिर पड़े। उस रात में, मैं उस तपस्वी का विलाप सुन उद्विग्न हो और अत्यन्त शोकाकुल हो अचेत हो गया। तदनन्तर मैं दुःखी और उदाम हो उस जगह गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अपश्यमिषुणा तीरे सरयवास्तापसं हतम् ।

अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धः कलशोदकम् ॥ ३६ ॥

जिस जगह सरयू के तट पर, एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा था। उसके सिर की जटा बिखरी हुई थी। कलसे का जल फैला हुआ अथवा पानी का कलसा अलग पड़ा था ॥ ३६ ॥

पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शरपीडितम् ।

स मामुद्रीच्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम् ॥ ३७ ॥

इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा ।

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥

सारे शरीर में खून और धूल लगी हुई थी, वह बाण की व्यथा से जमीन पर पड़ा-तड़फड़ा रहा था। उसने मुझे भयभीत और विकल जान अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर देखा, मानों अपने नेत्राग्नि से मुझे वह भस्म कर डालेगा। तदनन्तर वह ये कठोर वचन बोला। हे राजन् ! मैं एक तो वनवासी हूँ। किने तुम्हारा क्या बिगाड़ था ? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिहीषुर्ममो गुर्वर्थः यदहं ताडितस्त्वया ।

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥

१ प्रवृद्ध—ध्वस्त । (रा०) गुर्वर्थ—मातापितृनिमज्जम् । (यो०)

॥ पाठान्तरे—“शल्यपीडितम्” “शन्यवेडितम्” † पाठान्तरे—  
“ततः प”

जो माता पिता के ( पीने के ) लिये जल भरने को आए हुए  
मुझको तुमने मारा । एक ही वाण से तुमने मेरा मर्मस्थल घायल  
कर दिया ॥ ३६ ॥

द्रावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे ।

तौ कथं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥

और मेरे माता पिता को भी, जो दुर्बल तथा अन्धे हैं एवं  
मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार  
डाला ॥ ४० ॥

चिरमाशाकृतां तृष्णां कथं सन्धारयिष्यतः ।

न नूनं तपसो वाऽस्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥ ४१ ॥

वे मेरे आने की बात देखते हुए प्यास क कष्ट को कैसे सह  
सकेंगे ! हा ! इससे तो तप का व इतिहास पुराणादि के श्रवण  
का फल भी कुछ न ठहरा ॥ ४१ ॥

पिता यन्मां न जानाति शयानं पतितं भुवि ।

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तिरपरिक्रमः ॥ ४२ ॥

जो पिता जो यह नहीं जानते कि मैं इस दशा में यहाँ जमीन  
पर पड़ा हूँ और यदि जान भी जाँय तो वे अब कर ही क्या  
सकते हैं ? क्योंकि उनमें ( अँधे होने के कारण ) चलने की  
शक्ति नहीं है अर्थात् वे पङ्गु हैं ॥ ४२ ॥

भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम् ।

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥

१ श्रुतस्य—मन्त्रवर्णविषयीभूतेतिहासपुराणादेवीफलयोग । ( श० )

\* पाठान्तरे—“कष्टा ।”



जैसे कटते हुए वृक्ष की रक्षा दूसरा वृक्ष नहीं कर सकता ( क्योंकि उसमें चलने की शक्ति नहीं ) उसी प्रकार मेरे माता पिता भी अंधे और पङ्गु होने के कारण मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं—अतः हे राजन् ! मेरे पिता के पास जा कर तुरन्त यह समाचार उनसे कहो ॥ ४३ ॥

न त्वामनुदहेत्क्रुद्धो वनं वह्निरिवैधितः ।

इयमेकपदी<sup>१</sup> राजन् यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥

नहीं तो वे क्रोध में भर तुम्हें वैसे ही ( शाप द्वारा ) भस्म कर डालेंगे, जिस प्रकार आग वन को भस्म कर डालती है । हे राजन् ! यह पगडंडी, जो देख पड़ती है, वही मेरे पिता के आश्रम तक चली गई है ॥ ४४ ॥

तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत् ।

विशल्यं कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥

सो तुम वहाँ जा कर उनको प्रसन्न करो, नहीं तो कुपित हो वे तुमको शाप दे देंगे । हे राजन् ! तुम इस बाण को जो मेरे मर्म-स्थल में घुसा हुआ है, निकाल दो ॥ ४५ ॥

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो<sup>२</sup> यथा ।

सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥

इति मामविशचिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।

दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य<sup>३</sup> च ॥ ४७ ॥

<sup>१</sup> एकपदी—एकपदन्यासमात्रयुक्ता । सरणिरित्यर्थः । ( गो० )

<sup>२</sup> अम्बुरयः—नदीवेगः । ( गो० ) <sup>३</sup> शोकातुरस्य—ब्रह्महत्याभविष्यतीतिभियाशोकेन पीडितस्य । ( गो० )

क्योंकि यह बाण मेरे कोमल मर्मस्थल को उसी प्रकार काट रहा है, जिस प्रकार ऊँचे और बालुकामय करारे को नदी को धार का वेग काटता है। हे देवि ! उसी समय मुझे इस बात की चिन्ता उत्पन्न हुई कि, जब तक यह बाण गड़ा है, तब तक उसे पीड़ा तो अवश्य है, किन्तु जीता भी तभी तक है। क्योंकि बाण निकालते ही यह मर जायगा। अतः बाण निकालने में मेरे मन में खटका पैदा हो गया। उसने मुझे दीन दुखों और शोकातुर देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

लक्षयामास हृदये चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

ताम्यमानः स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्तवत् ॥ ४८ ॥

तब उस मुनिपुत्र ने मेरे मन की चिन्ता को लख लिया और मुझे सन्तप्त देख, अत्यन्त दुःखी हो बड़े कष्ट से कहा ॥ ४८ ॥

सीदमानो विवृत्ताङ्गोः वेषमानो गतः क्षयम् ।

संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

यद्यपि मैं इस समय बहुत कष्ट में हूँ, मुझे साफ साफ कुछ दिखलाई भी नहीं पड़ रहा, पीड़ा से छटपटा रहा हूँ और मरा ही चाहता हूँ, तथापि धीरज धर के शोक के वेग को रोक, मैं स्थिर चित्त होता हूँ ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।

न द्विजातिरहं राजन् मा भूते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

हे राजन् ! आप ब्रह्महत्या के पाप के भय को अपने मन से निकाल अपने मन की व्यथा दूर कीजिए। क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ॥ ५० ॥

१ विवृताङ्गः—परावृत्तनेत्रः ( रा० )



शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ।

इत्येवं ददतः कच्छाद्वाणाभिहतमर्मणः ।

विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ॥ ५१ ॥

हे भूपाल ! मैं शूद्रा माता के गर्भ से एक वैश्य द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ । यह कहते कहते बाण से घायल, मर्मस्थल की पीड़ा से उसकी दोनों आँखें उलट गई, उसकी चेष्टा बिगड़ गई । और वह जमीन पर तड़फड़ाने लगा ॥ ५१ ॥

तस्य त्वातम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।

स मामुद्धीच्य सन्त्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

उसकी यह दशा देख, मैंने बाण खींच लिया । बाण खींचते ही उस मुनिपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो, मेरी ओर देखा और प्राण छोड़ दिए ॥ ५२ ॥

जलाद्रगात्र तु विलप्य कृच्छ्रात्

ममत्रणं सन्ततमुच्छ्वसन्तम् ।

ततः सरय्वां तमहं शयानं

समीच्य भद्रेऽस्मि भृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

हे कौसल्ये ! उस तपोधन को, ( जो कुछ ही क्षणों पूर्व ) मर्म-स्थल में बाण का घाव लगने से अत्यन्त कष्टित हो विलाप कर रहा था और जिसका शरीर ( छटपटाने से ) जल से तर हो गया था—उस समय सरयू के तट पर प्राणरहित पड़ा देख, मुझे बड़ा ही विषाद हुआ ॥ ५३ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

❀ पाठान्तरे—“इतीव ।”

## चतुःषष्टितमः सर्गः

--: ❀ :--

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।

१ विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यां पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

मुनिपुत्र के अनुचित वध को वर्णन कर और बीच बीच में अपने पुत्र का स्मरण कर के विलाप करते हुए, धर्मात्मा महा-राज दशरथ, कौसल्या से फिर बोले ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वाहं सङ्कुलेन्द्रियः ।

एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

हे कौसल्या ! उस समय अनजाने उस महापाप को कर, विकल हो, मैं अकेला सोचने लगा कि, अब मेरा कल्याण किस तरह हो ? ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।

आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

अन्त में यह निश्चय कर कि, अब मेरा कल्याण इसीमें है कि, मैं मुनि कुमार के कथनानुसार उसके पिता को जा कर प्रसन्न करूँ । अतः मैं उस मुनिपुत्र के कलसे में जल भर और वैसे लेकर, उसके बतलाए रास्ते से मुनि के आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ बृद्धावपरिणायकौ ।

अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

---

१ विलपन्नेव — मध्येस्वपुत्रं विलपन्नेव । ( गो० )



वहाँ जा कर देखा कि, पंख रहित पक्षियों की तरह उसके  
माता पिता जो दुर्द्ध, दुर्बल और दीन थे, बैठे हुए थे ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिक्रमौ ।

तामाशां मत्कृते हीनाबुदासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

वे जल की प्रतीक्षा में बैठे पुत्र ही की चर्चा कर रहे थे ।  
उनकी आशा पर मैंने पानी फेर दिया था । वे अनाथ की तरह  
निश्चेष्ट बैठे हुए थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसन्त्रस्तचेतनः ।

तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

उस समय मैं शोक से विकल और भय से ग्रस्त तो था ही,  
उस आश्रम में पहुँचने पर, ( उन दोनों की दशा देख कर )  
मुझे और भी अधिक दुःख हुआ ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।

किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

मेरे पाँवों की आहट पा, उस मुनि ने कहा—हे वत्स ! क्यों  
देर कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ ॥ ७ ॥

किन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।

उत्कण्ठतां ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

तुम इतनी देर तक क्यों जल में खेलते रहे । आश्रम में  
तुरन्त जाओ, तुम्हारी माता बड़ी चिन्तित हो रही है ॥ ८ ॥

यद्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।

न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

बेटा ! यदि मुझसे या तेरी माता से कोई अप्रिय कार्य बन पड़ा हो तो हे तपस्वी ! उस पर तू ध्यान मत देना ॥ ६ ॥

ॐ गतिस्त्वमगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।

समासक्तास्त्वयि प्राणाः किं त्वं नो नाभिभाषसे ॥ १० ॥

तू ही हम दोनों असमर्थों का एकमात्र अवलंब है और हम अंधों की तूही आँखें हैं और तेरे ही अधीन हमारे दोनों के प्राण हैं । तू जवाब क्यों नहीं देता ? ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया १ ।

हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतोभीतः ३ इवाव्रवम् ॥ ११ ॥

मैंने उस मुनि को देख, अत्यन्त डरे हुए मनुष्य की तरह, लड़खड़ाती जवान से अतः अस्पष्ट अक्षरों में, उससे कहा ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य ४ वाग्बलम् ।

आचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

बोलने के समय मैंने मन से और क्रियात्मक प्रयत्नों से जिह्वा को अपने वश में किया और धीरे से उसके पुत्र का कष्टमय वृत्तान्त उससे कहा ॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।

सज्जना ५ वमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

१ सज्जमानया—स्खलन्त्या । (गो०) २ हीन व्यञ्जना- -अस्पष्ट-  
क्षरया । (गो०) ३ भीतोभीतः—अत्यन्तभीतः । (गो०) ४ अभिसंस्तभ्य  
—स्खलितां वाचां बलाद्वट्टीकृत्येति । (गो०) ५ सज्जनावमतं—सत्पुरुष-  
गहितं । (गो०) \* पाठान्तरे—“त्वंगतिस्त्वगतीनां”



हे महात्मन् ! मैं दशरथ नाम का क्षत्रिय हूँ । आपका पुत्र नहीं हूँ । मुझसे एक निन्द्य कर्म बन पड़ा है, जिसका मुझे बड़ा ही दुःख है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।

जिघांसुः श्वापदं कञ्चिन्निपाने चागतं गजम् ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं हाथ में धनुष ले सरयू नदी के तट पर इस-लिए आया कि, यदि कोई हाथी या शेर बाघ आदि वनजन्तु पानी पीने आवे तो उसका वध करूँ ॥ १४ ॥

तत्र श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

द्विषोऽयमिति मत्वायं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

इसी दीव में मैंने घड़े में जल भरने का शब्द सुना और यह समझा कि, हाथी बोल रहा है, अतः मैंने बाण मारा ॥ १५ ॥

गत्वा नद्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।

विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

किन्तु जब मैं सरयू के तट पर पहुँचा तब मैंने देखा कि, छाती में बाण लगने के कारण एक तपस्वी मृतप्राय अवस्था में भूमि पर पड़ा है ॥ १६ ॥

भगवञ्शब्दमालक्ष्य मया गजजिघांसुना ।

विसृष्टोऽम्भसि नाराचस्तेन तेऽभिहतः सुतः ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! हाथी के शिकार के धोखे में, शब्दवेधी बाण चला कर, मैंने जल भरने के लिए गए हुए आपके पुत्र को मार डाला है ॥ १७ ॥

\* पाठान्तरे—“नाराच स्ततस्ते निहतः सुतः” ।

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।

स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मणस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर मैंने उसीके कहने से, अत्यन्त कष्टदायी बाण सहसा उसकी छाती से खींचा ॥ १८ ॥

स चोद्धृतेन बाणेन तत्रैव स्वर्गमास्थितः ।

भवन्तौ पितरौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १९ ॥

बाण के खींचते ही वह वहीं स्वर्गवासी हो गया । ( मरने के पूर्व ) उसने आप दोनों अंधे माता पिता के लिए विलाप और आप ही के लिए शोक किया था ॥ १९ ॥

अज्ञानाद्भवतः पुत्रः सहसाऽभिहतो मया ।

शेषमेवं गते यत्स्यात्तत्प्रसीदतु मे मुनिः ॥ २० ॥

अनजान में अचानक आपके पुत्र को मैंने मारा है । जो होना था वह तो हो ही गया । आप मुनि हैं; अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें ( अर्थात् शापानुग्रह जो कुछ उचित समझें सो मेरे प्रति करें ) ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मयोक्तमघशंसिना ।

नाशकतीव्रमायासमकर्तुं भगवान्मुनिः ॥ २१ ॥

मेरे किए हुए पापकर्म का दारुण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुन कर, वे महात्मा मुनि ( जो सब प्रकार का शाप दे सकते थे, किन्तु ) मुझे तीव्र शाप न दे सके ॥ २१ ॥

\*पाठान्तरे—“मर्मतस्तदा ।” + पाठान्तरे—“भगवान्मुनिः” ।  
प्रसीदतु—शापोवाऽनुग्रहोवा यः कर्तव्यस्तं करोत्वित्यर्थः । ( गो० )



स बाष्पपूर्णनयनोऽ निःश्वसञ्शोककर्षितः ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

किन्तु नेत्रों में आँसू भर और शोक से व्याकुल हो ठंडी ठंडी साँसे लेते हुए उन महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा ॥ २२ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयेः स्वयम् ।

फलेन्मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! अगर तू अपने इस कर्म को स्वयं ही मुझसे न कहता, तो मेरे शाप से तेरे सिर के अभी हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २३ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः ।

ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्छ्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! जो क्षत्रिय जान बूझ कर किसी वानप्रस्थ का वध करे तो वह भले ही इन्द्र ही क्यों न हो, उसे अवश्य स्थान-च्युत होना पड़ता है ॥ २४ ॥

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।

ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २५ ॥

जो कोई मेरे पुत्र जैसे तपस्वी एवं ब्रह्मवादी मुनि पर जान बूझ कर शस्त्र का प्रयोग करता, तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते ॥ २५ ॥

अज्ञानाद्वि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।

अपि ह्यद्य कुलं न स्यादिद्वक्कूणां कुतो भवान् ॥ २६ ॥

\* पाठान्तरे—“बाष्पपूर्णनयनो” । १ फलेत्—विशीर्येत् । (गो०)

तूने अनजाने यह निन्द्य कर्म किया है, इसीसे तू अब तक जीवित (भो) है। नहीं तो अभो (समस्त) रघुकुल ही का नाश हो जाता, तेरी तो हस्ती ही क्या है ॥ २६ ॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत ।

अथ तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम्<sup>१</sup> ॥ २७ ॥

हे कौसल्ये ! मुनि ने मुझसे कहा, हे राजन् ! अब तू मुझे उस स्थान पर ले चल, जहाँ वह पड़ा है। क्योंकि अपने पुत्र की अन्तिम दशा देखने की मेरी इच्छा है ॥ २७ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम् ।

शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवंश गतम् ॥ २८ ॥

हा ! वह काल के वश और अचेत हो, भूमि पर पड़ा होगा। उसका सारा शरीर रक्त से सना होगा, मृगचर्म जो वह ओढ़े था वह अलग पड़ा होगा ॥ २८ ॥

अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ ।

अस्पर्शयिमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २९ ॥

हे कौसल्ये ! मैं अकेला उन अत्यन्त दुःखित मुनि और उनकी स्त्री को उस जगह ले गया। (अंधे होने के कारण वे देख तो न सकें, किन्तु) हाथ से उन्होंने मृतपुत्र का शरीर टटोला ॥ २९ ॥

तौ पुत्रमान्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ ।

निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत् ॥ ३० ॥

---

१ पश्चिमदर्शनम्—अन्तर्दर्शनम् । ( २० )



वे दोनों जन पुत्र के पास जा और हाथ से उसका शरीर टटोल, दोनों के दोनों पुत्र के मृनशरोर से लिपट गए। उसका पिता कहने लगा ॥ ३० ॥

नाभिवादयसे माऽद्य न च मामभिभाषसे ।

किन्तु शेषेऽद्य भूमौ त्वं वत्स किंकुपितो ह्यसि ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! तूने आज न तो मुझे प्रणाम किया और न मुझसे कुछ बातचीत की। तू जमीन पर क्यों पड़ा है ? क्या तू मुझसे रूठ गया है ? ॥ ३१ ॥

न त्वहं ते प्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।

किन्तु नालिङ्गसे पुत्रसुकुमार वचो वद ॥ ३२ ॥

यदि तू मुझसे रूठा है तो हे वत्स ! तू अपनी धार्मिक माता की ओर तो देख। तू क्यों मुझसे आ कर नहीं लिपटता और क्यों कोमल वचन नहीं बोलता ? ॥ ३२ ॥

कस्य वाऽपररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम् ? ।

अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वाऽन्यद्विशेषतः ॥ ३३ ॥

अब मैं पिछली रात में धर्मशास्त्र और पुराणादि पढ़ते समय किसका मनोहर एवं मधुर स्वर सुनूँगा ? ॥ ३३ ॥

[ टिप्पणी—इस ब्रह्मचारी का जन्म वैश्य पिता और शूद्रा स्त्री से हुआ था, अतः यह वेदाध्ययन का अधिकारी न था। वह वेद के बड़े पुराणादि पढ़ता था । ]

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।

श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकमयादितम् ॥ ३४ ॥

१ हृदयङ्गमम्—मधुरस्वरं । (गो०) २ अन्याद्वापुराणं—वैश्याच्छूद्राभ्यां जातत्वेन सङ्कटत्वाद्देवप्रसङ्गोक्तः । (रा०) ३ श्लाघयिष्यति—उपचरिष्यति । (गो०)

हे वेदा ! अब शोक और भय से कातर हुए प्रातःकाल स्नान कर, सन्ध्योपासन एवं होम कर मेरे निकट आ कौन मेरी सेवा करेगा ? ॥ ३४ ॥

[ नोट—मुनिपुत्र तो वर्णसङ्कर था अतः उसे सन्ध्योपासन एवं होम का शास्त्ररीत्या अधिकार प्राप्त नहीं था, तब सन्ध्योपासन और होम करने की बात यहाँ क्यों लिखी गई ; इस शङ्का का समाधान शास्त्रानुसार इस प्रकार किया गया है ।

“नमस्कारेणमंत्रेणपञ्चयज्ञान्समापयेत्”

इस वचनानुसार पञ्चयज्ञों के ( इस प्रकार ) करने का अधिकार चतुर्थ वर्ण को भी प्राप्त है । ]

१ कन्दमूलफलं हृत्वा को मां प्रियमिवातिथिम् ।

भोजयिष्यत्यकर्मण्यमग्रग्रहमनायकम् ४ ॥ ३५ ॥

मुझ जैसे असमर्थ, असंग्रही ( वन्य चावल आदि जिसके पास एकत्र नहीं ) और अनाथ को, अब कौन वन से कन्दमूल फल ला कर, प्यारे अतिथि की तरह, भोजन करावेगा ? ॥ ३५ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् ।

कथं वत्स भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३६ ॥

हे वत्स ! इस अंधी, तपस्विनी, दुःखिनी एवं पुत्रवत्सला तेरी बूढ़ी माता का भरण पोषण अब मैं कैसे करूँगा ? ॥ ३६ ॥

१ कन्द—जलोद्भवानांपद्मादीनां । ( गो० ) २ मूलं स्थलोद्भवानाम् । ( गो० ) ३ अग्रग्रहम्—नीवारादि संग्रहरहितम् । ( गो० ) ४ अनायकम्—अनाथम् । ( गो० )



तिष्ठ मामागमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति ।

श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३७॥

हे पुत्र ! ठहर जा और आज यमालय को मत जा । कल मेरे और अपनी माता के साथ चलना ॥३७॥

उभावपि च शोकार्ताविनाथौ कृपणौ वने ।

क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया सह यमक्षयम् ॥ ३८ ॥

तेरे विना शोक पीड़ित, अनाथ और असहाय हो हम दोनों इस वन में नहीं रह सकेंगे, अतः तेरे साथ ही हम भी शीघ्र यमालय को चलेंगे ॥३८॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् ।

क्षमातां धर्मराजो मे <sup>१</sup>विभृयात्पितरावयम् ॥ ३९ ॥

और चल कर यमराज से मिलकर उनसे कहेंगे कि, पुत्र-वियोगकारी पूर्वजन्म में किए हुए हमारे अपराध को आप क्षमा करें, और यह बालक हमारा (दोनों का) पालन करे ॥३९॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।

ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ४० ॥

ऐसी अक्षम्य और अभय-प्रदायिनी दक्षिणा आप हम जैसे को दीजिए । क्योंकि आप धर्मात्मा एव महायशस्वी लोकपाल हैं ॥४०॥

१ विभृयात्—पालयतु । (रा०)

अपापोऽसि यदा पुत्र निहतःपापकर्मणा ।

त्वेन सत्येन गच्छाशु ये लोकाः शस्त्रयोधिनाम् ॥४१॥

हे पुत्र ! तू निर्दोष होने पर भी इस पापी द्वारा मारा गया है । अतः न अपने सत्यबल से, उस लोक में जा, जहाँ योद्धा लोग जाते हैं ॥४१॥

यान्ति शूरा गतिं यां च संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।

हतास्त्वभिमुखाः पुत्रगतिं तां परमां व्रज ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! युद्ध में पीठ न दिखाने वाले वीर लोग, शत्रु द्वारा मारे जाने पर, जिस गति को प्राप्त होते हैं, तू भी उसी परम गति को प्राप्त हो ॥४२॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः ।

नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४३ ॥

हे बेटा ! महाराज सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार जिस गति को प्राप्त हुए हैं, उसी गति को तू भी प्राप्त हो ॥४३॥

या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपसा च या ।

भूमिदस्याहिताग्नेरेकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४४ ॥

जो गति स्वाध्याय और तप में निरत सब महात्मा पुरुषों को प्राप्त होती है, वही गति तुम्हें भी प्राप्त हो । जो गति भूमिदान करने वाले, अग्निहोत्री और एक-पत्नी-व्रत-धारी को प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥४४॥



गोसहस्रप्रदातृणां या या गुरुभृतामपि<sup>१</sup> ।

देहन्यासकृतां<sup>२</sup> या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४५ ॥

हे वत्स ! जो गति महस्र गौ दान करने वाले वो, गुरु-शुश्रूषा करने वाले को तथा महाप्रस्थान का सङ्कल्प कर ( प्रयाग में या अग्नि में ) शरीर त्याग करने वाले को प्राप्त होती है, वही तुझे भी प्राप्त हो ॥४५॥

न हि त्वस्मत्कुले जातो गच्छत्पकुशलां गतिम् ।

स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः<sup>३</sup> ॥ ४६ ॥

क्योंकि हमारे तपस्विकुल में उत्पन्न हो कोई भी नीच गति को प्राप्त नहीं हुआ । नीच गति को तो वह प्राप्त होगा, जिसने मेरे पुत्र तुम्हको मारा है ॥४६॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।

ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वह तपस्वी बार बार करुणापूर्ण विलाप कर, स्त्री सहित अपने मृतपुत्र को जलाञ्जलि देने में प्रवृत्त हुआ ॥४७॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।

स्वर्गमध्यारुहत्क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४८ ॥

तब तो वह धर्मात्मा मुनिकुमार अपने पुण्यकर्मों के बल, दिव्य रूप धारण कर, इन्द्र के साथ तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥४८॥

१ गुरुभृतां—गुरुशुश्रूषाकरिणां । (गो०) २ देहन्यासकृतां—महा-प्रस्थानादिनापरलोकार्थतनुत्यजः । (रा०) परलोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं गङ्गा यमुना सगमादौ जलेनौ वातनुत्यज्यता मित्यर्थः । (गो०) ३—ममबान्धवः—ममपुत्रः । (गो०)

[ टिप्पणी—“स्वर्ग को, इन्द्र के साथ जाने से”, जान पड़ता है कि, स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में ले जाने को आए थे । ]

आवभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।

आशवास्य च मुहूर्तं तु भित्तौ वाक्यमब्रवीत् ॥४६॥

मुनिकुमार स्वर्ग जात समय, इन्द्र के सहित, उन दोनों वृद्धों को एक मुहूर्त तक समझा बुझा, पिता से बोला ॥४६॥

स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचरणात् ।

भयन्तावपि च क्षिप्रं सम मूलमुपैष्यतः ॥ ५० ॥

मैंने आपकी जा सेवा की थी, उसी पुत्र के बल से मुझे यह उत्तम स्थान मिला है । आप दोनों भी अति शीघ्र मेरे पास आवेंगे ॥५०॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।

आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

यह कह, वह जितेन्द्रिय मुनिपुत्र अति दिव्य विमान में बैठ, तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥५१॥

स कृत्वाथोदकं\* तूर्णं तापसः सह भार्यया ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

महाराज दशरथ कहने लगे, हे दाव ! उस महातेजस्वी तपस्वी ने भार्या सहित भटपट पुत्र को जलाञ्जलि दे, मुझसे, जो वहाँ हाथ जोड़े हुए खड़ा था, कहा ॥५२॥

अथैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा ।

यच्छरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५३ ॥

\* पाठान्तरे—“कृत्वातूदक” ।



हे राजन् ! तुम अब मुझे भी मार डालो । मुझे मरने में कुछ भी कष्ट न होगा । क्योंकि मेरे यही इकलौता पुत्र था सो इसे तुमने एक ही बाण से मार मुझे बिना पुत्र का कर दिया ॥५३॥

त्वया तु तदविज्ञानान्निहतो मे सुतः शुचिः ।

तेन त्वामभिषप्स्यामि सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! तुमने यद्यपि अनजान में मेरे धर्मात्मा पुत्र का वध किया है, तथापि मैं इसके लिए तुम्हें यह अति दुस्सह दारुण शाप देता हूँ ॥५४॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन् मम साम्प्रतम् ।

एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं ❀गमिष्यसि ॥ ५५ ॥

हे राजन् मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्रशोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी ॥५५॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः ।

तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥५६॥

तुम क्षत्रिय हो और अनजान में तुमने मुनि की हत्या कर डाली है । इसीसे हे नरेन्द्र ! तुमको ब्रह्महत्या नहीं लगी ॥५६॥

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।

जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणा ॥ ५७ ॥

किन्तु जिस प्रकार दाता को दान का फल अवश्य मिलता है, उसी प्रकार तुमको भी घोर दुःख प्राप्त होगा और उसी दुःख से तुम्हें प्राण भी त्यागने पड़ेंगे ॥५७॥

\* पाठान्तरे—“करिष्यसि”।

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।

चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

( दशरथ जी कौसल्या से कहने लगे ) हे देवि ! इस प्रकार मुझे शाप दे और बहुत सा विलाप कर, चिता बना और उस पर बैठ ( भस्म हो ) वे दोनों स्वर्ग भी चले गए ॥ ५८ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।

तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५९ ॥

हे देवि ! इस चिन्ता में पड़ कर, आज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया, जो मैंने मूर्खतावश, शब्दवेधी बाण चला कर किया था ॥ ५९ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।

अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिमन्नरसो यथा ॥ ६० ॥

हे देवि ! जिस प्रकार खाए हुए अपथ्य अन्न के रस से रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस पापकर्म का फलस्वरूप यह कर्मविपाक आ कर उपस्थित हुआ ॥ ६० ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।

इत्युक्त्वा स रुदन्निस्तो भार्यामाह च भूमिपः ॥ ६१ ॥

हे भद्रे ! उस उदार तपस्वी के दिए हुए शाप के पूरे होने का समय अब आ गया है । यह कह, रुदन कर और ( मरण ) भय से त्रस्त हो, महाराज दशरथ कौसल्या से कहने लगे ॥ ६१ ॥

यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यक्ष्याम्यद्य जीवितम् ।

चक्षुर्म्या त्वां न पश्यामि कौसल्ये साधुर्मा स्पृश ॥ ६२ ॥

\* पाठान्तरे—“सम्भुक्तो ।”



हे कौसल्ये ! पुत्रशोक के कारण मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं, अतः तू अब मुझे नहीं देख पड़ती । अतः तू मेरे शरीर को छू ॥ ६२ ॥

यमक्षयमनुप्राप्तं ❀ द्रक्ष्यन्ति न हि मानवाः ।

यदि मां संस्पृशेद्रामः सकृदद्य लभेत वा ॥ ६३ ॥

[ धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६४ ॥

क्योंकि यमधाम को जाने वाले लोगों को आँखों से नहीं देख पड़ता । यदि श्रीरामचन्द्र इस घड़ी एक बार भी मुझे छू लें अथवा यौवराजपद तथा धन सम्पत्ति ग्रहण करना स्वीकार कर लें, तो बोध होता है कि, कदाचित् मैं जीता बच जाऊँ । हे कल्याणी ! मैंने श्रीरामचन्द्र के साथ जैसा व्यवहार किया है, वैसा करना मेरे लिए उचित नहीं था ॥ ६३ ६४ ॥

सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत श्रीरामचन्द्र का मेरे प्रति वह व्यवहार सर्वथा उचित है । इस संसार में कौन ऐसा विचारवान मनुष्य होगा, जो अपने दुष्ट पुत्र को भी त्याग दे ॥ ६५ ॥

कश्च प्रवाज्यमानो वा नास्त्रयेत्पितरं सुतः ।

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥ ६६ ॥ ]

और कौन ऐसा पुत्र होगा जो घर से निकाले जाने पर भी पिता की निन्दा न करे । हे देवि ! आँखों से तू अब मुझे नहीं देख पड़ती और मेरी स्मरणशक्ति भी नष्ट होती जाती है ॥ ६६ ॥

\* पाठान्तरे—“प्राप्ता ।”

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६७ ॥

हे कौसल्ये ! यमराज के दूत, चलने के लिए जल्दी कर रहे हैं । अतः अब इससे बढ़ कर अन्य दुःख कौन सा हो सकता है कि, मैं मरते समय भी ॥ ६७ ॥

न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः<sup>१</sup> ॥ ६८ ॥

उस सत्यपराक्रमी और धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ । उस पुत्र को, जिसने कभी मेरा किसी बात में सामना नहीं किया न देखने से उत्पन्न शोक ॥ ६८ ॥

उच्छ्रोषयति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ।

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६९ ॥

मेरे प्राणों को उसी प्रकार सोख रहा है, जिस प्रकार उष्णता जल को थोड़ा थोड़ा कर सुखाती है । वे मनुष्य नहीं, किन्तु देवता हैं, जो सुन्दर कुण्डल पहिने हुए ॥ ६९ ॥

मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ७० ॥

कमल नेत्र वाले, सुन्दर भ्रुकुटि वाले, सुन्दर दाँतों वाले और सुन्दर नासिका युक्त श्रीराम के मुख को पन्द्रहवें वर्ष पुनः देखेंगे ॥ ७० ॥

१ अप्रतिकर्मणः—प्रतिक्रियारहितस्य । ( गो० )



धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपनिभं मुखम् ।

सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७१ ॥

सुगन्धि मम नाथस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति तन्मुखम् ।

निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७२ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो श्रीराम के चन्द्रमा तुल्य मुख को देखेंगे । शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, प्रफुल्लित कमल की सुगन्ध से युक्त, श्रीराम का मुख जो लोग उनके वनवास से लौट कर अयोध्या में आने पर देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।

कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं<sup>१</sup> सीदतीव<sup>२</sup> मे ॥ ७३ ॥

अथवा अपने मार्ग को प्राप्त हुए शुक्र की तरह वनवास से अयोध्या में आए हुए श्रीराम को जो लोग देखेंगे, वे यथार्थ में सुखी होंगे । हे कौसल्ये ! मन की घबड़ाहट से मेरा हृदय अब कटा जाता है ॥ ७३ ॥

येन वेद न संयुक्ताब्जशब्दस्पर्शरसानहम् ।

चित्तनाशाद्विपद्यन्ते<sup>३</sup> सर्वाण्येवेन्द्रियाणि मे ॥ ७४ ॥

अतएव इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द, स्पर्श, रसादि गुण भी मुझे नहीं जान पड़ते । क्योंकि चित्त के नाश होने पर ये सब इन्द्रियाँ भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं । ॥ ७४ ॥

१ हृदयं—मनसोधिष्ठानं (गो०) २ सीदतीव—विशीर्यतीव । (गो०)  
३ विपद्यन्ते—परिणतानिभ्रवन्ति । (शि०) \* पाठान्तरे—“वेदये  
न च ।”

क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संसक्ताः रश्मयो यथा ।

अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतसम् ॥ ७५ ॥

जैसे तेल के जल जाने पर दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है। यह मेरे हृदय में उत्पन्न शोक मुक्त अचेत और अनाथ को, ॥७५॥

संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ।

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशनः ॥ ७६ ॥

उसी प्रकार गिरा रहा है, जिस प्रकार नदी की धार का वेग नदी के करारे को गिराता है। हा राघव ! हा महाबाहो ! हा मेरे दुःख को दूर करने वाले ! ॥७६॥

हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽद्य क्वासि गतः सुत ।

हा कौसल्ये विनश्यामि† हा सुमित्रे तपस्विनि ।

हां नृशंसे ममामित्रे कैकेयिं कुलपांसनि ॥ ७७ ॥

हा पिता क लाडले, हे मेरे नाथ ! हे मेरे बेटे, तुम कहाँ गए ? हा कौसल्या, हा तपस्विनी सुमित्रा ! अब मैं मरता हूँ। हा क्रूर मेरी बैरिनी और कुलनाशिनी कैकेयी ! ॥७७॥

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्चसन्निधौ ।

राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ ने राममाता और सुमित्रा की सन्निधि में, विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिए ॥७८॥

१ संसक्तः—दीपाविनाभूताः । (गो०) २ आयासनाशन—दुःख-नाशन । (गो०) \* पाठान्तरे—“अचेतनम्” । † पाठान्तरे—“नशि-ष्यामि” ।



तदा ॐ तु दीनं कथयन्नराधिपः ।

प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।

गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः

तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७६ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

उदार एवं दर्शनीय महारज ने दीन वचन कहते हुए, प्रिय पुत्र के वनवास से व्याकुल हो, आधी रात बीतने पर, अत्यन्त दुःखी हो प्राण त्यागे ॥७६॥

अयोध्याकाण्ड का चौमटवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:०:—

अथ राज्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।

वन्दिनः पर्युपातिष्ठन्पार्थिवस्य निवेशनम् ॥ २ ॥

रात बीतने पर अगले दिन प्रातःकाल के समय, महाराज के राजद्वार पर वन्दाजन आए ॥१॥

सूताः परमसंस्कारा<sup>१</sup> मागधाश्चोत्तमश्रुताः<sup>२</sup> ।

गायकाः स्तुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

१ परमसंस्काराः—व्याकरणाद्युत्तमसंस्कारयुक्ताः । ( गो० ) २ उत्तमश्रुताः—वंशपरम्पराश्रवणमेषां ते मागधाः । ( रा० ) \* पाठान्तरे—यदा तु' ।

व्याकरणादि शास्त्रों में चतुर सूत और वंशपरम्परा का कीर्तन करने में निपुण मागध, तान, लय एवं स्वर, के ज्ञाता गवैया, राजभवन के द्वार पर उपस्थित हो, अपनी रीति के अनुसार, पृथक् पृथक् महाराज के गुण कीर्तन करने लगे ॥२॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।

प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्ददोः व्यवर्धत ॥३॥

उच्चस्वर से महाराज की स्तुति करने वाले और आशीर्वाद देने वाले उन लोगों के नाद से सम्पूर्ण राजभवन भर गया ॥३॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।

१अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर ताली बजा कर ताल देने में निपुण ( पाणिवादक ) लोग ताली बजा बजा कर महाराज के अद्भुत कर्मों का वर्णन करने लगे ॥४॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः ।

शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

इससे वे पक्षी जां राजभवन के वृक्षों की शाखाओं पर रहते थे और जो पालतू होने के कारण पिंजड़ों में रहते थे, जागे और बोलने लगे ॥५॥

व्याहृताः २ पुण्यशब्दाश्च ३ वीणानां चापि निःस्वनाः ।

आशीर्गेयं च गाथानां ४ पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

१ अपदानानि—वृत्तान्यद्भुतकर्मणि । (गो०) २ व्याहृताः—ब्राह्म-शौरकाः । (गो०) ३ पुण्यशब्दाः—पुरुषक्षेत्रतार्थकीर्तनादिरूपाः । (गो०)- ४ गाथानां—दशरथ विषय प्रबन्ध पुण्य विशेषाणां । (गो०) \* पाठान्तरे —“ह्यवर्तत” ।



ब्राह्मणों के आशीर्वादात्मक वाक्यों से, पालतू पक्षियों की उन बोलियों से, जो भगवन्नाम अथवा पवित्र तीर्थों के नाम ले कर बोल रहे थे, बीणा की ध्वनि से, आशीर्वाद से तथा महाराज दशरथ सम्बन्धी प्रबन्ध विशेषों के बखान से राजभवन पूरित हो गया ॥६॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः<sup>१</sup> ।

स्त्रीवर्षधर<sup>२</sup>भूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदन्तर सदाचार सम्पन्न कालोचित सेवा करने में निपुण और नपुंसक ( खोजा लोग ) प्रति दिन प्रथानुसार आ कर उपस्थित हुए ॥७॥

हरिचन्दनसम्पृक्तमुदक काञ्चनैर्घटैः ।

आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥

महाराज को स्नान करवाने वाले लोग जो स्नान कराने की विधि के विशेषज्ञ थे, सुवर्ण के कलसों में हरिचन्दन मिला हुआ जल भर कर यथासमय और यथाविधान लाए ॥८॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।

उपानिन्युस्तथाऽप्यन्याः कुमारीश्चहुलाः स्त्रियः ॥९॥

अनेक कुमारीप्राय सुन्दर स्त्रियाँ ने तेल उबटनादि, दन्त-धावन तथा कुल्ली करने के लिए जल्लादि तथा शीशा, कंघा, तोलिया आदि सामग्री ला कर उपस्थित की ॥९॥

१ पर्युपस्थानकोविदाः—कालोचितपरिचर्याविचक्षणः । ( गो० ) २ स्त्री वर्षधरभूयिष्ठाः—अन्तःपुराध्यक्षीभिः वर्षधरैःषण्डैश्चसमृद्धा । ( गो० )

३ कुमारीबहुला—कुमारीप्रायाः । ( गो० )

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।

सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्रभूवाभिहारिकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण युक्त, विधि पूर्वक सजी हुई, अतः सर्वगुण और शोभायुक्त, महाराज के प्रातःकृत्य की सब सामग्री ला कर एकत्र की गयी ॥१०॥

तत्तु सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् ।

तस्थानुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय पर्यन्त सब लोग महाराज के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहे और आपस में कहते थे कि, कारण क्या है, जो महाराज आज अब तक सो कर नहीं उठे ॥११॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं<sup>१</sup> प्रत्यनन्तराः ।

ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

कौसल्या जी के अतिरिक्त और जो सब स्त्रियाँ वहाँ महाराज की सेज के समीप थीं, मिल कर महाराज को जगाने लगीं ॥१२॥

तथाप्युचितं<sup>२</sup> वृत्तास्ता विनयेन<sup>३</sup> नयेन<sup>४</sup> च ।

न ह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किञ्चिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने बड़े प्यार से और युक्त से, महाराज के शरीर को स्पर्श कर, जब देखा, तब उनमें जावित पुरुष जैसे कुछ भी

१. शयनप्रत्यन्तरा—शयनसन्निकृष्टादित्यर्थः । ( गो० ) २ उचित-  
वृत्ताः—स्पर्शनादिव्यापारोचिताः । ( गो० ) ३ विनयेन—प्रश्रयेण ।  
( गो० ) ४ नयेन—युक्त्या । ( गो० )



चेष्टा न पायी ( अर्थात् साँस का आना जाना आदि न जान पड़ा ) ॥१३॥

ताः स्त्रियः १स्वप्नशीलज्ञाश्च शासञ्चलनादिषु ।

तां वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

तब वे सब स्त्रियाँ, जो महाराज के सोने के समय की हालत चेष्टा और नाड़ीसञ्चार को भली भाँति जानती थीं, महाराज की यह दशा देख, थरथरा उठीं और महाराज के जीवित रहने में उनको सन्देह उत्पन्न हो गया ॥१४॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं सञ्चकम्पिरे ॥

अथ संवेपमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ॥१५॥

महाराज के जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण वे सब स्त्रियाँ उसी प्रकार थरथर काँपने लगीं जिस प्रकार नदी के साँते में उत्पन्न वेत या नरकुल काँपा करता है ॥१५॥

यत्तदाशङ्कित पापं २ तस्य जज्ञे विनिश्चयः ।

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते ३ ॥ १६ ॥

उन लोगों को महाराज के जीवित रहने में जो सन्देह था, वह अब निश्चय में परिणत हो गया—( अर्थात् उनको निश्चय हो गया कि, महाराज ने शरीर त्याग दिया ) । तब कौसल्या और सुमित्रा जो पुत्रों के वियोगजन्य शोक से ग्रस्त हो ॥१६॥

१स्वप्नशीलज्ञा—स्वापस्वभावज्ञाः । ( गो० ) २ मत्पापं—मरणरूप माशङ्कितं । ( ग० ) ३ पराजिते—आक्रान्ते । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“संचकाशिरे” ।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथाकालसमन्विते ।

निष्प्रभा च विवर्णा च सन्ना शोकेन सन्नता ॥ १७ ॥

मृतक की तरह सो रही थीं न जागी । मारे शोक के कौमल्या निस्तेज और पीली पड़ गई थीं उनका शरीर एकदम कुश हो गया था ॥ १७ ॥

न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ।

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार बादल के अंधेरे में छिपे नक्षत्र शोभित नहीं होते; वैसे ही महाराज के समीप कौमल्या व सुमित्रा शोकरूपी बादल से ढकी होने के कारण शोभा रहित हो रही थीं ॥ १८ ॥

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ।

ते च दृष्ट्वा तथा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ॥ १९ ॥

राजभवन की अन्य स्त्रियाँ भी शोक से अश्रुपात करती हुई शोभित नहीं होती थीं ! उन स्त्रियों ने देखा कि, कौसल्या और सुमित्रा सो रही हैं और महाराज ॥ १९ ॥

सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमदृश्यत ।

ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ॥ २० ॥

के निद्रावस्था ही में प्राण निकले हुए देख, वे अन्तःपुरवासिनी स्त्रियाँ अति दीन हो उच्च स्वर से रोने लगी ॥ २० ॥

---

१ यथाकालसमन्विते—मृतेष्वप्रसुप्ते न प्रबुध्येते । ( गो० )



करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ।

तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने ॥ २१ ॥

जिस प्रकार वन में अपने समूह से विछुड़ने पर हथनियाँ चिल्लाती हैं, उसी प्रकार इन सब का बड़े-जोर से रोने का चीत्कार सुन, एकाएकी जाग कर ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।

हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौसल्या और सुमित्रा महाराज को देख वा उनके शरीर पर हाथ रख (और शरीर को ठंडा पा और महाराज को भरा हुआ जान,) “हा नाथ !” कह कर चिल्लाती हुई, पृथिवी पर पछाड़ खा कर, गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता वेषमाना महीतले ।

न बभ्राज रजोध्वस्ता तारेव गगनाच्च्युता ॥ २३ ॥

कौसल्या जी जमीन पर लोट रहीं थीं, अतः उनके सारे शरीर में धूल लग गई थी। उस समय धूलधूसरित वे आकाश से गिरे हुए तारा की तरह जान पड़ती थीं ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणेः जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।

अपश्यन्ताः स्त्रियः सर्वा हर्ता नागवधूमिव ॥ २४ ॥

महाराज के मरने पर, कौसल्या को जमीन पर लोटते हुए उन सब स्त्रियों ने ऐसे देखा, मानों कोई नागवधू पड़ी हो ॥ २४ ॥

१ शान्तगुणे—शान्तदेहोष्णस्पन्दनादिगुणे । ( गो० )

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखा स्त्रियः ।

रुदन्त्यः शोकसन्तप्ता निपेतुर्धरणीतले ॥ २५ ॥

तब महाराज की कैकेयी आदि सब स्त्रियाँ रुदन करती हुई, शोक से सन्तप्त होने के कारण, मूर्छित हो, जमीन पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः ? ।

येन स्थिरीकृतं भूयस्तद्गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर (पूर्व) आई हुई स्त्रियों के रोने का तुमुल शब्द पीछे आई हुई कैकेयी आदि स्त्रियों के रोने के शब्द से मिल, और भी अधिक हो गया और उस आर्तनाद से सम्पूर्ण राज-भवन पूरित हो गया ॥ २६ ॥

तत्समुत्रस्तसम्भ्रान्तं पर्युत्सुकजनाकुलम् ।

सर्वतस्तुमुलाक्रन्द परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥

सद्यो निपतितानन्दं दीनविक्लवदर्शनम् ।

बभूव नरदेवस्य सद्य दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज दशरथ का राजभवन त्रस्त, विकल और व्यग्र जनो से भरा, महा चीत्कार से युक्त और परिताप से सन्तप्त बन्धुजनों से भरा हुआ, आनन्द रहित और दीनता से परिपूर्ण हो गया था। वह राजभवन भाग्यहीन सा देख पड़ता था ॥ २७ ॥ २८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं

यशस्विनं सम्परिवार्य पत्नयः ।

१ अनुद्रुतः—अनुसृतोभूत् । (गो०) ॥ पाठान्तरे—“निपेतुर्गतचेतनाः”



भृशं रुदन्त्यः करुणं सुदुःखिताः

प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २६ ॥

इति पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥

राजाओं में श्रेष्ठ और यशस्वी महाराज दशरथ को मरा देख,  
उनकी सब रानियाँ महा दुःखी हो अत्यन्त करुणपूर्ण स्वर से  
रो-रो कर और महाराज दशरथ की बाहें पकड़ अनाथ की तरह  
विलाप करने लगीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:ॐ:—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:००:—

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।

हतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ को बुझी हुई आग अथवा जलहीन समुद्र  
अथवा हतप्रभ सूर्य की तरह स्वर्गवासी हुआ देख, ॥ १ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककरिंता ।

उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

कौसल्या ने महाराज का सिर अपनी गोद में रख और  
विविध प्रकार के शोकों से उत्पीड़ित होने के कारण रोते-रोते  
कैकेयी से कहा ॥ २ ॥

१ राज्ञः शिरउपगृह्य—राज्ञःशिरःकृत्वा । ( गो० )

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्त्व राज्यमकण्टकम् ।

त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा<sup>१</sup> नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

अरी दुष्टा कसाइन ! अब अपनी साध पूरी कर और निष्कण्टक राज्य सुख भोग । महाराज को प्रिदा कर, अब तू अपने पुत्र के राज्यसुख में एकाग्रचित्त हो ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।

विपथे सार्थहीनेव<sup>२</sup> नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

श्रीराम तो मुझे छोड़ चला ही गया था, महाराज भी अब नहीं रहे । दुर्गम पथ में सहायक साथी छूटे हुए पथिक की तरह, मुझे अब जीने को साध नहीं है ॥ ४ ॥

भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।

इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

हाय ! कौन ऐसी स्त्री होंगी, जो अपने परम देवता स्वामी को छोड़ कर, जीवित रहना पसन्द करेगी । एक कैकेयी अवश्य जीवेगी, क्योंकि उसने अपना धर्म त्याग दिया । ( अर्थात् पति-व्रत धर्म ) ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान्<sup>३</sup> किंपाकमिव भक्षयन् ।

कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघलाणां कुलं हतम् ॥

हा ! जो लालची होता है वह लालच के दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, जैसे भूखा मनुष्य विषमिश्रित पदार्थ को भुधा

---

१ एकाम्रा—पुत्रराज्यैकाग्रचित्ता । ( रा० ) २ सार्थहीना—सहाय-  
भूत पथिकसङ्घरहितेत्यर्थः । ( गो० ) ३ किम्पाकं—कुत्सितपाकं ( गो० ) ।



वश खाते समय तज्जनित दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता,  
हा ! कुब्जा के कहने से कैकेयी ने महाराज रघु के कुल का  
नाश कर डाला ॥ ६ ॥

१ अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।

सभार्य जनकः श्रुत्वा परितपस्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

जब राजा जनक सुनेंगे कि, कैकेयी के द्वारा अनुचित रीति  
से प्रेरणा किए जाने पर महाराज दशरथ ने रामचन्द्र को स्त्री  
सहित वन भेज दिया, तब उनको सन्ताप होगा ! ॥ ७ ॥

स मामनार्था विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।

रामः कमलपत्राक्षो रजीवनाशमितो<sup>२</sup> गतः ॥ ८ ॥

इस समय कमलनयन धर्मात्मा राम यह न जानता होगा  
कि, यहाँ महाराज के मरने से मैं अनाथा और विधवा हो  
गई ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा सीता तपस्विनी<sup>४</sup> ।

दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यते<sup>५</sup> ॥ ९ ॥

राजा जनक की पुत्री बापुरी सीता जो दुःख सहने योग्य नहीं  
है, वन में अनेक प्रकार के दुःख पाकर घबड़ाती होगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।

निशम्य नून संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

१ अनियोगे—वरप्रदानसमये वरस्य विशेषनिर्देशाभावे सति (गो०)

२ जीवनाशगतः—राजाजीवनाशगतः प्राप्तः । (गो०) ३ इतः अत्रदेशे ।  
(गो०) ४ तपस्विनी—शोचनीया । (गो०) ५ पाठान्तरे—“विजिष्यति” ।

सीता जब कि, रात में सिंह व्याघ्रादि जन्तुओं का डरावना दहाड़ना और पक्षियों की बोलियाँ सुनती होगी, तब मारे डर के श्रीराम के गले में लिपट जाती होगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च१ वैदेहीमनुचिन्तयन् ।

सोऽपि२ शोकसमाविष्टो ननुत्यक्ष्यति जीवितम् ॥११॥

वे राजा जनक भी, जो बूढ़े हैं और जिनके केवल कन्या सन्तति है, सीता जी के कष्टों का स्मरण कर और शोक से विकल हो, शरीर छोड़ देंगे ॥ ११ ॥

साऽहमद्यैव३ दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।

इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

अतः पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई मैं आज ही प्राण त्यागने के लिए, महाराज के शव से चिपट, अग्नि में प्रवेश करूँगी अर्थात् सती हो जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्वनीम् ।

व्यपनिन्युःसुदुःखार्ताकौशल्यार्थाव्यावहारिकाः४॥१३॥

अन्तःपुर के तथा राज्य के रीति व्यवहार ( अर्थात् जाप्ता ) जानने वाले अर्थात् मंत्रियों ने महाराज के शव से अत्यन्त दुःखिनी बापूरी कौशल्या को हटा कर अलग किआ ॥ १३ ॥

१ अल्पपुत्रः—दुहितृमात्रपुत्रः । ( गो० ) २ सोऽपि—जनकोपि । ( गो० ) ३ दिष्टान्तं—मरणं । ( गो० ) ४ व्यावहारिकाः—व्यवहारेवाद्याभ्यन्तर सकलराजकृत्येनियुक्ताः अमात्याइत्यर्थः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“व्यवनीयः”



तैलद्रोण्यामथामात्थाः संवेश्य जगतीपतिम् ।

राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टश्चक्रुः कर्मण्यनन्तरम् ॥१४॥

और उन मंत्रियों ने महाराज के शव को तेल भरे कढ़ाह में रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं । तदनन्तर वे पूर्व के राजा-ज्ञानुसार सब कृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

न तु ❀संस्करणं राज्ञो विना पुत्रेणमन्त्रिणः ।

सर्वज्ञाः<sup>१</sup> कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥१५॥

समयोचित कृत व्यों को जानने वाले मंत्रियों ने बिना किसी राजकुमार के आए महाराज के शव के अग्निसंस्कारादि क्रिया कर्म करना उचित न समझा । अतः महाराज के शव ( को तेल से भरी कढ़ाई में ) रखवा दिया ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम् ।

हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥१६॥

जब मंत्रि लोग महाराज के शव को तेल से भरी कढ़ाई में लिटाने लगे, तब वे स्त्रियाँ महाराज का मरना निश्चय जान, हा महाराज ! मर गए । ”—कह कर विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुद्यम्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मखैः ।

रुदन्त्यः शोकसन्तप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

वे दुःखिनी स्त्रियाँ अपनी भुजाओं को उठा उठा कर और आँखों से अश्रुधारा बहा तथा शोक से सन्तप्त हो, विलाप करने

१ सर्वज्ञाः— सर्वधर्मज्ञाः । (गो०)❀ पाठान्तरे—“सङ्कलनं” ।

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।

विहीनः सत्यसन्धेन किमर्थं विजहासि नः ॥१८॥

हा महाराज । हमें सदैव प्रिय बोलने वाले श्रीराम से रहित कर, आप हमें छोड़ कर क्यों चले जाते हैं ! ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण वियोजिताः ।

कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥१९॥

अब हम श्रीरामचन्द्र जी से बिछुड़ कर, इस दुष्टा तथा पति को मारने वाली कैकेयी के साथ, विधवा होकर, कैसे रह सकेंगी ! ॥ १९ ॥

स हि नाथः सदाऽस्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।

वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥२०॥

क्योंकि श्रीराम जो हमारे और आपके जीवनाधार थे, राज्यलक्ष्मी को छोड़, वन को चले गए ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।

कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः ? ॥२१॥

अब हम सब तुम्हारे बिना और राम के न रहने पर, दुःख में फँस, कैकेयी के तिरस्कारों को सहन करती हुई किस प्रकार रह सकेंगी ? ॥ २१ ॥

यया तु राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।

सीतया सह सन्त्यक्ता सा कमन्यं न हास्यति ॥२२॥

---

विदूषिताः—राज्यगर्वातिरस्कृताः । (गो०) • पाठान्तरे—विहीनाः ।



जिसने महाराज को, राम एवं महावली लक्ष्मण तथा सीता को त्याग करने में सङ्कोच न किया वह भला किसको नहीं त्याग सकती ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीतः शोकेन विपुलेन च ।

व्यवेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

इस प्रकार महाराजा दशरथ की सर्वश्रेष्ठा रानियाँ नेत्रों से आँसू बहाती और महाशोकग्रस्त होने के कारण, आनन्दरहित हो गयीं ॥ २३ ॥

निशा चन्द्रविहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।

पुरी नाराजतायोध्या बिना राज्ञा महात्मना ॥ २४ ॥

उस समय अयोध्यापुरी चन्द्र धिन यामिनी और कन्त बिन कामिनी की तरह, महाराज दशरथ के बिना अच्छी नहीं लगती थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।

शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम्<sup>२</sup> ॥ २५ ॥

क्योंकि जिधर देखो उधर लोग रोते हुए देख पड़ते थे और स्त्रियाँ हाहाकार मचा रही थीं । घर और चौराहों में भाड़ तक नहीं पड़ी थी । सारांश यह कि अयोध्या की जैसी शोभा पहले थी; वैसी अब नहीं देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकाऽत्रिदिवं नराधिपे

महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

१ शून्यचत्वरिति—संमार्जनातुलेपनबल्यादि शून्यचत्वरदियुक्तेति यावत् ( गो० ) २ यथापुरं—यथापूर्वं । ( गो० ) ३ शोकात्—पुत्रशोकात् । ( गो० )

निवृत्तचारः<sup>१</sup> सहसा गतो रविः

प्रवृत्तचारा<sup>२</sup> रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

पुत्रशोक में महाराज दशरथ के स्वर्ग सिधारने पर, उनकी सब रानियाँ जमीन पर पड़ी रो रही थीं। इतने में दिन डूब गया और अंधकार को लिए हुए रात हो आयी ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्रादहनं महीपतेः

न रोचयन्ते सुहृदः समागताः ।

इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

राजवंश के जो हितैषी भाईबंद वहाँ एकत्र हुए थे, उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि, बिना किसी राजपुत्र के आए महाराज के शव की दाहक्रिया किया जाना ठीक नहीं है। अतः शव को तेल के कढ़ा में रखा रहने दिया जाय ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना

व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।

पुरी बभासे रहिता महात्मना

न चास्रकण्ठाऽऽकुलमार्गचत्वरः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज के स्वर्ग सिधारने पर अयोध्यापुरी की सड़कें और चौराहों पर रोते हुए और वाष्परुद्धकण्ठ वाले लोगों

---

१ निवृत्तवारः—निवृत्तकिरणप्रवारः । ( गो० ) २ प्रवृत्तचारा—  
प्रवृत्ततमःप्रचारा । ( गो० )



६८

## अयोध्याकाण्डे

की भीड़ हो जाने से, अयोध्यापुरी सूर्यहीन आकाश अथवा नक्षत्र  
हीन रात्रि की तरह प्रभाहीन हो गई ॥ २८ ॥

नराश्च नायश्च समेत्य सङ्गशो

विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।

तदा नगर्यां नरदेवसंचये

बभ्रूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः

महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरीवासी क्या  
पुरुष, क्या स्त्री, सब इकट्ठे हो, एक स्वर से भरत की माता  
कैकेयी को धिक्कारने लगे । उस समय सभी दुःखी थे; सुखी  
कोई न था ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—०—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:०:—

आक्रन्दितनिरानन्दा साश्रुकण्ठजनाकुला ।

अयोध्यायामवतता<sup>१</sup> सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

रोते रोते किसी के भी मन में आनन्द नहीं रह गया था,  
सब लोग आँसू गिराते बराबर रो रहे थे । वह दुःख की रात  
लोगों के लिए पहाड़ जैसी बड़ी हो गई थी । किसी न किसी  
तरह वह व्यतीत हुई ॥ १ ॥

१ अवतता—दीर्घा । ( गो० )

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।

समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीती और सूर्य उदय हुए, तब राजकाज में साहाय्य देने वाले अधिकारी द्विज इकट्ठे हो सभा में आए ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः ।

कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥

उनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अथवा मुख्य थे मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि ॥ ३ ॥

एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन् १ ।

वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

ये ब्राह्मण मन्त्रियों साहित आकर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठ जी के सामने बैठ, अलग अलग अपना अपना आशय प्रकट करने लगे ॥ ४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वषशतोपमा ।

अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

बीती हुई रात, जो हमें सौ वर्ष के समान जान पड़ती थी, किसी प्रकार बीती । क्योंकि इसी रात में पुत्रशोक से विकल महाराज दशरथ पञ्चतत्व को प्राप्त हुए ( मरे ) ॥ ५ ॥

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

१ पृथक्—भिन्न । ( शि० ) २ उदीरयन्—अकथयन् । ( शि० )

वा० रा०—४४



महाराज स्वर्गवासी हुए हैं और श्रीरामचन्द्र जी वन में हैं ।  
तेजस्वी लक्ष्मण भी श्री राम के साथ वन में हैं ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकयेषु परन्तपौ ।

पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

परन्तप दोनों भरत और शत्रुघ्न केकय देश की राजधानी में  
अपने नाना के घर में विराजमान हैं ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम् ।

अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा बनाना  
चाहिए । नहीं तो कहीं राजा के बिना हमारा राष्ट्र नष्ट न हो  
जाय ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।

अभिवर्षति पर्जन्यो महीं शिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता, वहाँ बिजली की चमक सहित  
अत्यन्त गरजने वाले मेघ दिव्य जल पृथिवी पर नहीं बरसाते—  
अर्थात् ओले बरसाते हैं ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।

नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

अराजक देश में किसान लोग खेतों में बीज नहीं छिटकाते,  
और अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के वश  
में नहीं रहती अर्थात् सब स्वतंत्र हो जाते हैं ॥ १० ॥

१ दिव्येनेत्यनेन शिलावर्षस्तुभविष्यतीतिभावः । ( गो० )

अराजके धनं नास्ति नास्ति १भार्याऽप्यराजके ।

इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाना ( क्योंकि चोर डाकू बरजोरी ले लेते हैं । ) स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं । जब घर की स्त्री तक का ठिकाना नहीं, तब सत्य भला कैसे रह सकता है । ( अर्थात् अराजक देश में सत्य-व्यवहार भी नहीं रह जाता ) ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।

उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥ १२ ॥

अराजक देश में प्रसन्न हो वर प्रजाजन ( अस्वस्थ मन रहने के कारण ) न तो सभा समाज करते, न रमणीक बाग बगीचा लगवाते—( क्योंकि राजा के दंड का भय न रहने से लोग पेड़ काट डालते हैं ) और न पुण्य बढ़ाने वाले देवालय ( अथवा धर्म शालाएँ ) आदि बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।

३सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १३ ॥

अराजक देश में न तो द्विजाति यज्ञ करते और न कठोर व्रत धारण करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण, महायज्ञ ही कराते हैं । ( विघ्न के भय से ) ॥ १३ ॥

१ नास्तिभार्या—व्यभिचारनिरतत्वात् गृहे न तिष्ठतीत्यर्थः । ( शि० )  
२ पुण्यगृहाणि—देवतायतनादीनि । ( गो० ) ३ सत्राणि—महायज्ञान् । ( गो० )



नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।

ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः<sup>१</sup> ॥ १४ ॥

अराजक राज्य में धनसम्पन्न ब्राह्मण भी बड़े यज्ञों में ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा नहीं देते ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।

उत्सवाश्च<sup>२</sup> समाजाश्च<sup>३</sup> स्वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

अराजक राज्य में नट और बेड़िया लोग भी ( आजीविका के अभाव से ) प्रसन्न नहीं रहते । और न वहाँ देश की वृद्धि करने वाले देवोत्सव होते हैं और न तीर्थों पर यात्रियों के मेले आदि ही लगते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था<sup>४</sup> व्यवहारिणः<sup>५</sup> ।

कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

अराजक राज्य में व्यवहार करने वालों में ( रुपये का लैन दैन करने वालों में ) अथवा ( माल बेचने खरीदने वालों में ) विवाद उपस्थित होने पर, किसी का भी प्रयोजनसिद्ध नहीं होता; अर्थात् मुकदमें लड़ने वालों का न्याय ( राजा के अभाव से ) नहीं होता । ( राजा के न रहने से पुरस्कार के अभाव में ) कथा बाचने वाले अच्छी कथा बाँच कर, कथा सुनने वालों को सन्तुष्ट नहीं करते ॥ १६ ॥

१ आप्तदक्षिणाः—भूरिदक्षिणाः । ( गो० ) २ उत्सवाः—देवतोत्सवाः । ( गो० ) ३ समाजाः—तीर्थयात्राः । ( गो० ) ४ सिद्धार्थाः—लब्धप्रयोजनाः । ( गो० ) ५ व्यवहारिणः—कमप्यर्थमुद्दिश्यान्वोन्यं विवदमानाः । ( गो० )

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।

सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥१७॥

अराजक राज्य में सोने के गहने धारण कर, कुमारियाँ साय-  
ङ्काल के समय बाटिकाओं और उपवनों में खेलने नहीं जातीं ।  
(क्योंकि राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है) ॥१७॥

नाराजके जनपदे वहनैः शीघ्रगामिभिः ।

नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥१८॥

अराजक राज्य में कामी पुरुष तेज चलने वाली सवारियों में  
बैठ, स्त्रियों सहित वनविहार करने नहीं जाते ॥१८॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।

शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १९ ॥

अराजक राज्य में धनी सुरक्षित नहीं रह सकते और न  
किसान और ग्वाले गड़रिये ही अपने घरों के किवाड़ खोल ठंडी  
हवा में सुख से सो सकते हैं ॥१९॥

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः १ ।

अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः २ ॥ २० ॥

अराजक राज्य में हाथी, जो साठ वरस की उम्र होने  
पर, बड़े बड़े दाँतों वाले हो जाते हैं, घंटों को घनघनाते राज-  
मार्गों पर नहीं चल सकते (क्योंकि गुण्डे उनके दाँतों ही को  
काट लें) ॥ २० ॥

---

१ विषाणिनः—प्रशस्तदन्ताः । (गो०) २ षष्टिहायनाः—षष्टिवर्षाः ।  
(गो०)



नाराजके जनपदे शरान् सततमश्रयताम् ।

श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥ २१ ॥

अराजक देश में बाण विद्या का अभ्यास करने वाले धनुर्धरों के हस्ततल का शब्द नहीं सुन पड़ता ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।

गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

अराजक जनपद में दूर देशों के सौदागर लोग माल बेचने के लिए बहुत सा माल लेकर, निर्भय हो अथवा सकुशल यात्रा नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ३ ।

भावयन्नात्मनात्मानं ५ यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ २३ ॥

अराजक देश में, अकेले घूमने वाले, जितेन्द्रिय और अपने आत्मा से परमात्मा का चिन्तन करने वाले (अर्थात् परब्रह्म का ध्यान करने वाले) मुनि, सन्ध्याकाल होने पर किसी के द्वार पर नहीं टिकते (क्योंकि कोई उन्हें भोजन नहीं देता)। अथवा अराजक देश में जितेन्द्रिय मुनि लोग, परमेश्वर का एकान्त में भजन करते हुए दिन भर घूम फिर सायंकाल होने पर, किसी के द्वार पर नहीं टिकते ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।

न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २४ ॥

१ अश्रयता—क्षिपतां । ( गो० ) २ उपासने—अभ्यासे । ( गो० )

३ वशी—जितेन्द्रियः । ( गो० ) ४ भावयन्—चिन्तयन् । ( गो० )

५ आत्मानं—परमात्मनं । ( गो० ) ६ विषहते—जयति । ( गो० )

अराजक राज्य में न तो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा हो सकती है और न बिना नायक के सेना रण में शत्रु को जीत सकती है ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः ।

नराः संयान्ति सहसा रथैश्च परिमण्डिताः<sup>१</sup> ॥ २५ ॥

अराजक देश में उत्तम घोड़ों और रथों पर बैठ, कोई भी स्वयं सजधज कर वेखटके एकाएकी बाहिर नहीं निकल सकता ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।

संवदन्तोऽवतिष्ठन्ते वनेषु नगरेषु च ॥ २६ ॥

अराजक राज्य में शास्त्रज्ञानी लोग, वन में या नगर में बैठ और निर्भीक हो, परस्पर शास्त्र सम्बन्धी कोई विचार नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।

देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते<sup>२</sup> नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥

संयमी लोग, अराजक देश में, देवताओं की पूजा के लिए माला, लड्डू, दक्षिणादि कोई भी पूजा की सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्द्र<sup>४</sup>नागररूषिताः ।

राजपुत्रा विराजन्ते वसन्त इव शास्त्रिनः ॥ २८ ॥

<sup>१</sup> परिमण्डिताः—भूषिताः । (गो०) <sup>२</sup> कल्प्यन्ते—सम्पाद्यन्ते । (गो०)

<sup>३</sup> नियतैर्जनैः—यतचित्तैर्जनैः । (शि०) <sup>४</sup> रूषिताः—लिप्ताः । (गो०)



अराजक राज्य में राजकुमार चन्दन और अगर से चर्चित होकर ( अर्थात् शरीर में लगा कर ) वसन्त ऋतु के पेड़ों की तरह शोभायमान नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाऽप्यतृणं वनम् ।

अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे बिना जल की नदी अथवा बिना घास फूस का वन अथवा बिना चरवाहे को गौएँ होती हैं, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं<sup>१</sup> धूमो ज्ञानं<sup>२</sup> विभावसोः ।

तेषां यो नो ध्वजो<sup>३</sup> राजा स देवत्वमितो<sup>४</sup> गतः॥ ३० ॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिह्न उसकी ध्वजा होती है, जिस प्रकार अग्नि का ज्ञापक चिह्न धुआँ होता है, उसी प्रकार हम लोगों के प्रकाशक चिह्न स्वरूप जो महाराज थे, वे इस लोक को त्याग देवलोक को प्राप्त हो गए हैं । ( अतः यह देश इस समय अराजक है ) ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।

मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मार कर खा जाते हैं ॥ ३१ ॥

१ प्रज्ञानं—ज्ञापक । ( गो० ) २ ज्ञानं—लिङ्ग । ( गो० ) ३ ध्वजः—प्रकाशकः । ( गो० ) ४ इतः—अस्माल्लोकात्प्रेत्य देवत्वंगत इत्यर्थः । ( गो० )

ये हि सम्भिन्नमर्यादाः नास्तिकारिञ्चनसंशयाः २ ।

तेऽपि भावाय ३ कल्पन्ते ४ राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

जो लोग वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को त्याग नास्तिक हो जाते हैं, किन्तु राजदण्ड के डर से दबे रहते हैं, वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो, लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं अथवा अपना रोष जमाते हैं ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।

तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार दृष्टि या आँखें, शरीर की भलाई करने और बुराई दूर करने में सदा ही तत्पर रहती हैं—उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में सत्य व धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में और दुष्टात्माओं का शासन कर, बुराइयों को दूर करने में सदा तत्पर रहता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां ५ कुलमूढ ६ ।

राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

राजा ही सत्य और धर्म का प्रवर्तक है, राजा ही कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्तक है, राजा ही प्रजा का मा बाप है और राजा ही प्रजाजनों का हितसाधन करने वाला अर्थात् हितैषी है ॥ ३४ ॥

१ सम्भिन्नमर्यादाः—उल्लङ्घितस्वस्वजातिवर्णाश्रममर्यादाः । (गो०)

२ छिन्नसंशयाः—राजदण्डशङ्कारहिताः । (गो०) ३ भावाय—सद्भावाय, प्रभावायवा । (गो०) ४ कल्पन्ते—समस्तदृष्टिकपीडासमर्थाभवन्तीत्यर्थः । (गो०) ५ कुलवतां—क्षेत्रवीजशुद्धवतां । (गो०) ६ कुल—कुलाचारप्रवर्तकः । (गो०)



यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।

विशेष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन करने वाला एक राजा—यम, कुवेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा है ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किञ्चन ।

राजा चेन्न भवेन्नोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

शिष्ट और अशिष्टों का विभाग कर के प्रजा का पालन करने के लिए यदि राजा न हो तो सारे राज्य में अन्धेर मच जाय—कोई किसी को न पूछे ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।

नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागराः ॥ ३७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! ( वसिष्ठ जी ) जब महाराज जीवित थे, तब भी हम लोगों ने आपकी आज्ञा उसी प्रकार कभी उल्लङ्घन नहीं की जिस प्रकार समुद्र अपनी सीमा उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३७ ॥

स रे नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं

नृपं विना राज्यमरण्यभूतम् ।

कुमारमिदवाकुसुतं तथान्यं

त्वमेव राजानमहाभिषिञ्च ॥ ३८ ॥

इति सप्तषाष्टतमः सर्गः ॥

१ विशेष्यन्ते—अधः क्रियन्ते । ( गो० ) २ नरेन्द्रेण—महतावृत्तेन सर्व प्रकाररक्षणरूपचरित्रेण । ( गो० ) ३ सः—स्वः । ( गो० ) ४ नः—अस्माकं । ( गो० ) ५ वृत्तं—अराजकत्वप्रभुषितसर्वकृत्यं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“वदान्यं ।”

हे द्विजश्रेष्ठ ! हमारे वर्णित अराजक राज्य के दोषों पर विचार कर इस राष्ट्र का—जो राजा के न रहने से जंगल जैसा हो रहा है, किसी को—चाहे वह इक्ष्वाकु कुल का हो अथवा अन्य किसी कुल का हो—राजा बना दीजिए ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## अष्टषष्ठितमः सर्गः

—: ❀ :—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

१ मित्रामात्यगणान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥

उन लोगों के मुख से ऐसी बातें सुन, वसिष्ठ जी, हितैषी सुमन्त्रादि मंत्रियों और मार्कण्डेयादि ब्राह्मणों से यह बोले ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तसज्यः परं सुखी ।

भरतो वसति आत्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ २ ॥

महाराज, भरत को राज्य दे गए हैं । वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ मामा के घर परम सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवना<sup>३</sup> दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः ।

आनेतुं आतरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

१ मित्रामात्यगणान्—मित्रभूत मात्यगणान् सुमन्त्रादीन् । ( गो० )

२ ब्राह्मणान्—मार्कण्डेयादीन् । ( गो० ) ३ जवनाः—वेगवन्तः । ( गो० )



अतः शीघ्र चलने वाले घोड़ों पर शीघ्रगामी दूत उन दोनों राजकुमारों को लिवा लाने के लिए जाँय । इसके अतिरिक्त और इस विषय में विचार ही क्या हो सकता है । ( अर्थात् महाराज भरत को राज्य दे गए हैं—अतः सिजाय उनके दूसरे को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं हो सकता ) ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन् ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब सब ने ही वसिष्ठ जी से कहा कि, दूत अभी जाने चाहिए । उनका यह वचन सुन वसिष्ठ जी बोले ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन ।

श्रूयतामतिकर्तव्यं सर्वानिव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

हे सिद्धार्थ ! हे विजय ! हे जयन्त ! हे अशोकनन्दन ! तुम सब यहाँ आओ और तुम लोगों को जो इस समय करना चाहिए, वह मैं कहता हूँ—तुम सब सुनो ! ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैहयैः ।

त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम ॥ ६ ॥

तुम सब शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर, शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ साथ ही अपने चेहरों पर शोक न भलकने दो और शोक रहित हो, भरत से मेरा यह अनुशासन कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्वां कुशलं ग्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

किं पुरोहित वसिष्ठ जी ने तथा सब मंत्रियों ने तुमसे कुशल  
क्षेम कहा है और ये कहा है कि, बड़ा जरूरी काम है, अतः तुम  
शीघ्र यहाँ आओ ॥ ७ ॥

मा चास्मै शोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।

भवन्तः शंसिषुर्गत्वा<sup>१</sup> राघवाणामिमं क्षयम् ॥ ८ ॥

किन्तु सावधान ! रघुवंशियों के तेजक्षय (नामोसी की बात)  
का यह वृत्तान्त कि, श्रीरामचन्द्र वन गए और महाराज स्वर्ग  
चासी हुए, वहाँ मत कहना ॥ ८ ॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च ।

क्षिप्रमादाय राज्ञश्च<sup>२</sup> भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

केकयराज और भरत के लिए इन रेशमी वस्त्रों और (बहु-  
मूल्यवान्) सुन्दर आभूषणों को ले कर तुम लोग तुरन्त चले  
जाओ ॥ ९ ॥

दत्तपथ्याशना दूता जग्मुः स्वस्वं निवेशनम् ।

केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्<sup>३</sup> ॥ १० ॥

वसिष्ठ जी के वचन सुन और पाथेय मार्ग के लिए भोजन  
लेकर, दूत लोग अपने-अपने घर गए और फिर तेज और बहुत  
दूर की यात्रा करने में अभ्यस्त घोड़ों पर चढ़, वे तुरन्त केकय-  
राज की राजधानी की ओर जा<sup>३</sup> के लिए तैयार हुए ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं<sup>४</sup> कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्<sup>५</sup> ।

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः सन्त्वरिता ययुः ॥ ११ ॥

---

१—माशनिषुः—माकथयन्तु । (रा०) २ राज्ञः—केकयराजस्य । (गो०)  
३ सम्मतान्—ज्वनत्वेनाऽऽश्रम सहत्वेन च संमतान् । ४ प्रास्थानिकं—प्रस्थान  
प्रयोजकं । (गो०) ५ कार्यशेषमनन्तरम्—पाथेयादिवचनकृत्वा । (गो०) ।



दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय ( रास्ते में खाने को भोजन ) ले और वसिष्ठ जी से विदा हो, बड़ी तेजी से रवाना हुए ॥ ११ ॥

१न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति ॥

निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पहाड़ के दक्षिण और प्रलंब नामक पहाड़ के उत्तर अर्थात् इन्हीं पहाड़ों की मध्यवर्तिनी मालिनी नदी के किनारे-किनारे वे पश्चिम की ओर चलते गए ॥ १२ ॥

ते हस्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।

पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

उन्होंने हस्तिनापुर के समीप पहुँच गङ्गा पार की । फिर पश्चिम-माभिमुख चल पञ्चाव तथा कुरुजांगल के बीच में पहुँचे ॥ १३ ॥

सरांसि च सुपूर्णानि नदीश्च विमलोदकाः ।

निरीक्षमाणास्ते जग्मुर्दूताः कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १४ ॥

रास्ते में उन लोगों ने बहुत से जल से लबालब भरे तालाब तथा निर्मल जल वाली नदियाँ देखीं । किन्तु काम की त्वरा होने के कारण (वे लोग उन रम्य सरोवरों अथवा नदियों के तट पर ठहरे नहीं) वे शीघ्र-शीघ्र चले जाते थे ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।

उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जनाकुलाम् ॥ १५ ॥

१ न्यन्तेन—नितरामन्तेन—चरमप्रदेशेनेत्यर्थः । (गो०) २ अपर-तालस्य—अपरतालो नामगिरिःतस्य । (गो०) ३ प्रलंबस्य—प्रलम्बा-ख्यगिरिः । (गो०) ४ उत्तरंप्रति—उत्तरभाग्यमुद्दिश्य । (गो०) ।

तदनन्तर वे लोग तरह तरह के जलचर पक्षियों से सेवित,  
और निर्मल जल से पूर्ण शरदण्डा नाम्नी नदी के तट पर  
पहुँचे ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं<sup>१</sup> सत्योपयाचनम् ।

अभिगम्याऽभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम् ॥ १६ ॥

शरदण्डा नदी के तीर पर सत्योपयाचन नाम का एक पूज्य  
वृक्ष था । दूतों ने उस बंदनीय वृक्ष की परिक्रमा कर, कुलिङ्गा  
नामक नगरी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी—इस वृक्ष में यह गुण था कि, इससे जो प्रार्थना की  
जाती थी उसे यह पूरी करता था, इसीसे उसका नाम “सत्योपयाचन”  
पड़ गया था । ]

अभिकालं ततः प्राप्य ते बोधिभवनान्च्युताः<sup>४</sup> ।

पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुक्षुमतौ<sup>५</sup> नदीम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्हें अभिवाज नामक ग्राम मिला । फिर वे  
बोधिभवन नामक पर्वत से निकली हुई इक्षुमती नामकी उस  
नदी के पार हुए जिसके तट के गावों पर कभी महाराज दशरथ  
के पूर्वजों का राज्य था ॥ १७ ॥

अवेद्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।

ययुर्मध्येन बाह्यीकान् सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

१ दिव्यं—देवाधिष्ठानवत् । (गो०) २ अभिगम्य—प्रदक्षिणीकृत्य ।  
(गो०) ३ अभिवाद्यं—सर्वनमस्कार्यं । (गो०) ४ बोधिभवनान्च्युता—  
तदाख्यात पर्वतात् । (गो०) ५ पितृपैतामहीं—दशरथवंश्यानुभूतां ।  
तत्तीर प्रदेशग्रामा इक्ष्वाकूणामितिभावः । (गो०)



दूतों ने इक्षु नदी के तट पर अंजुलि भर जल पी कर रहने वाले, वेदवित् ब्रह्मणों को देखा । वाह्लीक नामक देश में होकर जाते समय उनको सुदामा नामक पर्वत मिला ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शान्मलीम् ।

नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर विष्णु भगवान् के पदचिह्न के दर्शन कर, उन्हें, विपाशा, शान्मली आदि अनेक नदियाँ, बावड़ी, तालाब और सरोवर मिले ॥ १९ ॥

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।

ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

वे लोग विविध प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन्य जन्तुओं को देखते हुए स्वामी की आज्ञा का पालन करने को बराबर उस लंबे मार्ग पर चले जाते थे ॥ २० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन<sup>१</sup> पथा ततः ।

गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रस्मासेदुरञ्जसा<sup>२</sup> ॥ २१ ॥

बहुत दूर चलने के कारण वे सब दूत ( और उनके घोड़े ) श्रान्त ( थक ) हो गए थे । तिस पर भी वे गिरिव्रज नामक केकयराज के श्रेष्ठ पुर ( राजधानी ) में बहुत शीघ्र जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं

भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्<sup>४</sup> ।

१ विकृष्टेन—अतिदूरेण । ( गो० ) २ शीघ्रशब्दसन्निध्येन । ( गो० )

३ अञ्जसामानसत्त्वरोच्यते । ४ परिग्रहार्थं—प्रतिष्ठार्थं । ( गो० )

अहेडमानाः स्वरया स्म दूता

रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

अपने स्वामी अर्थात् महाराज दशरथ का प्रियकार्य ( भरत को ले जा कर महाराज के शव का दाहादि कर्म ) करवाने को, कुल की रक्षा के लिए और महाराज दशरथ के वंश की प्रतिष्ठा के लिए, बड़े आदर के साथ, जल्दी के कारण रात ही में उन दूतों ने उस पुर में प्रवेश किआ ॥ २२ ॥

अयोध्याकांड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ० :—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।

भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रात को वे दूत उस नगर में पहुँचे, उसी रात में भरत ने भी एक अशुभ स्वप्न देखा ॥ १ ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।

पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

राजाधिराज के पुत्र ने वह बुरा स्वप्न, रात्रि के अन्तिम पहर में देखा था ( रात्रि के अन्तिम पहर का देखा हुआ शुभाशुभ

१ अहेडमानाः—अनादरम् कुर्वाणाः सादरा इति यावत् । (गो०)

वा० रा०—४५



स्वप्न का फल तुरन्त होता है—अतः ) भरत जी बहुत घबड़ाए हुए थे ॥ २ ॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।

आयासं<sup>१</sup> हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥३॥

उनको घबड़ाया हुआ अथवा उदास देख, उनके समवयस्क (हमजोली) अथवा उनके साथ उठने बैठने वाले तथा प्रियवचन बोलने वाले मित्र, उनकी उदासी दूर करने को सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तथा शान्तिं रत्नासयन्त्यपि चापरे ।

नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

उनमें से कोई कोई भरत जी की उदासी दूर करने को वीणा बजाने लगे, कोई कोई मुक-ठुमुक नाचने या थिरकने लगे । कोई-कोई नाट्य करने लगे, और कोई कोई हँसाने वाले चुटकुले कहने लगे ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।

गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

उन प्रियवचन बोलने वाले मित्रों द्वारा अनेक प्रकार से भरत जी को प्रसन्न करने के हेतु अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी, भरत जी की उदासी दूर न हो सकी ॥ ५ ॥

तमब्रवीत्प्रियसखो<sup>३</sup> भरतं सखिभिवृत्तम् ।

सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> आयासं—मनःखेदं । ( गो० ) <sup>२</sup> लासयन्ति—लास्यं कुर्वन्ति लास्यं—सुकुमारनृतं । ( गो० ) <sup>३</sup> प्रियसखः—अन्तरङ्गसुहृत् (गो०) ।

मित्रों के बीच बैठे भरत जी से, उनके एक अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र ने पूछा है मित्र ! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी तुम हर्षित क्यों नहीं होते ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच तम् ।

शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस मित्र के पूछने पर भरत जी बोले—हे मित्र ! मेरे मन के उदास होने का कारण सुनो ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमद्राचां मलिनं मुक्तमूर्धजम् ।

पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमये हृदे ॥ ८ ॥

मैंने स्वप्न में मैले कपड़े पहने और सिर के बाल खोले हुए अपने पिता को पर्वत की चोटी से बुरे गोबर के गड्ढे में गिरते हुए देखा है ॥ ८ ॥

प्लवमानश्चै मम दृष्टः स तस्मिन् गोमये हृदे ।

पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

और देखा है कि वह उस गोबर के कुण्ड में मेढक की तरह तैरते तैरते बारंवार हँस कर और अञ्जलि भर भर कर, तेल पी रहे हैं ॥ ९ ॥

ततस्ति लौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधः शिराः ।

तैलेनाभ्यक्त सर्वाङ्गस्तैलमेवावगाहत ॥ १० ॥

यह भी देखा है कि, महाराज तिल मिश्रित भात खा कर बारंवार मस्तक नीचे झुका कर, सर्वाङ्ग में तेल लगाए हुए हैं और तेल ही में डूब रहे हैं ॥ १० ॥

१ प्लवमानः—मंडूकवत् । (गो०) \* पाठान्तरे—“गोमये हृदे” ।



स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।

उपारुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा है कि, समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा टूट कर जमीन पर गिर पड़ा है, सारी पृथिवी पर अंधेरा छाया हुआ है ॥ ११ ॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।

सहसा चापि संशान्तं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ १२ ॥

महाराज की सवारी के हाथी के दाँतों के टुकड़े टुकड़े हो गए हैं, और प्रज्ज्वलित आग सहसा बुझ गई ॥ १२ ॥

अवतीर्णाः च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान् ।

अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चापि पर्वतान् ॥ १३ ॥

पृथिवी नीचे धस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गए हैं । मैंने देखा है कि, पर्वतों के टुकड़े टुकड़े हो गए हैं और उनमें से धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे काष्णयिसे चैनं निषण्णं कृष्णवाससम् ।

प्रहसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

महाराज काले लोहे के पीड़े पर काले वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और काली तथा पीले रंग की (पोशाकें पहने हुए) स्त्रियाँ उनका उपहास कर रही हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमान्यानुलेपनः ।

रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

१ अवतीर्णाः—अवःपतितां । ( गो० )

धर्मात्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाए और लाल ही फूलों की माला पहिने हुए, गधों से खींचे जाने वाले रथ में बैठे, शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं ॥१५॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।

प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

एक विकटवदना राक्षसी, जो लालवस्त्र पहिने हुए है, अट्टहास करती हुई महाराज को पकड़ कर खींच रही है ॥१६॥

एवमेतन् मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् ।

अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥१७॥

मैंने रात में ऐसे भयानक स्वप्न देखे हैं । इससे यह निश्चय बोध होता है कि मैं या राम या महाराज अथवा लक्ष्मण की मृत्यु होगी ॥ १७ ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।

अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितार्या सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥

क्योंकि जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार हो यात्रा करता है, थोड़े ही दिनों में उसकी चिता से धुआँ निकलता हुआ देख पड़ता है ॥ १८ ॥

एतन्निमित्तं दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये ।

शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ।

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ॥ १९ ॥

बस मेरे उदास होने का यही कारण है और इसीलिए आप लोगों की बातें मुझे नहीं भाती । मेरा गला सूखा जा रहा है



७१०

## अयोध्याकाण्डे

और मेरा मन ठिकाने नहीं है यद्यपि इस समय भय का कोई कारण देख नहीं पड़ता, तथापि मन से खटका दूर नहीं होता ॥ १६ ॥

अष्टश्चः स्वरयोगो२ मे च्छाया गोपहता मम ।

जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥ २० ॥

इसी से मेरा कण्ठस्वर भी बिगड़ गया है अर्थात् आवाज भारी पड़ गई है, और मेरे शरीर की कान्ति भी जाती रही है। मैं जानता हूँ कि, यह अवश्यम्भावो विपत्ति है। इससे डरना बुरी बात है, तो भी मेरे मन में जो खटका उत्पन्न हो गया है उसको दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ॥ २० ॥

इमां हि दुःस्वप्नगतिं निशम्य ता-

मनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।

भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम्३ ॥ २१ ॥

पहले कभी इस प्रकार के खोटे स्वप्न की तर्कना भी नहीं हुई थी, किन्तु अब जब से मैंने यह खोटा स्वप्न देखा है, तब से मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गई है कि, जाने महाराज के दर्शन मुझे फिर हों कि नहीं; इसी से मेरा मन अत्यन्त भय-भीत हो गया है ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

१ च्छाया—कान्तिः । ( गो० ) २ स्वरयोगः—युक्तस्वरः । ( शि० )  
३ अचिन्त्यदर्शनम्—असम्भाव्यदर्शनम् । ( गो० ) \* पाठान्तरे—  
“निशम्य” ।

## सप्ततितमः सर्गः

—❀—

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते कलान्तवाहनाः ।

प्रविश्यासह्यपरिखं❀ रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

भरत जी इस प्रकार अपने इष्टमित्रों के साथ बातचीत कर ही रहे थे, कि उनके माँदे अयोध्या के दूत, रम्य राजगृहपुर में, जिसके चारों ओर इतनी बड़ी और गहरी खाई थी कि, उसे कोई लॉघ नहीं सकता था, पहुँचे ॥ १ ॥

समागम्य च राज्ञाः च राजपुत्रेण<sup>१</sup> चार्चिताः ।

राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

दूतों ने प्रथम केकयराज से, तदनन्तर राजकुमार युधाजित् से भेंट की। राजपुत्र युधाजित् ने उन दूतों का आदर सत्कार किया। अनन्तर दूतों ने केकयराज को प्रणाम कर, भरत जी से कहा ॥ २ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ जी ने और सब मंत्रियों ने तुमको कुशल-क्षेम कहा है, और कहा कि, तुम शीघ्र अयोध्या चले आओ क्योंकि यहाँ एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है ॥३॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।

प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

---

<sup>१</sup> राज्ञा केकयराजेन । (गो०) <sup>२</sup> राजपुत्रेण—युधाजिता ।  
(गो०) पाठान्तरे—“परिधं” ।



हे विशालाक्ष ! ये महामूल्यवान वस्त्र और भूषण उन लोगों ने भेजे हैं । इनको ले कर आप अपने मामा को दे दीजिए ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु<sup>१</sup> नृपतेर्मातुलस्य ते ।

दश कोट्यस्तु सम्पूर्णा<sup>२</sup> स्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

इनमें से लगभग बीस करोड़ के मूल्य के वस्त्राभूषण तुम्हारे नाना के लिए हैं और लगभग दस करोड़ के मूल्य के तुम्हारे मामा के लिए हैं ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः<sup>३</sup> सुहज्जने<sup>४</sup> ।

दूतानुवाच भरतः कामैः<sup>५</sup> सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

भरत जी ने उन सब को ले और बड़े अनुराग के साथ वे सब वस्त्राभूषण अपने नाना और मामा को दे दिए । तदनन्तर दूतों को भोजनादि की सामग्री दे उनका सत्कार कर भरत जी उनसे बोले ॥ ६ ॥

कच्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम ।

कच्चिच्चारोगता रामे लक्ष्मणे वा महात्मनि ॥ ७ ॥

हे दूतों ! यह तो कहो, मेरे पिता महाराज दशरथ तो प्रसन्न हैं ? महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तो आरोग्य हैं ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> विंशतिकोट्यः विंशतिकोटिमूल्यानि । ( गो० ) <sup>२</sup> सम्पूर्णाः—अन्यूना । ( गो० ) <sup>३</sup> सुहृज्जने—मातुलादौ । ( गो० ) <sup>४</sup> स्वनुरक्तः प्रदाप्येतिशेषः । ( गो० ) <sup>५</sup> कामैः अभीष्टान्नपानादिभिः । ( गो० )

आर्या<sup>१</sup> च धर्मनिरता<sup>२</sup> धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी<sup>३</sup> ।

अरोगा चापि<sup>४</sup> कौशल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥

धर्मानुष्ठानों के करने में तत्पर, धर्म तत्व को जानने वाली और (केवल) धर्मात्माओं से भेंट करने वाली पूज्या एवं ज्येष्ठा, धीमान् श्रीरामचन्द्र की माता कौशल्या तो निरोग है ? ॥ ८ ॥

कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।

शत्रुघ्नस्य च वीरस्य साऽरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

धर्म का भर्म समझने वाली वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता और महाराज की मझली रानी सुमित्रा जी निरोग तो हैं ? ॥ ९ ॥

आत्मकामा<sup>५</sup> सदा चण्डी<sup>६</sup> क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।

अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, उग्र और क्रोध स्वभाव वाली तथा अपने को सब से बढ़ कर बुद्धिमती समझने वाली, मेरी माता कैकेयी तो कुशल से है ? चलती बेर उन्होंने मेरे लिए तुमसे क्या कोई संदेसा भी कहा है ? ॥ १० ॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना<sup>७</sup> ।

ऊचुः सप्रश्रयं वाक्यमिदं<sup>८</sup> तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

१ आर्या—ज्येष्ठा मातृत्वेन पूजिता । ( गो० ) २ धर्मनिरता—धर्मानुष्ठानपरा । ( गो० ) ३ धर्मदर्शिनी—धर्ममेव जनेषु पश्यतीति धर्मदर्शिनी । ( गो० ) ४ अपिः प्रश्ने । ( गो० ) ५ आत्मकामा—स्वप्रयोजनपरा । ( गो० ) ६ चण्डी—उग्रा । ( गो० ) ७ महात्मना—महाबुद्धिना । ( गो० ) ८ सप्रश्रयं—सविनयं । ( गो० )



बड़े बुद्धिमान् भरत जी का वचन सुन, दूतों ने विनयपूर्वक  
भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।

श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥ १२ ॥

हे पुरुषसिंह ! जिनका कुशल चाहते हो वे सब कुशल  
पूर्वक हैं । इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिए उद्यत  
हैं, अतएव यात्रा के लिए तुम अपना रथ जुतवाओ । (एक टीका-  
कार ने इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है;  
क्योंकि आपके मुखादि शारीरिक अंगों में इस समय ऐसी शोभा  
देख पड़ती है कि, जिससे किसी भी अमङ्गल की शङ्का नहीं हो  
सकती अतः अब आप अपना रथ जुतवावें ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत ।

आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः सन्त्वरयन्ति माम् ॥ १३ ॥

दूतों का वचन सुन, भरत बोले—अच्छा, मैं महाराज से  
चलने की आज्ञा माँगता हूँ और जा कर कहता हूँ कि, दूत लोग  
चलने के लिए बड़ी शीघ्रता कर रहे हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः ।

दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

राजकुमार भरत दूतों से यह कहकर, दूतों के कथनानुसार  
नाना से जा कर बोले ॥ १४ ॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः ।

पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

हे राजन् ! अब मैं अपने पिता के पास जाऊँगा—क्योंकि, दूत लोग मुझे ले जाने के लिए जल्दी मचा रहे हैं। फिर जब आप मुझे याद करेंगे मैं आ जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा ।

तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरत का वचन सुन-केकयराज, भरत का मस्तक सूँघ यह शुभ वचन बोले ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया ।

मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप ॥ १७ ॥

हे भरत ! कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पा कर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुसूदन ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम वहाँ पहुँच कर अपनी माता और पिता से मेरा कुशल ज्ञेय कह देना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।

तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्णौ ॥ १८ ॥

पुरोहित वसिष्ठ जी तथा अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा महा धनुर्धर श्रीराम और लक्ष्मण—दोनों भाइयों से कुशल क्षेय कह देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तर्माश्वित्रान् कम्बलानजिनानि च ।

अभिसत्कृत्य कैकेयो भरताय धनं ददौ ॥ १९ ॥

यह कह, केकयराज ने भरत जी को ( बिदाई में ) उत्तम हाथी, कीमती शाल दुशाले और मृगचर्म, उनकी ( उन वस्तुओं को ) बढ़ाई कर कर के दिए ॥ १९ ॥

१ अभिसत्कृत्य—श्लाघापूर्वकम् । ( गो० )



रुक्मनिष्कः सहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च ।

सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥ २० ॥

तथाऽमात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।

ददावश्वपतिः क्षिप्रं भरतायानुयायिनः ॥ २१ ॥

दो हजार गले में पहने जाने वाले कंठे, गुंजें, कटुले आदि आभूषण तथा सोलह सौ घोड़े दिये । केकय राज ने बड़े सत्कार के साथ भरत को धन दे कर, वह सब सामान अयोध्या पहुँचा देने के लिए नौकरों को आज्ञा दी । केकयराज ने भरत के साथ शीघ्रता पूँक जाने के लिए कई एक अपने विश्वासी और गुणवान अर्थात् बुद्धिमान मंत्री कर दिए । (ये तो भरत के नाना ने विदाई की, अब आगे मामा की विदाई का वर्णन है) ॥२०-२१॥

४ ऐरावतानैन्द्रशिरान् ५ नागान्वै प्रियदर्शनान् ।

खराञ्शीघ्रान्सुसंयुक्तान् ६ मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥ २२ ॥

भरत जी के युधाजित मामा ने, भरत जी को इरावत नामक तथा इन्द्रशिख नामक पर्वत पर उत्पन्न और देखने में बड़े सुन्दर हाथी तथा अपने जाने हुए शीघ्रगामी अनेक खच्चर भी दिये ॥ २२ ॥

१ निष्काः—वक्षोभूषणानि । ( गो० ) २ आदिशत्—आदाय-भिगच्छति भृत्यानाज्ञापयामास । ( गो० ) ३ अभिप्रेतान्—सहाय-भूतान् । ( गो० ) ४ ऐरावतान्—इरावतपर्वतभवान् गो० ) ५ ऐन्द्रशिरान्—इन्द्रशिराख्य पर्वतभवान् । ( गो० ) ६ सुसंयुक्तान्—परिचितान् । ( गो० )

अन्तःपुरेऽतिसवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलान्वितान् ।

दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्छुनश्चोपायनं ददौ ॥ २३ ॥

युधाजित् मामा ने भरत को, इनके अतिरिक्त रनवास में पले हुए तथा बलवीर्य में व्याघ्र के तुल्य और बड़े बड़े दाँतों वाले तथा बड़े डीलडौल के कुत्ते भी दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत ।

भरतः केकयीपुत्रो ऽगमनं त्वरयंस्तदा ॥ २४ ॥

परन्तु केकयराज की दी हुई इन वस्तुओं की ओर भरत जी ने ध्यान नहीं दिया । अनन्तर कैकेयीनन्दन भरत जाने के लिए शीघ्रता करने लगे ॥ २४ ॥

वभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।

त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

एक तो भरत खोटा स्वप्न देखने से चिन्तित थे ही, तिस पर चलने के लिए दूतों के जल्दी मचाने से वे और भी चिन्तित हो गए थे ॥ २५ ॥

स स्ववेश्म व्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंवृतम् ।

प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान्राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

मनुष्यों, हाथियों और घोड़ों को लिए हुए भरत जी अपने घर से निकले और उत्तम एवं बड़े लंबे राजमार्ग पर आ कर उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमुदारधीः ।

ततस्तद्भरतः श्रीमानात्रिवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

\* पाठान्तरे—“गमनत्वरयातदा” ।



और उस मार्ग से हो कर उदार बुद्धि वाले भरत जी रनवास में गए । रनवास में जाते समय किसी ने उन्हें रोका नहीं ॥२७॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् ।

रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

भरत जी ने वहाँ पहुँच कर, नाना तथा मामा युधाजित से बिदा माँगी । तदनन्तर शत्रुघ्नसहित रथ में सवार हो, वहाँ से वे चल दिए ॥ २८ ॥

रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् ।

उष्ट्रगोश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

तब अनेक नौकर रथों में घोड़े, ऊँट, बैल और खच्चर जोत, भरत के रथ को चारों ओर से घेर कर, उनके साथ रवाना हुए ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्माः

सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः ३ ।

आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-

गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इति सप्ततितमः सर्गः

महाधैर्यवान् भरत नाना के आत्मसदृश विश्वासी मन्त्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजभवन से

१ महात्मा—महाधैर्यो भरतः । ( गो० ) २ सार्यकस्य—मातामहस्य । ( गो० ) । ३ आत्मसमैः—स्वप्रभावसदृशैः । ( गो० ) ४ अपेतशत्रु—निष्कण्टकः सन् । ( गो० )

उसी प्रकार निर्मय हो चले, जिस प्रकार इन्द्रलोक से सिद्ध चलते हैं ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[ नोट—भरत जी राजगृह से अयोध्या जिस मार्ग से गये, वह राज मार्ग था । दूत जिस मार्ग से राजगृह गए थे, वह मार्ग समीप का था, किन्तु उसमें अनेक नदियाँ और पहाड़ पड़ते थे । भरत जी के साथ रथ हाथी, घोड़े तथा अनेक मनुष्य थे, अतः वह पहाड़ी मार्ग उनके लिए उपयुक्त न था । अतः वे आम रास्ते से अयोध्या गए । ]

—:०:—

## एकसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्गम्य वीर्यवान्\* ।

ततः सुदामां द्युतिमान्सन्तीर्यविच्य तां नदीम् ॥ १ ॥

पराक्रमी एवं तेजस्वी भरत, राजगृह से रवाना हो कर, पूर्व की ओर चले । कुछ दूर पर उनको सुदामा नाम की नदी देख पड़ी । वे उस नदी के पार हुए ॥ १ ॥

ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्<sup>१</sup> ।

शतद्रूमतरच्छ्रीमान्नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

अनन्तर बड़े फाँट वाली ह्लादिनी नदी मिली, तिस पीछे पश्चिमवाहिनी शतद्रु ( सतलज ) मिली । इन दोनों नदियों के भी इक्ष्वाकुनन्दन भरत पार हुए ॥ २ ॥

१ प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्—पश्चिमप्रवाहां नदीम् । (रा०) २

\* पाठान्तरे—“राघवः” ।



एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वटान् १ ।

शिलामारकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शन्यकर्तनम् ॥ ३ ॥

फिर वे एलाधान गाँव के पास बहने वाली नदी को पार कर पर्वट नामक ग्राम में पहुँचे । फिर उस नदी को, जिसमें जो वस्तु डाल दो वह पत्थर हो जाय, पार कर और आग्नेय दिशा की ओर चल कर, वे शन्यकर्तन नामक नगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान् प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।

अत्ययात्स महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

उसके आगे सत्यसन्ध एव धर्मात्मा भरत जी ने शिलावहा नदी देखी । फिर बड़े-बड़े पहाड़ों को बचाते हुए, वे चैत्ररथ नामक वन की ओर चले ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।

उत्तरं वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

अनन्तर सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम पर होते हुए, वीर-मत्स्य नामक देश के उत्तर भागों को देखते हुए वे भारुण्ड वन में पहुँचे ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्यादिनीं पर्वतावृताम् ।

यमुनां प्राप्य सन्तीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥

अनन्तर वेगवती, हर्षा देने वाली और पर्वतों से घिरी हुई कुलिङ्गा को तथा यमुना को पार कर, उन्होंने सेना को विश्राम दिआ ॥ ६ ॥

१ पूर्वपर्वटाअपरपर्वटाश्चेति ग्रामद्वयमस्ति । ( गो० ) २ शिलामा-कुर्वती—शिलामासमन्तात्कुर्वती । ( गो० )

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।  
 तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥

थके हुए घोड़ों के शरीरों को ठंडा किया अर्थात् उनके शरीर की थकावट दूर की । साथ के लोगों ने भी स्नान किए और जलपान किया और रास्ते में पीने के लिए जल साथ ले, वे आगे बढ़ें ॥ ७ ॥

[ टिप्पणी—जल साथ इसलिए लिया था कि, आगे वन पड़ता था, वहाँ जल मिलने की सुविधा नहीं थी ।

राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णो पसेवितम् ।

भद्रो भद्रेण<sup>१</sup> यानेन मारुतः<sup>२</sup> खमिवात्ययात् ॥८॥

इसके अनन्तर भरत जी निर्जन महारण्य में पहुँचे और भद्र जाति के हाथी ( इस जाति का हाथी वनों में खूब चलता है ) पर सवार हो, बड़ी तेजी के साथ उस वन के पार हुए ॥ ८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरामं शुधाने महानदीम् ।

उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

अंशुधान नगर के नीचे गङ्गा जी का पार करना असम्भव था । अतः वे बड़ी शीघ्रता से प्राग्वट नामक प्रसिद्ध घाट पर पहुँचे ॥ ९ ॥

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् ।

सबलस्तां स तीर्त्वाथ समायाद्धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

<sup>१</sup> भद्रेण—भद्रगजरूपेण यानेन । ( गो० ) <sup>२</sup> मारुतः खमिवात्ययात्—अतिवेगेनातिक्रान्तवान् । ( गो० )



वे प्राग्वट घाट से गङ्गा को पार कर, कुटिकोष्ठिका नदी पर पहुँचे और सेनासहित उसे भी पार कर, धर्मवर्द्धन नामक ग्राम में पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् ।

वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

फिर तोरण नामक ग्राम के दक्षिण की ओर जम्बूप्रस्थ ग्राम में पहुँचे । फिर दशरथनन्दन भरत जी रमणीक वरूथ नामक ग्राम में पहुँचे ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वाऽसौ प्राङ्मुखो ययौ ।

उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियकाः यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

फिर वरूथ ग्राम के वन में ठहर, वहाँ से पूर्व की ओर रवाना हुए और उज्जिहाना नाम की पुरी के उपवन में, जहाँ पर बन्धूक अथवा कदम्ब के पेड़ लगे थे, पहुँचे ॥ १२ ॥

सालांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।

अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस साल और बन्धूक के उपवन में पहुँच, रथ में शीघ्रगामी घोड़े जोत और सेना को धीरे धीरे पीछे आने की आज्ञा दे, भरत जी वहाँ से शीघ्रतापूर्वक रवाना हुए ॥ १३ ॥

[ टिप्पणी—उज्जिहानापुरी के आगे कोसलराज्य की सीमा आरंभ होती थी—अतः अपने राज्य में किसी प्रकार का खटका न समझ, सेना का साथ छोड़, भरत जी, रथ में बैठ, शीघ्रतापूर्वक अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए । ]

१ प्रियका—बन्धूकाः कदम्बावासन्ति ( गो० ) ।

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां१ नदीम् ।

अन्या नदीश्चविविधाः पार्वतीयै२ स्तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥

( रास्ते में भरत जी ने ) सर्वतीर्थ नामक ग्राम में ठहर उत्तानिका नदी को पार किया । फिर अन्य अनेक नदियों को उन पहाड़ी घोड़ों की सहायता से पार किया ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यवर्तत ।

ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये सिकतावतीम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर हस्तिपृष्ठक नगर के समीप कुटिका नदी पार की । पुरुषश्रेष्ठ भरत ने लौहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम् ।

कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥

भरत जी एकसाल नगर में स्थाणुमती नदी को और विनतनामक नगर में गोमती नदी को पार कर, कलिङ्गनगर के सालवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः द्विप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः ।

वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥

भरत जी बड़ी तेजी से यात्रा कर रहे थे । अतः उनके रथ के घोड़े थक गए थे । अतः वे रात भर सालवन में विश्रामार्थ ठहर गए । जब रात बीती और सबेरा हुआ ॥ १७ ॥

---

१ उत्तानिकां—उन्नतजलत्वेनतदाख्यां । ( गो० ) २ पार्वतीयैः—  
पर्वत-देशोत्पन्नैः । \* पाठान्तरे—“स कपीवतीम्” ।



अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां सन्ददर्श ह ।

तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥ १८ ॥

तब वहाँ से रवाना हो भरत ने महाराज मनु को बसाई  
अयोध्यापुरी देखी । राजगृह से अयोध्या तक आने में, रातों में  
भरत को सात रातें ( दिन ) लगीं ॥ १८ ॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ।

एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

दूर ही से अयोध्या को देख, भरत जी सारथी से कहने लगे  
कि, यह पुरी तो मुझे जन्मप्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे भरे  
उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी तो नहीं जान पड़ती ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ।

यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

भूयिष्ठमृद्वैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता ।

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥ २१ ॥

हे सारथे! दूर से देखने पर तो अयोध्या पीली मिट्टा का एक ढेर  
सा जान पड़ती है । देखो, अत्यन्त समृद्धशालिनी और राजर्षियों  
द्वारा पालित अयोध्यापुरी में तो पहले यज्ञकर्त्ता, गुणी एवं वेद-  
पाठी ब्राह्मणों का बड़ा तुमुल शब्द सुनाई पड़ता था ॥ २० ॥ २१ ॥

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।

उद्यानानि हि सायाह्वे क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

१ भूयिष्ठं—भृशं । ( गो० )

और चारों ओर स्त्री पुरुषों का जो बड़ा कोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे आज सुनाई ही नहीं पड़ता । यहाँ के उपवनों में सायंकाल के समय खेलों से निवृत्ति हो, बहुत से पुरुष ॥ २२ ॥

समन्ताद्विप्रभावद्भिः प्रकाशन्ते समान्यदाः ।

तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥

पहले इधर उधर दौड़ते हुए देख पड़ते थे, किन्तु आज तो वे उपवन मुझे कामी लोगों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति मे ।

न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ॥ २४ ॥

निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम् ।

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च ॥ २५ ॥

हे सारथे ! यह अयोध्या नहीं, किन्तु यह तो मुझे उजड़ी हुई अयोध्या का वन जैसा जान पड़ता है । क्योंकि यहाँ न तो कोई सवारी और न कोई हाथी अथवा घोड़ों पर चढ़े प्रतिष्ठित पुरवासी आते जाते देख पड़ते हैं । वाटिकाओं में पहले खूब चहल पहल बनी रहती थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ।

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ॥ २६ ॥

---

१ अन्यदा—पूर्व । (गो०) २ रतिसंयोगेषु—स्वयंसंयोगेषु । (गो०)



और वाटिकाएँ, विहार करने के लिए एकत्र हुए जनों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों तथा लता गृहादि से शोभायमान होती थीं—उन वाटिकाओं में मुझे आज उदासी सी छाई हुई देख पड़ती है ॥ २६ ॥

स्रस्तपणैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ।

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ॥ २७ ॥

संरक्ता मधुरां वाणीं कल व्याहरतां बहु ।

चन्दनागरुसंपृक्तो धूपः सम्मूर्छितोऽतुलः ॥ २८ ॥

प्रवाति पवनः श्रीमान् न्किन्नु नाद्य यथापुरम् ।

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसङ्घटितः पुनः ॥ २९ ॥

सड़कों के अगल बगल लगे हुए वृक्ष पत्तों से रहित हो भानों चिल्ला चिल्ला कर रोते हुए से जान पड़ते हैं । मदमाते मृगों और पक्षियों के अनुराग में भर कर, कलरव करने का शब्द भी तो आज नहीं सुनाई पड़ता । हे सूत ! इस पुरी में सदा चन्दन और अगर की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा है । पहले भेरी, मृदङ्ग और वीणा आदि बाजों के बजाए जाने का शब्द बार-बार हुआ करता था ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ।

अनिष्टानि च पापानि<sup>३</sup> पश्यामि विविधानि च ॥ ३० ॥

१ धूपसम्मूर्छितः—धूपव्याप्तः । (गो०) २ श्रीमान्—रमणीयः । (गो०)

३ पापानि—क्रूराणि । (गो०)

किन्तु आज क्या कारण है, जो वह पहले जैसा प्रसन्न करने वाला शब्द बंद है ? मुझे तरह-तरह के अनिष्ट और क्रूर शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३० ॥

१ निमित्तान्यमनोज्ञानि<sup>२</sup> तेन सीदति मे मनः ।

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ॥ ३१ ॥

देखने ही से दुःख देने इन अपशकुनों से मेरा मन दुःखी हो रहा है । इससे मुझे जान पड़ता है कि, मेरे बन्धुओं बान्धवों का कुशलपूर्वक होना, सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

तथा ह्यसति संमोहे<sup>३</sup> हृदयं सीदतीव मे ।

विषण्णः<sup>४</sup> श्रान्तहृदयः<sup>५</sup> स्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः<sup>६</sup> ॥ ३२ ॥

हे सूत ! चबड़ाने का कारण न होने पर भी, मेरा हृदय जोर-जोर से धड़क रहा है, मन उदास है और भय के कारण सब बाह्य इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो रही हैं ॥ ३२ ॥

भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिच्छाकुपालिताम् ।

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः ॥ ३३ ॥

भरत जी इक्ष्वाकुपालित अयोध्यापुरी में, पुरी के वैजयन्त नामक पश्चिमद्वार से घुसे । उस समय उनके रथ के घोड़े बहुत थक गए थे ॥ ३३ ॥

१ निमित्तानि—अशुभसूचकानि । (गो०) २ अमनोज्ञानि—दर्शनमात्रेण दुःख कराणि । (गो०) ३ संमोहे—संमोहकारणे । (गो०) ४ विषण्णः—बुद्धितः । (गो०) ५ श्रान्तहृदयः—कलुषितमनस्कः । (गो०) ६ लुलितेन्द्रियः—लुण्ठितबाह्येन्द्रियः । (गो०)



द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्ठस्तैः सहितो ययौ ।

स त्वनेकाग्रहृदयोः द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य<sup>२</sup> तं जनम् ॥ ३४ ॥

भरत जी को देख द्वारपाल उठ खड़े हुए और (रीत्यानुसार) विजय प्रश्न कर उनके साथ हो लिए । उस समय भरत जी का मन व्यग्र हो रहा था । अतः उन्होंने उन द्वारपालों को सत्कार-पूर्वक लौटा दिया ॥ ३४ ॥

सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ।

किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ<sup>३</sup> ॥ ३५ ॥

केकयराम का सारथी जो बहुत थक गया था उससे भरत जी ने कहा—हे अनघ ! किस लिए बिना कारण बतलाए शीघ्रता से मैं यहाँ बुलाया गया हूँ ॥ ३५ ॥

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं<sup>४</sup> च पततीव<sup>५</sup> मे ।

श्रुता नो यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ॥ ३६ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शङ्काएँ उत्पन्न हो रही हैं और मन पर दीनता छाती जाती है । राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण देख पड़ते हैं और जिन्हें मैंने पहले सुन रखे हैं ॥ ३६ ॥

आकारांस्तानहं सर्वानिह प्रश्यामि सारथे ।

संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्ष्ये ॥ ३७ ॥

१ अनेकाग्रहृदयः—व्याकुलमनाः । (गो०) २ प्रत्यर्च्य—सत्कारपूर्वकं निवर्त्य । (शि०) ३ अनघेति—चिन्तासमर्थतोक्तिः । (गो०) ४ शीलं—नियदैत्यरहितस्वभावः । (शि०) ५ पतति—अप्तगच्छतीव (शि०) ।

हे सारथे ! आज वे ही सब कुलचाण मुझे यहाँ देख पड़ रहे हैं । देखो, गृहस्थों के घर बिना झाड़े बुहारे होने के कारण गंदे जान पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

असंयतक्रवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ।

बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च ॥ ३८ ॥

द्वारों के क़िवाड़ खुले पड़े हैं, सब घरों की शोभा नष्ट सी हो गई है । वे सब बलिकर्म-विहीन, धूपगन्ध रहित हैं ॥ ३८ ॥

अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ।

अलक्ष्मीकानि<sup>१</sup> पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ॥ ३९ ॥

तथा भूखे और हतश्री जनों से भरे हैं । गृहस्थों के मकान मुझे विचित्र ध्वजाओं और बंदनवारों से रहित देख पड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

अपेतमान्यशोभान्यप्यसंमृष्टाजिगणि च ।

देवागाराणि शून्यानि<sup>२</sup> न चाभान्ति यथापुरम् ॥ ४० ॥

किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती नहीं देख पड़तीं—सब घरों के आँगन बिना झाड़े बुहारे पड़े हैं । देवालियों में पुजारी आदि कोई भी नहीं है, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है ॥ ४० ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च<sup>३</sup> यज्ञगोष्ठ्य<sup>४</sup>स्तथाविधाः ।

मान्यापणेषु राजन्ते नाद्यपण्यानि वा तथा ॥ ४१ ॥

<sup>१</sup> अलक्ष्मीकानि—विचित्रध्वजतोरणाद्यभावात् । (रा०) <sup>२</sup> शून्यानि—पूजापरिचारिकादिरहितानि । (गो०) <sup>३</sup> प्रविद्धाः—छुटाः । (गो०) <sup>४</sup> यज्ञ-गोष्ठ्यः—यज्ञसभाः । (गो०)



न तो कोई देवताओं का पूजन कर रहा है और न यज्ञ-शालाओं में यज्ञविधान ही हो रहे हैं। आज फूलमालाओं की तथा अन्य वस्तुओं की दूकानें शोभाहीन हो रही हैं ॥ ४१ ॥

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ।

ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयान्त्रिताः<sup>१</sup> ॥ ४२ ॥

यहाँ पर पहले की तरह व्यापारी भी प्रफुल्ल मन नहीं देख पड़ते। चिन्ता के भारे इनका मन घबड़ाया हुआ है क्योंकि इनका व्यापार बंद सा हो गया है ॥ ४२ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगणास्तथा ।

मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् ।

सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

देवताओं के मन्दिरों में तथा देवालयविशेषों के पक्षिगण उदास बैठे हैं। मैले कपड़े पहिने, आँखों में आँसू भरे उदास, चिन्ताग्रस्त, दुबले पतले और उत्कण्ठित स्त्री पुरुष ही मुझे नगर भी में देख पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।

तान्यरिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

उदास मन भरत जी, इस प्रकार के वचन उस सूत से कहते और अयोध्या में उन अरिष्टों को देखते हुए, राजभवन की ओर गए ॥ ४४ ॥

---

<sup>१</sup> यान्त्रिताः—सङ्कुचितासन्तः । ( शि० )

तां शून्य<sup>१</sup>शृङ्गाटक<sup>२</sup>वेश्मरथ्यां  
 रजोरुण<sup>३</sup>द्वारकपाटयन्त्राम् ।

दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरप्रकाशां  
 दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

उस इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहों और गलियों  
 को जनशून्य और मकानों के किवाड़ों और किवाड़ों के कील  
 कांटों को धूलधूसरित ( अर्थात् गर्दा पड़ी हुई ) देख, भरत जी  
 अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ४५ ॥

बहूनि पश्यन् मनसोऽप्रियाणि  
 यान्यन्यदा<sup>४</sup> नात्र<sup>५</sup> पुरे बभूवुः ।

अवाक्शिरा दीनमना नहृष्टः  
 पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥  
 इति एकसप्ततितमः सर्गः ।

भरत जी ने ऐसे अनेक अप्रिय दृश्यों को, जो इसके पूर्व  
 उन्होंने कभी नहीं देखे थे, देख कर—नीचा सिर किए हुए और  
 उदास मन होने के कारण हर्षरहित हो, अपने महात्मा पिता  
 के घर में प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अयोध्याकांड का इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

१ शून्याः—जनरहिताः । (गो०) २ शृङ्गाटकवेश्मरथ्याः—चतुष्पथ  
 गृहवीथयोयस्यां । (गो०) ३ रजोरुणद्वारकपाटयन्त्राम्—रजोभिः मलिनानि-  
 द्वारस्थकपाटानां दारुबन्धादीनियस्यां । (गो०) ४ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०)

\* पाठान्तरे—“नास्य” ।



## द्विसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।

जगाम भरतो द्रष्टुं मातर मातुरालये ॥ १ ॥

भरत जी पिता के घर में पिता को न देख, माता के दर्शन की लाखसा से अपनी माता के घर में गए ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रीषितं सुतम् ।

उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

बहुत दिनों बाद विदेश से लौट कर घर आए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सोने की चौकी से उठ खड़ी हुई ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।

भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्रणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरत जी ने अपनी माता के घर में जा कर देखा कि, घर की शोभा नष्ट हो गई है । अनन्तर भरत जी ने अपनी माता के शुभ दोनों चरण छुए ॥ ३ ॥

सा मूर्ध्नि समुपाग्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।

अङ्गे भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

उस समय कैकेयी भरत जी का मस्तक सूँघ, उनको हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर, उनसे पूँछने लगी ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्याः<sup>१</sup> र्यक<sup>२</sup> वेश्मनः ।

अपि<sup>३</sup> नाध्वश्रमः शीघ्रं<sup>४</sup> रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! आज तुमको नाना के घर से चले कितने दिन हो गए ? तुम रथ पर सवार जल्दी जल्दी आए हो, सो रास्ते की थकावट तो तुम्हें कष्ट नहीं दे रही है ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।

प्रधासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे नाना और मामा युधाजित् तो बहुत अच्छी तरह से हैं ? बेटा ! जब से तुम विदेश गए, तब से रहे तो अच्छी तरह न ? यह सब मुझे बतलाओ ॥ ६ ॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।

आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयी के इस प्रकार पूछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का सारा वृत्तान्त कहा ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।

अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

हे अम्मा ! नाना का घर छोड़े हुए मुझे आज सात रातें बीत चुकीं । मेरे नाना और मामा अच्छी तरह हैं ॥ ८ ॥

१ च्युतस्य—निर्गतस्य । ( गो० ) २ आर्यकः—मातामहः । ( गो० )

३ अपिः—प्रश्ने । ( गो० ),



यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परन्तपः ।

परिश्रान्तं पथ्यभवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥

शत्रुओं का दमन करने वाले राजा केकय ने मुझे बिदाई में जो रत्न धन दिए हैं, उन सबको मैं रास्ते ही में छोड़ कर, आगे चला आया हूँ । क्योंकि सवारियों के जानवर बहुत थक गए थे ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।

यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदस्मा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

महाराज का संदेश ले कर जो दूत गए थे, उनके जल्दी करने पर ही मैं इतनी जल्दी आया हूँ । हे अस्मा । अब मैं जो कुछ पूछूँ उसका तू उत्तर मुझे दे ॥ १० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।

न चायमिच्चाकुजनः<sup>१</sup> ग्रहष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

तुम्हारा यह सुवर्ण का पलंग महाराज बिना सूना क्यों है ? महाराज के कोई भी जन मुझको प्रसन्न नहीं जान पड़ते ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठ<sup>२</sup> मिहाम्बाया निवेशने ।

तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

महाराज अधिकतर तेरे ही घर में रहा करते थे—सो वे आज नहीं देख पड़ते । मैं उन्हीं के दर्शन करने को यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः ।

आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

१ इच्चाकुजनः -- दशरथजनः । (गो०) २ भूयिष्ठ—प्राचुर्येण । (गो०)

इस समय पिता जी कहाँ हैं ? मुझे यह बतलाओ क्योंकि मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा । वे क्या मेरी माताओं में सब से बड़ी माता कौसल्या जी के घर में हैं ? ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी १ प्रियवद्घोरमप्रियम् ।

अजानन्तं २ प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में, सारा वृत्तान्त जानने वाली कैकेयी, राज्यप्राप्ति के लोभ में फँस, महाराज का वृत्तान्त न जानने वाले भरत से प्रियासंवाद की तरह, घोर अप्रिय वचन बोली ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।

राजो महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगतिम् ॥ १५ ॥

हे बेटा ! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को तुम्हारे महात्मा तेजस्वी और सज्जनों के आश्रयस्थल पिता महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं ३ धर्माभिजनवाञ्छुचिः ।

पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलादितः ॥ १६ ॥

कैकेयी की यह बात सुनते ही, धर्मात्माओं के वश में उत्पन्न निष्कपट भरत, पितृशोक से विकल हो, सहसा पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।

निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

---

१ प्रियवत्—प्रियमिव । (गो०) २ अजानन्तं—राजवृत्तान्तमजानन्तं । (गो०) ३ धर्माभिजनवान्—धर्मयुक्तवंशवान् (रा०)



और गिरते समय, महाबाहु एवं महाबली भरत जी दोनों हाथ पृथिवी पर पटक “हाय मैं मारा गया” कहकर, कष्टपूर्ण वचन बोले ॥ १७ ॥

ततः शोकेन संविग्नः\* पितुर्मरणदुःखितः<sup>१</sup> ।

विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भरत, पिता के मरने का संवाद सुनने के कारण, शोक होने के कारण से विकल हो गए, और विलाप करने लगे ॥ १८ ॥

एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।

शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

बादलों के बिदा होने पर अर्थात् शरत्काल में चन्द्रमय से आकाश की जैसी शोभा होती है, पहले वैसी ही शोभा मेरे पिता से इस सेज की थी ॥ १९ ॥

यदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।

व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इव सागरः ॥ २० ॥

आज उन बुद्धिमान पिता जी के बिना चन्द्रहीन आकाश जलहीन सागर की तरह यह सेज मुझे बुरी मालूम पड़ती है ॥ २० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वार्तः परमपीडितः ।

प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतांवरः<sup>३</sup> ॥ २१ ॥

मरणदुःखितः—मरणश्रवणेन सञ्जातदुःख । ( गो० ) २ भ्रान्ता—  
अनवस्थिता । ( गो० ) ३ जयतांवरः भरतः । ( शि० ) \* पाठान्तरे—  
“संवीतः” ।

इस प्रकार भरत अपना मुख वस्त्र से ढक आँसू बहाते,  
अत्यन्त व्यथित हो, गद्गद् कंठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसङ्काशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।

निकृत्तमिव सालस्यं स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥

जिस प्रकार वन में कुल्हाड़ी से कटा हुआ शालवृक्ष का  
गुदा गिर पड़ता है, उसी प्रकार देवता के समान भरत जी,  
पिता की मृत्यु से दुःखित हो, भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसङ्काशं चन्द्रार्कसदृशं भुवः ।

उत्थापयित्वा शोकातं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह देख, कैकेयी चन्द्र, सूर्य और हाथी के समान तेजस्वी  
शोकाकुल अपने पुत्र को पृथिवी से उठाकर, उससे बोली ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः ।

त्वद्विधान हि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः<sup>१</sup> ॥ २४ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! उठो !! तुम जमीन पर क्यों  
पड़े हो ? तुम जैसे सज्जन और सभ्य लोग कभी शोक नहीं  
करते ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकाराहि शील<sup>२</sup> श्रुति<sup>३</sup> वचोनुगा ।

बुद्धिस्ते<sup>४</sup> बुद्धिसम्पन्न प्रमेवार्कस्य<sup>५</sup> मन्दिरे ॥ २५ ॥

१ सदसिसंमता—सभ्या इत्यर्थः (गो०) २ शीलं—सद्वृत्तं । (गो०)  
श्रुतिवचोवेदवाक्यं । (गो०) ४ बुद्धिः—अव्यवसायः । (गो०) ५ अर्क-  
स्यप्रभामन्दिरइव—सूर्यप्रभायथास्वस्थानेनिश्चलाभवति तथातेबुद्धि  
निश्चलाभातीत्यर्थः । (गो०)

वा० रा०—४७



हे बुद्धिमान् ! जिस प्रकार सूर्य की प्रभा अपने स्थान पर निश्चल होती है—उसी प्रकार तुम्हारा अध्यवसाय, दान, यज्ञ, सदाचरण और वेदवाक्यों का अनुसरण करने वाला है—निश्चल है ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च ।

जननीं प्रत्यवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृत ॥ २६ ॥

इस प्रकार माता के समझाने पर भी बहुत देर तक भूमि पर लोटते और रोते रहे । तदनन्तर अत्यन्त शोकाकुल हो माता से बोले ॥ २६ ॥

अभिषेचयति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।

इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् १ ॥ २७ ॥

हे अम्मा ! मैंने तो यह समझा था कि, महाराज श्रीराम को राज्य देंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे । इसीलिए मैं प्रसन्न हो, वहाँ से चला था ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ।

पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

किन्तु इस समय उसके विपरीत देख मेरा मन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता है । क्योंकि अब मैं अपने सदाहितैषी पिता को नहीं देख पाता ॥ २८ ॥

१ यात्रामयासिषम्—यात्रामकार्षे । (गो०)

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यःनागते ।

धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२६॥

हे अम्मा ! महाराज को क्या धीमारी हुई थी कि, मेरे आने के पूर्व ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया ? धन्य हैं श्रीराम आदि भाई जिन्होंने पिता की और्ध्वदैहिक क्रिया की होगी ॥ २६ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्त जानाति कीर्त्तिमान् ।

उपजिघ्रे द्वि मां मूर्ध्नि तातः सन्नम्य सत्वरम् ॥३०॥

निश्चय ही कीर्त्तिशाली महाराज को यह नहीं मालूम कि मैं यहाँ आ गया हूँ — नहीं तो वे 'अवश्य अपना मस्तक झुका मेरे सिर को तुरन्त सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।

येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

आ हा ! महाराज का वह हाथ, जो अंग से स्पर्श करते ही मुझे सुख दिया करता था और मेरे धूलधूसारित शरीर की धूल बार बार झाड़ता था, कहाँ गया गया ? ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।

तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

अब जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु हैं और जिन बुद्धिमान का मैं दास हूँ, उन श्रीरामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला कि वे कहाँ हैं ? ॥ ३२ ॥



पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य<sup>१</sup> जानतः ।

तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

क्योंकि धर्मज्ञ और विवेकी जन का जेठा भाई पिता के तुल्य होता है । अतः मैं उनके पैर पड़ूँगा । क्योंकि अब तो मुझे उन्हीं का सहारा है ॥ ३३ ॥

धर्मविद्वर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।

आर्यः किन्नवीन्द्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

हे माता ! धर्मज्ञ और धर्म में निरत रहने वाले, सत्यप्रतिज्ञ तथा दृढ़व्रत महाराज मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गए हैं अथवा मेरे लिए क्या कह गए हैं ॥ ३४ ॥

पश्चिम<sup>२</sup> साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।

इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

सो मैं अपने विषय में महाराज का आन्तम सन्देशा सुनना चाहता हूँ भरत जी के ऐसा पूछने पर कैकेयी ने जो ठीक बात थी वही कही ॥ ३५ ॥

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।

स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

(कैकेयी बोली मरते समय महाराज ने तुम्हारा तो नाम भी नहीं लिखा) उत्तम गति को प्राप्त होने वालों में श्रेष्ठ महाराज,

---

<sup>१</sup> धर्ममार्यस्यजानतः—धर्मजानत आर्यस्य श्रेष्ठस्य विवेकिनः पुरुषस्य । (रा०) <sup>२</sup> पश्चिम संदेशं—अन्त्यकालिकम् । (रा०)

हा राम ! हा सीता ! हा लक्ष्मण ! कहते और विलाप करते हुए,  
परलोक सिधारे हैं ॥ ३६ ॥

इमां तु परिचमां वाचं व्याजहार पिता तव ।

कालधर्मपरिचिसः<sup>१</sup> पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

बड़ा हाथी जिस प्रकार बंधन में बाँधा जाता है, उसी प्रकार  
तुम्हारे पिता ने काल और धर्म के वश हो, कर, अन्तिम समय  
यह कहा था ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह ।

लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

कि, वे नर ही सफल मनोरथ होंगे, जो सीतासहित श्रीराम  
और लक्ष्मण वन से लौटा हुआ देखेंगे ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।

विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

जब कैकेयी ने यह दूसरी अप्रिय बात कही, तब भरत जी और  
भी अधिक उदास हुए और फिर माता से पूछने लगे ॥ ३९ ॥

क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः ॥ ४० ॥

हे अम्मा ! वे धर्मात्मा और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने  
वाले श्रीराम, इस समय सीता और लक्ष्मण के सहित कहाँ  
हैं ? ॥ ४० ॥

१ कालधर्मपरिचिसः—कालधर्मेभ्यः शरीरविकागादिभ्यः परित्यक्तः। (शि०)



तथा पृष्ठा यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।

माताऽस्य १युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशङ्कया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भरत जी के पूँछने पर उनकी माता कैकेयी ने ज्यों का त्यों समस्त घटना सुनानी आरम्भ की । उसने समझा कि, उस दारुण अप्रिय घटना का वृत्तान्त सुन, भरत अदृश्य प्रसन्न होंगे ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।

दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! वे राजकुमार चीर को धारण कर, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन को चले गए हैं ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्वस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।

स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टु समुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

कैकेयी के मुख से श्रीराम का वन जाना सुन—भरत जी के मन में भाई के चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ और वे बहुत भयभीत हुए । क्योंकि वे अपने वंश की महिमा जानते थे । अतः उन्होंने माता से फिर पूँछा ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हतं रामेण कस्यचित् ।

कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

ह माता ! क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था ? अथवा बिना अपराध किसी धनाढ्य या दरिद्री की हत्या की थी ? ॥ ४४ ॥

---

१ युगपद्—राजमरणकथनसमकालमेव । ( गो० )

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।

कस्मात्स दण्डकारण्ये १ भ्रूणहेव विवासितः ॥ ४५ ॥

अथवा किसी प्ररस्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखा था ? किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययनसम्पन्न राम वन में भेजे गए ? ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् ।

तेनैव स्त्रीस्वभावेन २ व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब भरत की चपल मति माता ने अपनी ज्यों की त्यों करनी, स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता-वश, कहनी आरम्भ की ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।

उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

जब भरत ने कैकेयी से इस प्रकार पूछा, तब वह मूर्खा और अपने को पण्डिता समझने वाली, प्रसन्न हो, यह बोली ॥ ४७ ॥

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्भूतं रामेण धीमता ।

कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४८ ॥

बेटा ! बुद्धिमान राम ने न तो किसी ब्राह्मण का धन छीना और न बिना अपराध किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही किया था ॥ ४८ ॥

---

१ भ्रूणः—श्रुताध्ययनसम्पन्नः । (गो०) २ स्त्रीस्वभावेन—चापलेन ।  
(गो०) धर्माधर्महिताहितोचितानुचितविवेकशून्यतारूपेण । (रा०)



न रामः परदोरांश्च चक्षुर्म्यामपि पश्यति ।

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम् ॥ ४६ ॥

राम परस्त्री को तो आँख उठाकर भी कभी नहीं देखता ।  
किन्तु हे पुत्र ! मैंने जब राम के राज्याभिषेक की बात  
सुनी, ॥ ४६ ॥

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।

स स्ववृत्तिः समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत् ॥ ५० ॥

तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिए राज्य और राम के  
लिए वनवास माँगा । अतः अपनी सत्यप्रतिज्ञा को पूरी करने  
के लिए तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया ॥ ५० ॥

रामश्च सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।

तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥ ५१ ॥

उन्होंने रामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण सहित वन में भेज  
दिया । महायशस्वी महाराज दशरथ प्रियपुत्र अपने राम को  
न देखने के कारण ॥ ५१ ॥

पुत्रशोकपरिधूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ।

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।

त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

पुत्रशोक से पीड़ित हो, पञ्चत्व फो प्राप्त हुए ( मर गये ) ।  
हे धर्मज्ञ ! अब तुम राजकाज संभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिए  
इस प्रकार मैंने ये सब काम किए हैं ॥ ५२ ॥

१ स्ववृत्ति—स्वप्रतिशारुप्रावृत्ति । ( गो० )

त्रिसप्ततितमः सर्गः

७४५

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।

त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्\* ॥ ५३ ॥

हे वत्स ! तुम दुःखी मत हो और न सन्ताप ही करो । तुम धीरज रखो । क्योंकि यह अयोध्यापुरी और बिना राजा का यह राज्य, अब तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-

र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।

सङ्काल्य\* राजानमदीनसत्त्व-

मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

अतः तुम इस घड़ी विधि विधान जानने वाले वसिष्ठादि ब्राह्मणों के साथ शीघ्र यथाविधि महापराक्रमी अपने पिता की प्रेतक्रिया समाप्त कर, राज्यसन ग्रहण करो और अपने मन को हिरास मत करो ॥ ५४ ॥

अयोध्याका ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:—

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ ।

भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

\* सङ्काल्य—संस्कृत्य । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“अनामयं ॥”



पिता का मरण, और दोनों भाइयों के निकाले जाने का वृत्तान्त सुन, भरत दुःख से सन्तप्त हो, कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

किन्तु कार्यं हतस्येह मम सज्येन शोचतः ।

विहीनस्याथ पित्रा च भ्राता पितृसमेन च ॥ २ ॥

पिता और पिता के समान भाई से रहित होने के कारण, मेरा तो सर्वनाश हो गया । ऐसी शोच्य दशा में, मैं राज्य ले कर करूँगा ही क्या ? ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोव्रणे चारमिवादधाः ।

राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

तूने महाराज दशरथ को मार और राम को तपस्वी बना, मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिखा, मानों घाव पर निमक छिड़का है ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।

अङ्गारमुपगृह्यत्वां पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

तू काजरात्रि से समान इस कुल का सत्यानाश करने को यहाँ आई है । मेरे पिता ने जलते हुए अगारे की समान अनजाने तुझे घर में रखा ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनी ।

सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन् कुलपांसिनी ॥ ५ ॥

अरी पापिष्ठे ! तूने महाराज को मार डाला । अरी कुलनाशिनी ! तूने मोहवश हो, सहसा इस घराने का सारा सुख नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

\* पाठान्तरे—“गुह्यस्म” ।

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः ।

तीव्रदुःखाभिसन्तप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ एवं महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ ने तुम्हे पाकर, या तेरे कारण बड़ा दुःख और सन्ताप भोगा ॥६॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।

कस्मात् प्रवाजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

तूने क्यों उन धर्मवत्सल मेरे पिता महाराज दशरथ को मार डाला और क्यों राम को वनवास दिलवाया और वे तेरे कहने से क्यों वन को चले गए ? ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।

दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

तुम जैसा मेरी जननी के साथ रह कर, कौसल्या और सुमित्रा का पुत्रशोक से पीड़ित हो कर, जीवित रहना अब बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

ननु त्वार्योऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिः मनुत्तमाम् ।

वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई राम जो गुरुजनों की सेवा करना जानते हैं, तेरी भी तो वैसी ही सेवा करते थे, जैसी कि वे अपनी जननी कौसल्या की किआ करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी<sup>२</sup> ।

त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

---

१ वृत्ति — शुश्रूषा । (गो०) २ दीर्घदर्शिनी — दूरकालभाव्यर्थदर्शिनी । (गो०) ।



मेरी बड़ी माता कौसल्या भावी विपत्ति को जानने पर भी धर्मपूर्वक तेरे साथ सगी बहिन जैसा व्यवहार करती थी ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।

प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥ ११ ॥

उसीके महात्मा पुत्र को चीर और वल्कल पहिना कर, तूने वन में भिजवा दिया । अरी पापिन ! तिस पर भी तुझे दुःख क्यों नहीं होता ? ॥ ११ ॥

अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।

प्रव्राज्य चीरवसनं किन्तु पश्यसि कारणम् ? ॥ १२ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र ने कभी दुःख नहीं देखा, ऐसे शूर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र को चीर पहना कर और वन में भिजवा कर, तूने क्या फल पाया ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति ।

तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥

मेरी श्रीरामचन्द्र में कैसी भक्ति है—यह बात तूने न जानी । इसीसे तूने लालच में फँस, राज्य के लिए यह महाअनर्थ कर डाला ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।

केन शक्तिप्रभावेन राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

मैं उन पुरुषसिंह राम और लक्ष्मण को देखे बिना किस शक्ति के सहारे या बल पर इस राज्य की रक्षा कर सकूँगा ॥ १४ ॥

१ कारणम्—फल । (गो०)

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महाबलः ।

अपाश्रितोऽभूद्धर्मात्मा भैरुर्मैरुवनं यथा ॥ १५ ॥

मेरी तो गिनती ही किसमें है, महाराज दशरथ जी उन्हीं बलवान और महापराक्रमी राम का उसी प्रकार सदा भरोसा रखते थे जिस प्रकार मेरु पर्वत निकटस्थ वन पर भरोसा रखता है ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुसमुद्धृतम् ।

१ दम्भो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥

अतएव मैं क्यों कर और किसके भरोसे से इस बड़े भारी राज्यभार को उठा सकूँगा ? जिन भार को बड़ा बलवान बैज खींच सकता है, उसे छोटी उम्र का बछड़ा क्यों कर खींच सकता है ? ॥ १६ ॥

अथवा मेऽभवेच्छक्तिः २ योगैर्बुद्धि बलेन<sup>३</sup> वा ।

सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम्<sup>४</sup> ॥ १७ ॥

यदि मैं सामदानादि उपायों से अथवा बुद्धिबल से, इस राज्य भार को उठा भी सकूँ, तो भी पुत्र के राज्य की अभिलाषा करने वाली तेरी यह कुत्सित साध, मैं कभी पूरा न होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।

यदिरामस्य<sup>५</sup> नापेक्षा त्वयि स्थान् मातृवत्सदा ॥ १८ ॥

१ दम्भः—तरुणवत्सव । (गो०) २ योगैः—साम्रादानाद्युपायैः । (गो०) ३ बुद्धिबलेन—ग्रहणधारणाघट्टांग युक्तबुद्धिबलेन वा । (गो०) ४ पुत्रगर्धिनीम्—पुत्र प्रयोजनाभिलाषवतीम् । (गो०)

पाठान्तरे—“ नावेक्षा ” ।



यदि राम की तुझमें माता के समान श्रद्धा न होती, तो मैं  
तुझ पापिन को अवश्य त्याग देता ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।

साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

अरे पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करने  
वाली यह बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हुई ? ॥ १९ ॥

अस्मिन् कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।

१ अपरे आतरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

क्योंकि इस राजवंश में पीढ़ियों से यह चाल चली आती है  
कि, सब भाइयों में जो बड़ा होता है, वही राजगद्दी पर बैठता है  
और ( छोटे ) सब भाई उसके अधीन रहते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।

गतिं<sup>३</sup> वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

अरे नृशंसे ! तेरी दृष्टि राजधर्म की ओर नहीं है और न तू  
राजधर्म के विविध सनातन प्रकारों ही को जानती है ॥ २१ ॥

सततं राजवृत्ते<sup>४</sup> हि ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।

राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिच्चाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

राजधर्मानुसार जो ज्येष्ठ होता है, उसी का राज्याभिषेक  
होता है । यही प्रथा सब राजाओं में है । तिसमें भी इक्ष्वाकुकुल  
में तो इसका विशेष आग्रह है ॥ २२ ॥

१ अपरे—कनिष्ठाभ्रातरः । (गो०) २ राजधर्म—राज्ञांविहित धर्म ।  
(गो०) ३ गति—प्रकारंवा । ४ राजवृत्ते—राजधर्म । (रा०)

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।

अत्र चारित्रशौण्डीर्यं<sup>१</sup> त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥

आज तूने, धर्म प्रतिपालक एवं अच्छे चरित्र से सुशोभित  
इक्ष्वाकुवंश का सदाचार सम्बन्धी गर्व धूल में मिला दिया ॥ २३ ॥

तवापि सुमहाभागा<sup>२</sup> जनेन्द्राः<sup>३</sup> कुलपूर्वगाः<sup>४</sup> ।

बुद्धेर्मोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गहितः ॥ २४ ॥

तेरा भी तो एक सुचरित्र कुलीन राजवंश में जन्म हुआ है ।  
फिर क्योंकर तेरी बुद्धि में ऐसा गहित मोह उत्पन्न हुआ ? अर्थात्  
कैसे तेरी ऐसी दुष्टबुद्धि हो गई ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।

त्वया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

हे पापिन ! याद रख, चाहे जो कुछ हो, मैं तेरी साथ कभी  
पूरी न करूँगा । क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपञ्च का सूत्र-  
पात किया है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।

निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

मैं तुझे खिझाने के लिए स्वजनों के प्यारे एवं निर्दोष बड़े  
भाई राम को अभी वन से लौटा लाता हूँ ॥ २६ ॥

१ कुलचरित्र—कुलक्रम गतचरित्रं । (गो०) २ चारित्रशौण्डीर्यं—  
चरित्रगर्वितत्वं । (गो०) ३ जनेन्द्राः—राजानः । (गो०) ४ कुलपूर्वगाः—  
कुलज्येष्ठाः । (गो०)



निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।

दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

मैं राम को केवल वन से लौटा हीं न लाऊंगा, प्रत्युत  
उनका दास बन कर और मन लगा कर, उनकी सेवा भी  
करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा

प्रियेतरेः<sup>१</sup> वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।

शोकातुरश्चापि ननाद भूयः

सिंहो यथा पर्वतगह्वरस्थः ॥ २८ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भरत जी अनेक कठोर वचनों से कैकेयी को  
मर्माहत करते हुए और स्वयं शोक से कातर हो, मेन्दराचल की  
कन्दरा में बैठे हुए सिंह की तरह पुनः गरज कर बोले ॥२८॥

अयोध्याकाण्डाका तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❀ :—

चतुःसप्ततिमः सर्गः

—❀—

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।

रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

१ प्रियेतरेर्दुःखकरैः । (रा०)

इस प्रकार भरत जी माता को धिक्कार कर और अत्यन्त कुपित हो, फिर अपनी माता कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।

परित्यक्ता च धर्मेण शमामृतं रुदती भव ॥ २ ॥

हे निष्ठुग्हृदये ! हे दुष्टे ! तू राज्यभ्रष्ट हो, ( अर्थात् तू भी वन में चली जा ) क्योंकि तू अधर्मीन है । अब मैं मरता हूँ, तू मेरे लिए रो अथवा तू पतिव्रताधर्म को जब त्याग ही चुकी; तब तुझे उचित है कि, तू मृगपति के लिए मत रो ॥ २ ॥

किन्नु तेऽदृष्यद्राजा रामो वाभृशधार्मिकः ।

ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्य श्मागतौ ॥ ३ ॥

भला बता तो, महाराज ने और परमधार्मिक राम ने तेरा क्या विगाड़ा था जो तूने एक ही समय में महाराज को तो मार डाला और राम को वन में निकाल दिया ॥ ३ ॥

अणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशना ।

कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! इस प्रकार वंश का नाश करने से तुझे गर्भस्थ बालक को मार डालने जैसा पाप लगा है ( गर्भ गिराने जैसा ) अतः तू नरक में गिर । क्योंकि तू मेरे पिता के लोक में जाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ ४ ॥

१ शमामृतं रुदती भव—प्राणहानिकरकार्यकरणान्मामृतमत्वारोदनं कुर्वित्यर्थः । यद्रामृतं भर्तारं उद्दिश्य रुदती च मा भव पति भार्याभाव-स्यगतत्वादिति भावः । (गो०) २ तुल्यं—युगपत् । (गो०)

वा० रा०—४८



यत्त्वया हीदृशं? पा कृतं घोरेण कर्मणा ।

सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

क्योंकि तूने घोर कर्म कर ऐसा पाप कर्म किया है। तूने सर्व-लोक-प्रिय राम का त्याग कर, मेरे लिए केवल राज्य सम्पादन ही नहीं किया प्रत्युत भय भी उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरी ही करतूत से मेरे पिता की जान गई और मेरे आई राम वनवासी हुए और इस संसार में (इस प्रकार) तूने मुझे बदनाम किया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्र नृशंसे राज्यकामुके ।

न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

तू बड़े ही कठोर हृदय की है; तुझे राज्य का लालच है, तू मेरी माता नहीं, बल्कि माता के रूप में मेरी शत्रु है। अरी दुष्टा! अरी पतिघातिनि! तू मुझसे बोलने योग्य नहीं है अर्थात् मुझसे मत बोल ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।

दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥

अरे कुल में बट्टा लगाने वाली! तेरी ही करतूत से, कौसल्या, सुमित्रा तथा मेरी अन्य माताएँ, बड़े दुःख में पड़ी हुई हैं ॥ ८ ॥

१ ईदृशं—रामविवासनेभर्तृमरण रूपं । (गो०)

न त्वमश्वपतेः<sup>१</sup> कन्या धर्मराजस्य<sup>२</sup> धीमतः ।

राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ६ ॥

तू दुर्द्धिमान् एवं धर्मात्मा महाराज अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं है । तू जो मेरे पिता के कुल का (नाम) नाश करने के लिए अश्वपति के घर में राक्षसी पैदा हुई ॥ ६ ॥

यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।

वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥

तूने उन धर्मात्मा राम को, जो सदा सत्य में तत्पर रहते हैं, वन में भिजवा दिया । और उनके त्रियोगजनित शोक से पीड़ित कर, पिता को परलोक भेज दिया ।

यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विनाकृते ।

आतृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

यह पापकर्म तो तूने किया और उसका फल भुगतना मुझको पड़ा कि, मैं पिताहीन हो गया, दोनों भाइयों से बिछुड़ गया और सब लोगों की दृष्टि से गिर गया ॥ ११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां<sup>३</sup> पापनिश्चये ।

कृत्वा कं प्राप्स्यसे त्वद्य लोकं<sup>४</sup> निरयगामिनि ॥ १२ ॥

१ तत्वमश्वपतेः कन्या—तत्कुलोचितकन्यानभवति (गो०) २ धर्मराजस्य—धर्मप्रधानराजस्य । ( गो० ) ३ वियुक्तां—पतिपुत्रवियुक्तां । (रा०) ४ कंलोकं—कं नरकलोकम् । ( रा० )



अरी पापिन ! अरी नरक में जाने वाली, यह तो बनला कि  
धर्मचारिणी कौसल्या का पति और पुत्र से विछोद करवा, तू  
अब किम नरक में गिरेगी ? ॥ १० ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं? वन्धुसंश्रयम् ॥

ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्टा ! क्या तुझे यह नहीं मालूम था कि, राम बन्धु  
बान्धवों के सदा आधारभूत हैं तथा ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण  
मेरे लिए पिता के समान हैं और 'महारानी कौसल्या' के गर्भ से  
उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि<sup>१</sup> जायते ।

तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रियत्वान्न तु बान्धवः ॥१४॥

यों तो देखा जाय तो वन्धुबान्धव सभी प्रिय होते हैं, किन्तु  
सबसे अधिक पुत्र ही माता को प्रिय होता है—क्योंकि वह माता  
के अङ्ग प्रत्यङ्ग से और हृदयकमल से भी जन्म ग्रहण करता है  
अर्थात् ऐसी परम वस्तु का वियोग एक माता के लिए कितना  
दुःखदायी होता है—उसे तूने जरा विचारा होता ॥१४॥

[टिप्पणी—उक्त श्लोक में “अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे ।  
आत्मा वै पुत्र नामासि ।” श्रुति का अर्थ गर्भित है ।]

अन्यदा<sup>३</sup> किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्भता<sup>४</sup> ४ ।

बहमानौ<sup>५</sup> ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ<sup>६</sup> ॥१५॥

१ नियतं—नितरां । ( शि० ) २ हृदयात्—हृदयपुण्डरीकात् ।  
( गो० ) ३ अन्यदा—पूर्वकाले । ( गो० ) ४ सुरसंभता—देवपूजिता ।  
५ बहमानौ—हलमितिशेषः । ( गो० ) ६ विगतचेतसौ—मूर्छिता  
वित्यर्थः । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“बुद्धिसंश्रया” ।

तवार्धदिवसे श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।

रुरोद पुत्रशोकेन वाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ १६ ॥

किसी भी माता के लिए पुत्रशोक कितना दुखदायी होता है, इसका दृष्टान्त भरत जी देते हैं ।) यह दृष्टान्त धर्मज्ञों का कहा हुआ है । पूर्वकाल में एक दिवस, देवताओं की पूजा कामधेनु ने देखा कि, उसके दो पुत्र हल खींचते दोपहर के समय, थक जाने के कारण मूर्छित हो गए हैं । पुत्रों के दुःख से दुःखी कामधेनु आँखों से आँसू गिराती हुई, रोने लगी ॥ १५ ॥ १६ ॥

अधस्ताद्व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।

विन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

उसी समय किसी काम के लिए देवराज इन्द्र भूलोक में यात्रा कर रहे थे । उस समय उनके शरीर पर कामधेनु के सुगन्धित और सूक्ष्म आँसुओं की बूँदें पड़ी ॥ १७ ॥

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।

सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तां सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

इन्द्र के शरीर पर कामधेनु के जो आँसू गिरे थे, उनमें से सुगन्धि निकलती देख, इन्द्र ने जान लिया कि, कामधेनु सब से उत्तम है ॥ १८ ॥

निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।

आकाशे विष्टितां दीनां रुदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥ १९ ॥

१ भूयसीं श्रेष्ठाम् । ( गो० )



तब चौक कर इन्द्र ने ऊपर की ओर देखा तो आकाश में खड़ी और अत्यन्त दुःखित हो रोती हुई बिचारी कामधेनु को पाया ॥ १९ ॥

तां दृष्ट्वा शोकसन्तप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।

इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥ २० ॥

उस यशस्विनी कामधेनु को शोकसन्तप्त देख, वज्रधारी सुर-राज इन्द्र बहुत घबड़ाए और हाथ जोड़ कर कामधेनु से कहने लगे ॥ २० ॥

भयं कञ्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् ।

कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २१ ॥

हे सब लोकों की हितैषिणी ! तू क्यों रो रही है ? क्या हम लोगों के ऊपर कोई महा विपत्ति पड़ने वाली है, जिससे तू इतनी दुःखी हो रही है ? अपने दुःख का कारण तो बतला ॥ २१ ॥

एवमुक्त्वा तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।

प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २२ ॥

बुद्धिमान इन्द्रराज ने जब ऐसा कहा, तब बात कहने में चतुर कामधेनु ने धीरज धर कर उत्तर दिया ॥ २२ ॥

शान्तं पापं न वः किञ्चित्कुतश्चिदमराधिप ।

अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २३ ॥

हे देवराज ! नहीं नहीं, तुम लोगों के भय की कोई बात नहीं है । मुझे तो अपने इन दो पुत्रों को दुःखी देख, दुःख हो रहा है ॥ २३ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।

अर्द्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण सुराधिप ॥ २४ ॥

देखो ये दोनों बैल कैसे दुबले हो रहे हैं, तिस पर भी सूर्य के ताप से सन्तप्त हो, ये बेचारे दीन हो रहे हैं । हे सुरराज ! किसान ने इन दोनों को भारा पीटा भी है ॥ २४ ॥

मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।

यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २५ ॥

ये दोनों मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हैं । अतः इनको दुःखी और हल में जुतने के भार से पीड़ित देख, मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है—क्योंकि माता के लिए अपने पुत्र से बढ़ कर, दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ २५ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।

तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान् मन्यते परम् ॥ २६ ॥

जिसके सहस्रों पुत्रों से यह समस्त जगत् भरा पड़ा है, उसे अपने दो पुत्रों के लिए रोते हुए देख, इन्द्र ने जाना कि, माँ को पुत्र से बढ़ कर और कोई वस्तु प्यारी नहीं है ॥ २६ ॥

सदाऽप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।

श्रीमत्याः गुणनित्यायाः स्वभावपरिवेषया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि साऽपि शोचति कामधुक् ।

किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥

---

१ श्रीमत्या—समृद्धिमत्याः । (गो०)



कामधेनु लोकों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से सब के साथ एक सा वर्ताव करती है और सबके मनोरथ पूर्ण करने की सामर्थ्य भी रखती है, उसके अनन्त पुत्र रहते हुए भी, जब वह कामधेनु मातु-स्वभाव-सुलभ पुत्र-स्नेह-वश दो पुत्रों के दुःख से दुःखित हो गई तब हे कैकेयी ! बतला तों, कौसल्या अपने एकमात्र पुत्र के बिना क्यों कर जीवित रह सकेगी ? ॥ २७ ॥ २८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।

तस्मात्त्वं सततं दुःख प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥

इस समय तूने एक पुत्र वाली एवं साध्वी कौसल्या से उसके पुत्र का विद्धोह करा दिया है, अतः तू इस लोक और परलोक में सदा ही दुःख भोगेगी ॥ २९ ॥

अहं ह्यपचितिं<sup>१</sup> भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।

वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

मैं तो अब पिता का औद्धर्दहक कृत्य कर और भाई की सेवा कर, निःसन्देह सम्पूर्ण रूप से उनका सम्मान करूँगा और उनके यश को बढ़ाऊँगा ॥ ३० ॥

आनाययित्वा तनयं कौसल्याया महाबलम् ।

स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥ ३१ ॥

मैं उन महाबली कौसल्यानन्दन को वन से लौटा कर, स्वयं मुनिसेवित वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

न ह्यहं पापसङ्कल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।

शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्नरीक्षितः ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> अपचितिं—पूजाम् । (गो०)

क्योंकि हे दुष्ट विचारोंवाली पापिष्ठा ! जब पुरवासी मेरी  
और आँसू भरे नेत्रों से देखेंगे, तब मैं तेरे इस पापपूरित कृत्य  
को कैसे सहन कर सकूँगा ? ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान्विश ।

रज्जुं बधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥ ३३ ॥

अब तो तुझे यही उचित है कि, या तो तू अग्नि में गिरकर  
भस्म हो जा, या दण्डकवन में चली जा या गले में फाँसी लगा ।  
क्योंकि बिना मरे तेरे लिए और कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनिं<sup>१</sup> प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।

कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

मेरे मन की कसक तभी मिटेगी और मैं अपने को तभी  
कृतकृत्य मानूँगा, जब सत्यपराक्रमी राम लौट आवेंगे ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्क शचोदितः ।

पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

भरत जी इस प्रकार विलाप करते करते तोमर और अंकुश  
के मारने से उत्पीड़ित हाथों की तरह, क्रोध में भर, पृथिवी पर  
गिर, सर्प की तरह फुँफकारने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा

विधूतसर्वाभरणः परन्तपः ।

१—अवनि—अयोध्याभूमि । ( शि० )



बभ्रुव भूमौ पतितो नृपात्मजः

शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्ष्ये ॥ ३६ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय भरत के ( मारे क्रोध के ) नेत्र लाल हो गए । शरीर पर जो वस्त्र वे पहिने हुए थे, वे ढीले हो गए । सब गहने खिसक पड़े । जिस प्रकार उत्सव के अन्त में इन्द्र की ध्वजा पृथिवी पर गिरती है, वैसे ही राजकुमार भरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदहतरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—०:०—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पराक्रमी भरत जी ने बहुत देर बाद सचेत हो, नेत्रों में आँसू भर तथा माता को दीन देख, ॥ १ ॥

सोमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत् ।

राज्यं न कामये जातुः मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥

और मन्त्रियों के बीच बैठ, माता की निन्दा की, ( इसलिए कि मन्त्रियों को बतावें कि, उनकी माता ने जो कुछ किया उसमें उनकी सम्मति नहीं थी ) । वे बोले, मेरी तो कभी भी यह अभि-

१—जातु—कदाचिदपि । ( गो० )

लाषा नहीं है कि, मैं राज्य करूँ, और न इस विषय में कभी माता से मैंने परामर्श ही किया ( अथवा दिया ) ॥ २ ॥

अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः ।

विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ ३ ॥

न मुझे इसकी कुछ भी खबर थी कि, महाराज ने राम का अभिषेक करना विचारा था । क्योंकि मैं तो शत्रुघ्नसहित यहाँ से बहुत दूर पर ( अपनी ननिहाल में ) था ॥ ३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।

विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत् ॥ ४ ॥

अतः मुझे महात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का भी हाल न मिला कि, वह किस प्रकार से हुआ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः ।

कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रोते विल्लाते हुए भरत जी का कण्ठस्वर पहिचान कर कौसल्या ने सुमित्रा से कहा ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।

तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

जान पड़ता है—निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है । मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है ॥ ६ ॥

---

१ दीर्घदर्शिनम्—अतिज्ञानवन्तं ( शि० )



एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा ।

प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥

श्रीराम के विछोह के शोक में अति दुर्बल गात, कान्तिहीन मुख वाली कौसल्या थरथर काँपती हुई और अचेत-सी भरत जी की ओर चली ॥ ७ ॥

स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उधर श्रीराम के छोटे भाई भरत जी भी शत्रुघ्न को साथ ले, कौसल्या के भवन की ओर चले ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ ।

पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥

कौसल्या को दुःखी और बहकी बहकी देख दोनों भाई— भरत और शत्रुघ्न, अत्यन्त दुःखित हो, कौसल्या से लिपट कर रोने लगे ॥ ९ ॥

रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्ताः मनस्विनीम् ।

भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

ज्येष्ठामाता कौसल्या उस समय अत्यन्त दुःखित हो, शोक के मारे रोते हुए भरत जी को लिपटाकर, उनसे कहने लगी ॥ १० ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।

सम्प्राप्तं वत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

---

आर्याम्—ज्येष्ठां मातरं । ( गो० )

तुमने राज्य पाने की कामना की थी सो कर कर्म करने वाली तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म करके, तुम्हें निष्कण्टक राज्य दिला दिया ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् ।

कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

और मेरे पुत्र को चीर पहिना कर और वन भेज कर, इस क्रूरदर्शिनी ने क्या लाभ उठाया ? ( क्योंकि बिना ऐसा किए भी तो वह राज्य दिला सकती थी । ) ॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।

१ हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

कैकेयी को उचित है कि जहाँ मेरे सुवर्ण जैसे शरीर के रंग-वाला महायशस्वी राम है, वहाँ मुझे भी तुरन्त भेज दे ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।

अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को अपने साथ ले और अग्निहोत्र की आग को आगे कर, वहाँ चली जाऊँगी, जहाँ मेरा राम है ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—महाराज दशरथ अग्निहोत्र करते थे । महारानी कौसल्या उनकी प्रधान अथवा ज्येष्ठा रानी थीं । अतः पति के साथ अग्निहोत्र करने का अधिकार उन्हीं को था । इसी से कौसल्या ने यह कहा कि, अग्निहोत्र करने की आग को ब्राह्मण के ऊपर रखवा, उसके पीछे मैं चली जाऊँगी । ]

३ हिरण्यनाभः—हिरण्यवत्स्पृहणीयताभियुक्तः । नाभिग्रहणं शरीर-स्योपलक्षणं । (गो०) १ अग्निहोत्रं—राजाग्निहोत्रं । (गो०) अग्निहोत्र-स्थज्येष्ठा भार्याधीनत्वात् दशरथेन भरतसंस्कारः प्रतिषेधाच्चेतिभावः । (गो०) ।



कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।

यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥ १५ ॥

अथवा तू ही मुझे वहाँ कर आ, जहाँ पुरुषसिंह मेरा पुत्र तप करता था दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् ।

हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया ॥ १६ ॥

तुझे तो कैकेयी ने धनधान्य से परिपूर्ण तथा हाथी, घोड़ों और रथों से भरा पूरा राज्य दिलवा दिया है ॥ १६ ॥

इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः ।

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥

जब कौशल्या ने इस प्रकार के कठोर वचनों के ताने मारे तब भरत जी को वैसा ही क्लेश हुआ, जैसा कि, घाव में सुई चुभाने से होता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—कौशल्या की भरत के प्रति यह उक्ति स्त्री-स्वभाव-सुलभ मानसिक उथल पुथल का परिणाम है। भरत के स्वभाव से पूर्ण परिचित कौशल्या का भरत के प्रति क्रूर कटाक्ष करना, किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता ।

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः ।

विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततःस्थितः ॥ १८ ॥

कौशल्या जो की-बातें सुन, भरतजी का मन उद्विग्न हो गया अतः कर्त्तव्य विषयक ज्ञान न रहा । जब उन्हें चेत हुआ, तब बहुत विलाप कर, वे कौशल्याजी के चरणों में गिर पड़े ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा ।

कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतम् ॥ १९ ॥

---

१ निर्यातितं - दापितं । (गो०)

इस प्रकार विलाप करती हुई तथा महाशोकग्रस्त कौसल्या से वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम् ।

विपुर्ला च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥ २० ॥

हे माता ! तुम तो जानती ही हो कि, राम में मेरी कितनी अधिक दृढ़ प्रीति है । मैं इस मामले में नितान्त अनभिज्ञ और निर्दोष हूँ । ऐसा होने पर भी, तुम मुझे क्यों दोषी ठहराती हो ॥ २० ॥

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूतस्य कदाचन ।

सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

सत्यसन्ध और सज्जनों में श्रेष्ठ राम जिसकी सम्मति से वन भेजे गए हों, वह पढ़े हुए शास्त्रों को भूल जाय । इसका भाव यह है, कि यदि श्रीराम के वन भेजने में मेरी अनुमति रही हो, तो मेरा श्रुति स्मृति सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाय ॥ २१ ॥

प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।

हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, वह पापात्मा नीच जाति का सेवक हो ; सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र त्याग करने का और सोती हुई गौ के लात मारने का पाप उसे लगे ॥ २२ ॥

[ टिप्पणी—इससे सिद्ध होता है कि सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र विसर्जन न करे और गाय के लात न मारे, जो ऐसा करते हैं, वे पाप के भागी होते हैं । ]



कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।

अधर्मे योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २३ ॥

अथवा राम जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप लगे, जो बड़ी मेहनत का काम करा लेने पर भी, नौकर का वेतन न देने के कारण मालिक को होता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत् ।

सततं द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो पुत्र की तरह प्रजापालन करने वाले राजा से विद्रोह करने पर होता है ॥ २४ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य? नृपस्यारक्षतः प्रजाः ।

अधर्मे योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २५ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हैं, उसे वह पाप हो, जो उस राजा को होता है, जो प्रजा से छठवाँ अंश कर का लेकर भी, प्रजा की रक्षा नहीं करता ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् ।

तां विप्रलतपां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों उसे वह पाप हो, जो पाप ऋत्विजों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा कर, पीछे दक्षिणा न देने वाले को होता है ॥ २६ ॥

---

? उद्धृत्य -- आदाय । ( गो० )

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।

मा स्म कार्षीत्सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो हाथी घोड़ों और रथों सहित एवं शस्त्रायुक्त युद्धक्षेत्र में सद्धीरों का धर्म न पालने से योद्धाओं को होता है ॥ २७ ॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं<sup>१</sup> यत्नेन<sup>२</sup> धीमता<sup>३</sup> ।

स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, वह दुष्टात्मा, अच्छे बुद्धिमान् गुरु से परलोकसाधक एवं रहस्य-युक्त उपदिष्ट वेदान्तादि शास्त्रों को भूल जावे ॥ २८ ॥

मा च तं व्यूढबाह्वं स चन्द्रार्कसमतेजसम् ।

द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

अथवा राम जिसकी अनुमति से वन में भेजे गए हों, वह इन विशालबाहु और ऊँचे कंधों वाले तथा चन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी राम का राज्याभिषेक न देख पावे । ( अर्थात् तब तक वह जीवित न रहै, मर जाय ) ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथा<sup>४</sup> सोऽश्नातु निर्घृणः ।

गुरुंश्चाप्यवजानातु<sup>५</sup> यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

शास्त्रं—वेदान्तादिविशिष्टार्थ । ( गो० ) २ यत्नेनोपदिष्टं—सुसूक्ष्मार्थ, परलोकसाधकरहस्यार्थयुक्त । ( गो० ) ३ धीमता—गुरुणा । ( गो० ) ४ वृथाऽश्नातु—देवतापित्रतिथिनिवेदनमन्तरेण भुक्तामित्यर्थः । ( गो० ) ५ अवजानातु—प्रत्युत्थानाभिवादिनादिकं न करोत्वित्यर्थः । ( गो० )



अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किए बिना खीर, तिल, चाँवल अथवा मांस खाने वाले को और गुरु को देख खड़े न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[ टिप्पणी—अर्थात् बिना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किए कोई वस्तु खानी नहीं चाहिए । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—“भुञ्जते ते त्वघं पाप ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने लिए रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं; किन्तु पाप भक्षण करते हैं । ]

गात्र स्पृशतु पादेन गुरुन्परिवदेत्स्वयम् ।

मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन को भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥ ३१ ॥

विश्वासात्कथितं किञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित् ।

विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका विश्वास कर उससे किसी का कोई दोष कहा जाय ( और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा तिस पर भी, उस दोष का ढिंढोरा पीट दे । ) अर्थात् जो पाप विश्वासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा<sup>१</sup> निरपत्रपः ।

लोके भवतु विद्वेष्ट्यो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन गए हों उसे वह पाप हो, जो (उपकार के बदले में) उपकार न करने वाले, सबजनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सबसे वैर करने वाले को होता है ॥३३॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।

स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, स्त्री, पुत्रों को न दे कर, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है । अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आश्रित जनों को कदन्न खिलाने से होता है ॥३४॥

अप्राप्य सदृशान्<sup>२</sup> दाराननपत्यः प्रमीयताम् ।

अनवाप्य क्रियां धर्म्यां<sup>३</sup> यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३५॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किए बिना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।

आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

१ त्यक्तात्मा—सद्भिः परिहृतः । (गो०) २ सदृशान्—समान कुलान् । (गो०) ३ धर्म्याक्रियाँ—अग्निहोत्रादिकं च । (गो०)



अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किए बिना खीर, तिल, चाँवल अथवा मांस खाने वाले को और गुरु को देख खड़े न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[ टिप्पणी—अर्थात् बिना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किए कोई वस्तु खानी नहीं चाहिए । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—“भुञ्जते ते त्वघं पाप ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने लिए रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं; किन्तु पाप भक्षण करते हैं । ]

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरुन्परिवदेत्स्वयम् ।

मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन को भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥ ३१ ॥

विश्वासात्कथितं किञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित् ।

विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका विश्वास कर उससे किसी का कोई दोष कहा जाय ( और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा तिस पर भी, उस दोष का ढिंढोरा पीट दे । ) अर्थात् जो पाप विश्वासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा<sup>१</sup> निरपत्रपः ।

लोके भवतु विद्वेष्ट्यो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन गए हों उसे वह पाप हो, जो (उपकार के बदले में) उपकार न करने वाले, सज्जनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सबसे वैर करने वाले को होता है ॥३३॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।

स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, स्त्री, पुत्रों को न दे कर, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है । अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आश्रित जनों को कदन्न खिलाने से होता है ॥३४॥

अप्राप्य सदृशान्<sup>२</sup> दाराननपत्यः प्रमीयताम् ।

अनवाप्य क्रियां धर्म्यां<sup>३</sup> यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३५॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किए बिना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।

आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

१ त्यक्तात्मा—सद्भिः परिहृतः । (गो०) २ सदृशान्—समान कुलान् । (गो०) ३ धर्म्याक्रियाँ—अग्निहोत्रादिकं च । (गो०)



अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गये हों, वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तति को बिना देखे, दुःखी हो, पूर्णायु न पावे ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।

भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

जो पाप राजा, स्त्री, बालक और बूढ़े का वध करने से होता है अथवा जो पाप निरपराध ( स्वामि-भक्त ) नौकर को त्यागने से होता है; वह पाप उस पुरुष को हो, जिसकी सम्मति से राम वन को भेजे गए हों ॥ ३७ ॥

लान्धया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।

सदैव विभृयाद्भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन में भेजे गए हों, उसे वह पाप हों, जो मांस शहद अथवा मद्य, लाख, लोहा और विष की बिक्री की प्रामदनी से अपने आश्रित जनों—घरवालों तथा नौकरों चाकरों का सदा पालन करने वाले को होता है ॥ ३८ ॥

[ टिप्पणी—मांस, मदिरा, लाख, लोहा और विष का व्यापार करना निषिद्ध है । स्मृतियों में भी लिखा है—

“लाक्षा लवण मांसानि वर्जनीयानि विक्रये”

अर्थात् लाख, नोन मांस का बेचना वर्जित है । ]

संग्रामे समुपोदे<sup>१</sup> तु शत्रुपक्षभयङ्करे ।

पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

१ भृत्यान्—भर्तृव्यान् पुत्रादीन् । (शि०) २ समुपोदे—निकटे । (गो०) प्राप्ते । ( रा० ) \* पाठान्तरे—“शतपक्ष ।”

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन को भेजे गए हों, वह पुरुष, युद्ध में शत्रु का भयङ्कर सैन्यदल देख भागता हुआ मारा जाय । अर्थात् राम को वन भेजने की सलाह देने वाले को वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्र से शत्रु से डर कर भागनेवाले युद्ध भीरु को होता है अथवा भाये हुए शत्रु को मारने वाले को होता है ॥ ३६ ॥

[ टिप्पणी—युद्ध से डर कर भागना भी पाप है, और भागते हुए निःशस्त्र और अधीन हुए शत्रु का मारना भी पाप है । ]

**कपालपाणिः पृथिवीमटर्ता चीरसंवृतः ।**

**भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥**

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन को भेजे गए हों, वह चिथड़े लपेटे, पागल की तरह मुर्दे की खोपड़ी हाथ में लिए द्वार द्वार भीख माँगता हुआ, पृथिवी पर घूमे ॥ ४० ॥

[ टिप्पणी—इस श्लोक में अधोरियों और कापालिकों को निन्द्य ठहराया है । ]

**मम प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।**

**कामक्रोधाभिभूतस्तु यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥**

अथवा जिसकी अनुमति से राम वनवासी हुए हों, वह पुरुष सदा मद्य पीने में, स्त्रीमैथुन में और जुआ खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और काम व क्रोध के कारण उसका सदा निरादर होता रहै अथवा वह काम व क्रोध से सदा सताया जाय ॥ ४१ ॥

**मा स्म धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।**

**अपात्रवर्षीः भवतु यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥**

---

१ अपात्रवर्षी—अपात्रे बहुदायी । (गो०) \*पाठान्तरे—‘पाने’ ।



अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए हों—वह स्वधर्म में मन न लगाकर सदा अधर्म कार्य ही किया करे और कुपात्र को बहुत सा दान दे। अथवा जिस मनुष्य की सलाह से राम बनवासी हुए हों, उसे वही पाप हो, जो स्वधर्म-त्यागी और अधर्म अनुरागी एवं कुपात्र को बहुत दान देने वाले को होता है ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।

१ दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम बनवासी हुए हों उसकी गाढ़ी कमायी का विपुल धन चोर चुरा ले जाँय ॥ ४३ ॥

२ उभे सन्ध्ये शयानस्य यत्पापं परिकल्प्यते ।

तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम बनवासी हुए हों, उसे वह पाप लगे जो साँझ सवेरे सोने वाले को लगता है ॥ ४४ ॥

[ टिप्पणी—प्रातःसन्ध्या = रात बीतने और दिनारम्भ के समय; सायं संध्या = दिन डूबने और रात्रि का आरम्भ होने के समय सोना निषिद्ध है—क्योंकि सन्ध्याओं में सोने से आयुक्षीण और पुण्यक्षय होते हैं। कहीं कहीं यह भी लिखा है—“सूर्योदये वास्तभिन्न शयान, जहाति लक्ष्मीर्यदिचक्रपाणिः ]

यदग्निदायके पापं यत्पातं गुरुतल्पगे ।

मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

१ दस्युभिः—तत्स्वरैः । (गो०) २ उभे—उभयोः सन्ध्ययोः । (गो०)

अथवा जो पाप घर में आग लगाने वाले को, गुरु की स्त्री के साथ संभोग करने वाले को और मित्र से द्रोह करने वाले को होता है, वह पाप-उस मनुष्य को लगे, जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥४५॥

देवतानां पितृणां च मातापित्रोस्तथैव च ।

मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥

अथवा जिसने राम के वनवासी होने की सम्मति दी हो, वह देवता, पितृ और माता पिता की पूजा, श्राद्ध और सेवा शुश्रूषा से वञ्चित हो । अथवा जो पाप—देवपूजन, पितृश्राद्ध और माता पिता की सेवा न करने वाले को लगता है, वह पाप राम को वन में भेजने की सलाह देने वाले को हो ॥४६॥

सर्ता लोकात्सतां ? ❀ कीर्त्याः सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा ।

अश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

अथवा जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो, वह पुरुष इसी घड़ी सज्जनों के लोक से, सज्जनों की कीर्ति से और सत्कर्मों से भ्रष्ट हो जाय । अर्थात् ऐसे पुरुष को न तो कोई ऐसा लोक प्राप्त हो, जैसा कि, सत्पुरुषों को मिलता है, न उसे वह कीर्ति उपलब्ध हो, जो साधु पुरुषों को मिलती है (अथवा उस पुरुष की साधु लोग प्रशंसा न करें) और न उसका मन उन कर्मों में लगे, जो साधुओं के लिए अनुष्ठेय हैं ॥४७॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थं सोऽवतिष्ठताम् ।

दीर्घबाहुर्महावन्ता यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

१सतांकीर्त्यात्—सद्भिः क्रियमाणश्लाघनात् । (गो०)

\* पाठान्तरे—“कीर्त्यात्सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा” ।



अथवा जिसकी सलाह से दीर्घबाहु और चौड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे । अर्थात् उसे मातृ सेवा विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥ ४८ ॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।

स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम वन में गए हों, वह बहु सन्तति वाला होकर दरिद्र हो, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥ ४९ ॥

[ टिप्पणी—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है । स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कामज माने जाते हैं । ]

आशामाशंसमानानां<sup>१</sup> दीनानामूर्ध्वचक्षुर्षाम् ।

अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम वनवासी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुछ प्राप्ति की आशा से आए हुए दीन याचकको कोरा जवाब दे और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥ ५० ॥

३मायया रमतां<sup>४</sup> नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः ।

राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

१ आशामाशंसमानानां—स्तुवतां । (गो०) २ ऊर्ध्वचक्षुषां—उन्नता-  
सनस्थदातृमुखनिरीक्षकाणां । (गो०) ३ मायया—वञ्चनया । (गो०)  
४ रमतां—संकोभवतु । (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से राम वन में गए हों, वह पुरुष  
कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) बेईमान  
और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से त्रस्त रहै ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नार्ता सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् ।

अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्याऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों, वह दुष्टा-  
त्मा ऋतुस्नार्ता (रजस्वला स्त्री के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता  
स्त्री को, जो ऋतुस्नानानन्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट  
आई हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो  
ऋतुस्नार्ता पतिव्रता स्त्री को रतिदान न देने वाले को होता  
है ॥ ५२ ॥

[टिप्पणी—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है।]

धमदारान् परित्यज्य परदारान्निषेवताम् ।

त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों, उसे  
वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग  
दता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई स्त्री के साथ मैथुन  
करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष  
को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यम् ।

तदेव प्रतिपद्येत यस्याऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

---

१ ऋतुकालानुरोधिनीं—ऋतुस्नानदिवसेस्वसंनिहितां । (गा०) २  
अति-वर्तेत—स्वीकारनकुर्वात् । (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टपत्यस्य,  
सन्ततिहीनस्येत्यर्थः । (गो०)



अथवा जिसकी सलाह से दीर्घबाहु और चौड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे । अर्थात् उसे मातृ सेवा विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥ ४८ ॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।

स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम वन में गए हों, वह बहु सन्तति वाला होकर दरिद्र हो, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥ ४९ ॥

[ टिप्पणी—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है । स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कामज माने जाते हैं । ]

आशामाशंसमानानां<sup>१</sup> दीनानामूर्ध्वचक्षुर्षाम् ।

अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसकी सलाह से राम वनवासी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुछ प्राप्ति की आशा से आए हुए दीन याचक को कोरा जवाब दे और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥ ५० ॥

मायया रमतां<sup>४</sup> नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः ।

राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

<sup>१</sup> आशामाशंसमानानां—स्तुवतां । (गो०) <sup>२</sup> ऊर्ध्वचक्षुषां—उन्नता-सनस्थदातृमुखनिरीक्षकाणां । (गो०) <sup>३</sup> मायया—वञ्चनया । (गो०) <sup>४</sup> रमतां—संकोभवतु । (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से राम वन में गए हों, वह पुरुष कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) बेईमान और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से त्रस्त रहै ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नार्ता सतीं भार्यामृतुकाला<sup>१</sup>नुरोधिनीम् ।

अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्याऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों, वह दुष्टात्मा ऋतुस्नार्ता (रजस्वला स्त्री के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता स्त्री को, जो ऋतुस्नानानन्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट आई हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो ऋतुस्नानात्मा पतिव्रता स्त्री को रतिदान न देने वाले को होता है ॥ ५२ ॥

[टिप्पणी—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है।]

धमदारान् परित्यज्य परदारान्निषेवताम् ।

त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों, उसे वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग देता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई स्त्री के साथ मैथुन करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य<sup>३</sup> दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यम् ।

तदेव प्रतिपद्येत यस्याऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

१ ऋतुकालानुरोधिनीं—ऋतुस्नानदिनसेस्वसनिहितां । (गा०) २ अति-वर्तेत—स्वीकारनकुर्वात् । (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टपत्यस्य, सन्ततिहीनस्येत्यर्थः । (गो०)



अथवा जिसकी अनुमति से राम वन में गए हों उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है, जिसके पुत्र मारे भूखों के मर जाँय और वह उनका पालन न कर सके ॥ ५४ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।

यत्तदेकः<sup>१</sup> स लभतां यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन में गए हों, उसे वही पाप हो, जो पाप पानी में विष आदि घोल कर बिगाड़ देने से अथवा किसी को विष दे कर मार डालने से होता है । इन दोनों दुष्कर्मों का पापरूप फल उसे प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः ।

बालवत्सां च गां दोग्धु यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से राम वन में गए हों, उसकी सब इन्द्रियाँ कलुषित हो जायँ । उसे वही पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो किसी ब्राह्मण के होने वाले सत्कार को, उस ब्राह्मण की निन्दा कर, रुकवा दे तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दुहे ॥ ५६ ॥

[ टिप्पणी—ब्राह्मण के लाभ में भांजी मारना और जब तक बछड़ा छोटा हो, तब तक गौ का दूध दुहना, पाप है । ]

तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन<sup>२</sup> योजयेत् ।

लभेत तस्य यत्पापं यस्मार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

१ यत्तदेकः—द्वयं एको लभतां । (रा०) २ ब्राह्मणायोद्यतांपूजांविहन्तु—ब्राह्मणायोद्यतांकेनचितपासितां पूजां सत्कृतिं विहन्तुब्राह्मणनिन्दादिना वारयितुः । (शि०) ३ विप्रलम्भेन—वञ्चनया । (गो०)

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सम्मति दी हो, उसे वही पाप हो, जो जल के रहते भी, प्यासे आदमी को बहाना कर, टाल देने वाले को होता है ॥ ५७ ॥

१ भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः २ ।

तस्य पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

अथवा जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप लगे जो उस मनुष्य को लगता है जो एक दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ वन, पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है । अर्थात् जो पाप पक्षपात करने वाले मध्यस्थ को होता है । [रामाभिरामी टीकाकार ने इस श्लोक पर यह टीका की है कि जहाँ पर वैष्णव और शैवों में विष्णुपरत्व और शिवपरत्व के ऊपर विवाद होता हो, उसे शान्त न कर, उसे बढ़ाने वाले को जो पाप होता है, वह पाप उसको लगे जिसने राम को वन में भेजने की सलाह दी हो ।] ॥ ५८ ॥

विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ।

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तो निपपात ह ॥ ५९ ॥

राजपुत्र भरत इस प्रकार पतिपुत्रविहीन कौसल्या को समझाते और अपनी सफाई देते हुए, आर्त हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।

भरतं शोकसन्तप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

---

१ भक्त्या—ज्योपायमाश्रित्य । (गो०) २ पश्यतः—ब्रुवतस्तस्य-  
पापेन युज्येतेतिसम्बन्धः । (गो०)



तब भरत से जो इस प्रकार की कठिन शपथें खा कर, शोक से सन्तप्त हो, ज्ञानशून्य हो गए थे—कौसल्या जी बोलीं ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।

शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

हे वत्स ! तुम जो तरह तरह की शपथें खा रहे हो, सो इससे तो मुझ दुखियारी का दुःख और भी अधिक बढ़ता है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या<sup>१</sup> न चलितो रधर्मादात्मा<sup>२</sup> ते सहलक्ष्मणः ।

वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सर्ता लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

यह सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलायमान नहीं हुआ और तुम लक्ष्मण की तरह सत्य-प्रतिज्ञ हो । अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे, जिसे सज्जन प्राप्त करते हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्गमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।

परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

यह कह महारानी कौसल्या, महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोदी में ले और हृदय से लगा, अत्यन्त दुःखित हो, रोने लगी ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।

मोहाच्च शोकसंरोधाद्बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार रोते हुए और दुःख से पीड़ित भरत का मन शोक उमड़ने से उत्पन्न मोह के वशवर्ती हो, उद्विग्न हो गया ॥ ६४ ॥

१ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) २ आत्मा—अन्तःकरण । (गो०)

३ धर्मात्—ज्येष्ठानुवर्तनधर्मात् । (गो०)

लालप्यमानस्य विचेतनस्य

प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।

मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च धर्मं

सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

महारानी कौसल्या द्वारा लाड किए गए, बारंबार विलाप करते हुए, चेतनाशून्य, पृथिवी पर पड़े छटपटाते हुए, बारंबार निश्वास लेते हुए और शोक करते हुए भरत ने वह रात बिताई ॥ ६५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

## षट्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकेयीसुतम् ।

उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

कैकेयीसुत भरत जी को इस प्रकार शोकाकुल देख, बोलने वालों में श्रेष्ठ, ऋषि वसिष्ठ जी उनसे यह उत्तम वचन बोले ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।

प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । बस, बहुत हुआ, अब शोक मत करो । अब समय-हो चुका है; अतः अब विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि क्रिया करो ॥ २ ॥



वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः ।

प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

पृथिवी पर पड़े हुए धर्मात्मा भरत जी ने वसिष्ठ जी के वचन सुन, महाराज के समस्त प्रेतकर्म किए ॥ ३ ॥

उद्धतं तैलसंरोधात्स तु भूमौ निवेशितम् ।

आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम् ॥ ४ ॥

(लोगों ने) महाराज के शव को तेल के कड़ाह से निकाल कर जमीन पर लिटाया । यद्यपि कई दिनों तक तेल में पड़े रहने से महाराज का शव पीला पड़ गया था, तथापि यही जान पड़ता था कि, मानों महाराज सो रहे हैं । (अर्थात् उनके मुख की चेष्टा बिगड़ी न थी ) ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाश्रये नानारत्नपरिष्कृते ।

ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

अनन्तर शव को विविध रत्नजटित विस्तरों पर लिटा कर, अत्यन्त दुःखी हो, भरत जी महाराज के लिए विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मध्यनागते ।

विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! न मालूम तुमने क्या सोचा, जो मेरे आने के पहले ही धर्मज्ञ राम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया ॥ ६ ॥

क यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।

हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाविलष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अमानुषिक कर्मकर्त्ता पुरुषसिंह राम विहीन  
मुझ दुखिया को छोड़, तुम कहाँ जाते हो ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु ते राजन् कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे ।

त्वयि प्रयाते ऽस्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

हे महाराज ! तुम्हारी इस पुरी की राज्यव्यवस्था, स्थिरचित्त  
से अब कौन सँभालेगा । क्योंकि तुम तो स्वर्गवासी हो और  
श्रीराम वनवासी हैं ॥ ८ ॥

विधवा पृथिवी राजस्त्वया हीना न राजते ।

हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥

हे महाराज ! तुम्हारे बिना, यह विधवा पृथिवी शोभा नहीं  
पाती । यह अयोध्यापुरी तो मुझे चन्द्रहीन रात्रि जैसी शोभाहीन  
जान पड़ती है ॥ ९ ॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् ।

अब्रवीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

भरत जी को इस प्रकार दीन मन से विलाप करते देख,  
महर्षि वसिष्ठ उनसे फिर बोले ॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशापतेः ।

तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियन्तामविचारितम् ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हे पृथिवीनाथ ! अब तुम व्यग्रता त्याग कर  
महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया सम्बन्धी जो कर्म करने चाहिए, उन्हें  
करो । सोच विचार करने का यह समय नहीं है ॥ ११ ॥

---

१ स्वः - स्वर्ग । (गो०) \* पाठान्तरे—“मा” “मे” ।



तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यास्त्वरयामास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब भरत जी ने वसिष्ठ जी की बात मान ऋत्विज, पुरोहित और आचार्यों से महाराज के प्रेतकर्म करवाने के लिए शीघ्रता की ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यागाराद्वहिष्कृताः ।

ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते ॥ यथाविधि ॥ १३ ॥

महाराज के अग्न्यागार में जो अग्नि स्थापित थी, उसे बाहिर निकाल कर, ऋत्विज और याचक उसमें यथाविधि होम करने लगे ॥ १३ ॥

शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम् ।

वाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर परिचारकगण महाराज के शव को पालकी में रख, अत्यन्त उदास और रोते हुए पालकी उठा कर चले ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।

प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

लोग महाराज की पालकी के आगे आगे मोहरें, रुपये अथवा सोने चाँदी के फूल और तरह तरह के वस्त्र, सड़कों पर बरसाते हुए चले जाते थे । अर्थात् लुटाते हुए चले जाते थे ॥ १५ ॥

१चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं २ पद्मकं तथा ।

देवदारुणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ १६ ॥

१ चन्दनागरुनिर्यासान्—निर्यासोगुग्गुलः । (गो०) २ सरलं—  
धूपसरलं । (गो०) \* पाठान्तरे—“तेऽहूयन्त” “आहूयन्त” ।

कुछ लोग चन्दन, अगर, गुग्गुल की धूप ( पालकी के इधर उधर ) जलाते जाते थे । जब पालकी सरयू तट पर पहुँची, तब देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्र कर चिता बनाई गई ॥ १६ ॥

गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाऽथ भूमिपम् ।

ततः संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

चिता में और भी अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ डाले गए । तदनन्तर ऋत्विजों ने चिता के ( पास पालकी ले जाकर तथा उसमें से महाराज के शव को निकाल, ) ऊपर शव को लिटा दिया ॥ १७ ॥

तथा हुताशनं दत्त्वा १ जेपुस्तस्य २ तमृत्विजः ।

जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

तदनन्तर ऋत्विज लोग महाराज की परमगति के लिए प्रेत्याग्नि में आहुति दे कर, पैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने साम गान किया ॥ १८ ॥

शिविकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।

नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तदा ॥ १९ ॥

महाराज की शोकसन्तप्त सब रानियाँ भी यथायोग्य पालकी, रथ आदि सवारियों में बैठ, वृद्ध रक्षकों के साथ, नगर के बाहिर, जहाँ महाराज की चिता बनाई गई थी, पहुँची ॥ १९ ॥

---

१ जेपुः—पैतृमेधिकमंत्रविशेषानितिशेषः । ( गो० ) २ तस्य परम गत्यर्थमितिशेषः । ( गो० )



प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।

स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

फिर ऋत्विजों ने और कौसल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक-सन्तप्त हो, जलते हुए महाराज के शव की प्रदक्षिणा की ॥ २० ॥

कौश्वीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।

आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय करुण स्वर से रोती हुई और शोक से व्याकुल होने के कारण चिल्लाती हुई, उन सहस्रों स्त्रियों का चिल्लाना सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानों कौंच पक्षी की मादाएँ चिल्ला रही हों ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।

यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्वराङ्गनाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर सब रानियाँ रोती और विलाप करती हुई, अपनी अपनी सवारियों से उतर, सरयू नदी के तट पर पहुँची ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन साधं

नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।

पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा

भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

उन स्त्रियों ने भरत, मंत्री और पुरोहितों के साथ महाराज को जलाञ्जलि दी । तदनन्तर सब लोग आँसू बहाते हुए, नगर में

सप्तसप्ततितमः सर्गः

७८७

आप और दस दिन तक भूमि पर लेट कर, बड़े दुःख से समय बिताया ॥ २३॥

अयोध्याकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❁ :—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।

द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

दस दिन बीत जाने पर ११वें दिन, भरत जी शुद्ध हुए और बारहवें दिन उन्होंने सपिण्डी आदि कर्म किए ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्नं धनमन्नं च पुष्कलम् ।

वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

और ब्राह्मणों को बहुत से रत्न, बहुत सा धन और बहुत सा अन्न तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य विविध उत्तम वस्तुएँ भी दीं ॥ २ ॥

वास्तिकं<sup>१</sup> बहुशुक्लं<sup>२</sup> च गाश्चापि शतशस्तदा ।

दासीदासं च यानं च वेश्मानि सुमहान्ति च ॥ ३ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम् ।

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ त्रयोदशे ॥ ४ ॥

---

१ वास्तिकं—छागानांसमूहोवास्तिकं । (गो०) २ बहुशुक्लं—छाग-विशेषणं । (गो०)



भरत जी ने बहुत से सफेद वकरे, सैकड़ों गौएँ, अनेक दास, दासी, सवारियाँ और बड़े-बड़े मकान महाराज के मृत-कर्म में ब्राह्मणों को दान दिए तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातः काल ॥ ३ ॥ ४ ॥

विललाप महाबाहुर्भरतः शोककर्षितः ।

शब्दापिहितकण्ठस्तु शोधनार्थमुपागतः ॥ ५ ॥

चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ।

तात यस्मिन्निमृष्टोऽहं त्वया आतरि राघवे ॥ ६ ॥

महाबाहु भरत जी शोक से मूर्छित हो, विलाप करने लगे और चिता से अस्थि बीनने के लिए चिता के समीप जा गद्गद् वाणी से अत्यन्त दुखी हो और पिता को सम्बोधन कर कहने लगे—हे तात ! जिन भाई राम के भरोसे आपने मुझे छोड़ा था ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्मिन् वनं प्रव्रजिते शून्ये<sup>१</sup> त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।

यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्रजितो वनम् ॥ ७ ॥

उनको वन में भेज, तुमने भी मुझे अनाथ की तरह त्याग दिया । जिस अनाथिनी का पुत्र वन में निकाल दिया गया ॥७॥

तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ।

दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थिस्थानमण्डलम् ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> शून्ये—स्वजनरहिते । ( शि० )

उस माता कौसल्या को छोड़ कर, हे तात ! तुम कहाँ चले गए ? भरत जी पिता के शरीर की जली हुई श्वेत रंग की राख चिता स्थान पर देख ॥ ८ ॥

पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन्विषसाद सः ।

स तु दृष्ट्वा रुदन्दीनः पपात धरणीतले ॥ ९ ॥

और पिता के शरीर को नष्ट हुआ देख, निरन्तर रोते हुए तथा दीन हो कर, विलाप करते हुए, भूमि पर गिर पड़े ॥ ९ ॥

उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वजः इव च्युतः ।

अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचित्रतम् ॥ १० ॥

फिर लोगों द्वारा उठाए जाने पर, भरत जी उसी प्रकार गिर पड़े, जिस प्रकार डोरी से बँधो इन्द्र की ध्वजा, डोरी टूट जाने से गिर पड़ती है । शुचित्रत भरत को भूमि पर गिरा हुआ देख, मंत्रियों ने दौड़ कर उनको उठाया ॥ १० ॥

अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ।

शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ॥ ११ ॥

मंत्रियों ने भरत को उसी प्रकार उठाया, जिस प्रकार ऋषियों ने राजा ययाति को पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरते समय उठाया था । शत्रुघ्न जी भी भरत जी को शोक में डूबा हुआ देख, ॥ ११ ॥

विसंज्ञो न्यपतद्भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ।

उन्मत्त इव निश्चेता विललाप सुदुःखितः ॥ १२ ॥

१ शक्रस्य यन्त्रध्वजः—रज्जुयुक्तो ध्वजइवपपात । ( गो० ) २  
अन्तकाले—पुण्यक्षयकाले । ( गो० )



महाराज का स्मरण करते हुए, अचेत हो, भूमि पर गिर पड़े और अत्यन्त दुःखी होने के कारण वेसुध और उन्मत्त की तरह विलाप करने लगे ॥ १२ ॥

स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ।

मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसङ्कुलः ॥ १३ ॥

वह पिता के गुणों का एक एक कर बखान करते जाते थे । उस समय शत्रुघ्न जी कहने लगे कि, मन्थरा की करतूत से उत्पन्न, और कैकेयी रूपी, मगर से युक्त ॥ १३ ॥

वरदानमयोक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ।

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ॥ १४ ॥

वरदान रूपी स्थिर महासागर में हम सब डूब गए । हे पिता जी ! जिस सुकुमार बालक का लाड़ प्यार आपने सदा किया था, ॥ १४ ॥

क तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वभरणेषु च ॥ १५ ॥

उस विलाप करते हुए भरत को छोड़, आप कहाँ चल दिए ? भोजन के योग्य पदार्थ वस्त्र और आभूषण ॥ १५ ॥

प्रवारयसि नः सर्वास्तन्नः कोऽन्यः करिष्यति ।

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ॥ १६ ॥

या विहीना त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ।

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ॥ १७ ॥

१ प्रवारयसि—प्रकर्षेण स्वयं ग्राहयसि । ( गो० )

आप आपहपूर्वक इस लोगों को स्वयं दिखा करते थे—  
 तो ये सब वस्तुएँ हमें अब कौन देगा । इस दारुण काल में,  
 आप जैसे महात्मा और धर्मज्ञ महाराज से रहित होने पर, यह  
 पृथिवी फट क्यों नहीं जाती ! पिता जी तो स्वर्ग चले गए और  
 राम वनवासी हो गए ॥ १६ ॥ १७ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

हीनो आत्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ १८ ॥

अब मैं किस प्रकार प्राण धारण करूँ । मैं तो अब अग्नि  
 में कूद पड़ूँगा । अब मैं भाई और पिता से रहित इस इक्ष्वाकु-  
 पालित एवं सूनी ॥ १८ ॥

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ।

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चान्ववेक्ष्य तत् ॥ १९ ॥

अयोध्या में न जा कर, तपोवन में जाऊँगा । इस प्रकार उन  
 दोनों भाइयों का विलाप सुन, और उनका कष्ट देख, ॥ १९ ॥

भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ।

ततो विषण्णौ शोचन्तौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ २० ॥

सब नौकर चाकर बहुत दुःखी हुए । दोनों भाई भरत और  
 शत्रुघ्न विषादयुक्त चिन्तापरायण एवं दुःखी थे ॥ २० ॥

धरण्यां संव्यचेष्टेतां<sup>१</sup> भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ।

ततः<sup>२</sup> प्रकृतिमान्वैद्यः<sup>३</sup> पितुरेषां पुरोहितः ॥ २१ ॥

१ व्यचेष्टेतां—व्यल्लुएठेतां । ( गो० ) २ प्रकृतिमान्—प्रयत्नस्व-  
 भावः । ( गो० ) ३ वैद्यः—वेदान्तविद्याधिगतपरावरतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानः  
 सर्वज्ञइतियावत् । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“विश्रान्तौ,” “श्रान्तौच” ।



सींग कटे हुए बैल की तरह, वे पृथिवी पर गिर कर, छटपटा रहे थे । उस समय प्रशस्त स्वभाव वाले सर्वज्ञ और दोनों राजकुमारों के पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य<sup>१</sup> ते विभो ॥२२॥

वसिष्ठ जी, भरत जी को उठा कर कहने लगे । हे विभो ! आपके पिता का अग्निसंस्कार हुए, आज तेरह दिन हो चुके ॥ २२ ॥

सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥२३॥

अतः अब भस्म सहित अस्थि सञ्चयन करने में क्यों देर करते हो । प्रत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व ( जोड़े ) रह्य करते हैं— अर्थात् ( १ ) भूख प्यास ( २ ) शोक मोह और ( ३ ) जरा ( बुढ़ापा ) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ।

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥२४॥

इन छः को दूर करना सम्भव नहीं । अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं । ( वसिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार समझाया और ) तत्त्वज्ञ सुमन्त्र ने शत्रुघ्न को उठा कर और ढाँढस बँधा उन्हें सब प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश के तत्त्व को समझाया ॥ २४ ॥

१ वृत्तस्य—संस्कृतस्य । ( गो० )

श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ।

उत्थितौ च नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।

वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथग्निन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

जब वे दोनों पुरुषसिंह एवं यशस्वी दोनों भाई उठ कर खड़े हुए, तब वे ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा और घाम के कारण मलिन भाव धारण किए हुए, दो इन्द्र की ध्वजाएँ अलग अलग खड़ी हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।

अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मंत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आँखें रोते रोते लाल हो गई थीं और जो आँसुओं को पोंछ रहे थे तथा जो दोन वचन बोल रहे थे, आगे के कृत्य बराबर करने को शीघ्रता करने लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सप्तहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

भरतं शोकसन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

परिमृद्नन्तौ—मार्जयन्तौ । (गो०)



सींग कटे हुए बैल की तरह, वे पृथिवी पर गिर कर, छट-पटा रहे थे । उस समय प्रशस्त स्वभाव वाले सर्वज्ञ और दोनों राजकुमारों के पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य<sup>१</sup> ते विभो ॥२२॥

वसिष्ठ जी, भरत जी को उठा कर कहने लगे । हे विभो ! आपके पिता का अग्निसंस्कार हुए, आज तेरह दिन हो चुके ॥ २२ ॥

सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥२३॥

अतः अब भस्म सहित अस्थि सञ्चयन करने में क्यों देर करते हो । प्रत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व ( जोड़े ) रह्य करते हैं— अर्थात् ( १ ) भूख प्यास ( २ ) शोक मोह और ( ३ ) जरा ( बुढ़ापा ) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ।

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥२४॥

इन छः को दूर करना सम्भव नहीं । अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं । ( वसिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार समझाया और ) तत्त्वज्ञ सुमन्त्र ने शत्रुघ्न को उठा कर और ढाँढस बँधा उन्हें सब प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश के तत्त्व को समझाया ॥ २४ ॥

१ वृत्तस्य—संस्कृतस्य । ( गो० )

श्रावयामास तत्स्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ।

उत्थितौ च नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।

वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

जब वे दोनों पुरुषसिंह एवं यशस्वी दोनों भाई उठ कर खड़े हुए, तब वे ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा और घाम के कारण मलिन भाव धारण किए हुए, दो इन्द्र की ध्वजाएँ अलग अलग खड़ी हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्वन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।

अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मंत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आँखें रोते रोते लाल हो गई थीं और जो आँसुओं को पोंछ रहे थे तथा जो दोन वचन बोल रहे थे, आगे के कृत्य बराबर करने को शीघ्रता करने लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सप्तहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

भरतं शोकसन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

परिमृद्वन्तौ—मार्जयन्तौ । (गो०)



भरत जी से, जो शोकसन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने का विचार कर रहे थे, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न बोले ॥ १ ॥

गतिर्यः सबभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥ २ ॥

आई ! जो राम दुःख और सङ्कट में प्राणिमात्र के एकमात्र अवलंब हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—वे ही जब स्त्रीसहित वन में निकाल दिए गए, तब हम अपने दुःखों की बात ही क्या कहें ॥ २ ॥

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।

किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

(यदि मान भी लिआ जाय कि, राम ने सङ्कोचवश उस समय कुछ न कहा, तो) बलवान् और पराक्रमी लक्ष्मण ने पिता को रोक कर, राम को क्यों न बचाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।

उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

क्योंकि महाराज जब स्त्री के दशवर्ती हो, अथवा स्त्री के आग्रह से अन्याय करने को उद्यत हुए थे, तब ही लक्ष्मण को उचित था कि, नीति अनीति का भली भाँति विचार कर, पहिले ही महाराज को इस कर्म करने से रोक देते ॥ ४ ॥

[टिप्पणी—लक्ष्मण शत्रुघ्न के सहोदर भ्राता हैं, अतः उन पर अपना घनिष्ठ प्रेम दिखाते हुए-कर्तव्य पालन में उनकी उदासीनता का शत्रुघ्न जी यहाँ उल्लेख कर रहे हैं क्योंकि वे अपने को लक्ष्मण से यह सब कहने का अधिकारी समझते हैं ।

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।

प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न जी इस प्रकार भरत जी से बात चीत कर रही रहे थे कि, इतने ही में कुब्जी मन्थरा सब गहने पहिने हुए पूर्व द्वार पर देख पड़ी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण<sup>१</sup> राजवस्त्राणि<sup>२</sup> विभ्रती ।

विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उस समय मन्थरा गाढ़े चन्दन से अपना शरीर पोते हुए थी, कैकेयी के दिए रानियों के पहनने योग्य वस्त्रों से सजी हुई थी और अनेक प्रकार के रानियों के पहिनने योग्य आभूषण धारण किए हुए थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिरिचत्रैरन्यैश्च शुभभूषणैः ।

बभासै बहुभिर्बद्धा रज्जुबद्धेव वानरी ॥ ७ ॥

उसकी कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी थी तथा अन्य अंगों पर भी बड़े बड़िया और सुन्दर अनेक जड़ाऊ आभूषण थे । (यद्यपि उसने अपने शरीर का शृङ्गार करने में कोई कोर कसर नहीं रखी थी; तथापि) वह अनेक आभूषणों को धारण किए हुए डोरी से बँधी हुई एक वानरी जैसी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्था ऋभृशं पापस्य कारिणीम् ।

गृहीत्वाऽकरुणां कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

उस समय उस महापापिन मन्थरा को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयता पूर्वक पकड़, शत्रुघ्नजी को सौंप दिया ॥ ८ ॥

१ चन्दनसारेण—चन्दनपट्टेन । (गो०) २ राजवस्त्राणि—राजाह्व-  
स्त्राणि कैकेयीदत्तानि । (गो०) \* पाठान्तरे—“सुभृशं पापकारिणीम् ।”



यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता ।

सेयं पापां नृशंसा च तस्याः कुरुः यथामतिं ॥ ६ ॥

और शत्रुघ्न से बोले जिसके कहने से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए और आपके पिता को शरीर त्यागना पड़ा, वह यही पापिन और कसाइन है। सो जैसा तुम उचित समझो वैसा इसे दण्ड दो ॥ ६ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।

अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः २ ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जी यह बात श्रुत, अत्यन्त ही दुःखित हो तथा कर्त्तव्य कर्म निश्चय कर, सब अन्तःपुरचारियों से यह बोले ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथापितुः ।

यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

जिसने मेरे सब भाइयों और पिता के लिए महान् दुःख उत्पन्न किया, यह वही घात करने वाली है—अतः यह अब अपने किये का फल भोगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तेनाशु सखीजनसमावृता ।

गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत् ॥ १२ ॥

यह कह कर, शत्रुघ्न ने सखियों से घिरी हुई मन्थरा को तुरन्त ऐसे जोर से पकड़ा कि, उसके चीत्कार से सारा भवन प्रतिध्वनित हो उठा ॥ १२ ॥

---

१ कुरुशि क्षणमिति शेषः । (गो०) २ धृतव्रतः—कर्त्तव्यत्वेन अवधृत व्रतः । (रा०)

ततः सुभृशसन्तप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः ।

क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं विपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्थरा की यह दशा देख, उसके साथ की सखियाँ बहुत सन्तप्त हुईं और शत्रुघ्न को क्रुद्ध हुआ जान, वे सब इधर उधर भाग गईं ॥ १३ ॥

आमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।

यथायं समुपक्रान्तो निःशेषात्रः करिष्यति ॥ १४ ॥

और दूर जाकर, सब आपस में कहने लगीं कि इस समय शत्रुघ्न ने जैसा कार्य आरम्भ किया है, उससे तो यह जान पड़ता है कि, शत्रुघ्न हम सब को मार ही डालेंगे ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।

कौसल्यां शरणं याम सा हि नोऽस्तु ध्रुवा गतिः ॥ १५ ॥

अतएव इस समय हमें उन दयालु, परमोदार, धर्मज्ञ एवं यशस्विनी कौसल्या जी का आश्रय ग्रहण करना उचित है। क्यों कि वे ही हमको आश्रय देंगी अर्थात् हमें बचा सकेंगी ॥ १५ ॥

स च रोषेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।

विचक्र्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं धरणीतले ॥ १६ ॥

उधर मारे क्रोध के लाल लाल आँखें किए हुए शत्रुओं के दमन करने वाले शत्रुघ्न ने, चीत्कार करती हुई मन्थरा को, भूमि पर पटक कर कड़ा ॥ १६ ॥

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।

चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥

१ भाण्डं—भूषणं । (गो०)



घसीटा घसाटी में मन्थरा के सब गहने तितर बितर हो गए और दूट फूट कर चारों ओर बिखर गए ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन ॐसंस्तीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम् ।

अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

उस समय वह परम सुन्दर राजभवन उन दूटे फूटे और चारों ओर बिखरे हुए गहनों से उसी प्रकार शोभित हुआ, जिस प्रकार शरद् ऋतु का आकाशमण्डल तारागण से सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

स बली बलवत्क्रोधात् ? गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।

कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, बलवान् शत्रुघ्न जी, मन्थरा को अत्यन्त क्रुद्ध हो, पकड़े हुए थे । यह देख कैकेयी ने मन्थरा को छुड़ाना चाहा । इस पर शत्रुघ्न जी ने कैकेयी को भी अत्यन्त कड़वी बातें सुनाई ॥ १९ ॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।

शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्न के उन कड़वे वचनों से कैकेयी अत्यन्त दुःखित हो और शत्रुघ्न से भयभीत हो, अपनी तथा मन्थरा की रक्षा के लिए अपने पुत्र भरत का आश्रय ग्रहण किया ॥ २० ॥

तां प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।

अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

१ बलवत्क्रोधात् — अतीवक्रोधात् । (गो०) \*पाठान्तरे—“सङ्क्षीर्णं”

तव शत्रुघ्न को कुपित देख, भरत ने उनसे यह कहा, भाई  
प्राणिमात्र के लिए स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतएव अब इसे क्षमा  
करना चाहिए अर्थात् छोड़ देना चाहिए ॥ २१ ॥

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।

यदि मां धार्मिको रामो नास्त्रयेन् मातृघातकम् ॥ २२ ॥

( यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं और ) यदि धर्मात्मा श्रीराम  
मुझे मातृघाती समझ, मुझ पर क्रुद्ध न होते, तो मैं तो इस  
पापिन दुष्टा कैकेयी को ( भी कभी का ) मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।

त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥ २३ ॥

यदि इस कुब्जा का मारना कहीं राम जान पाए, तो वे  
धर्मात्मा निश्चय ही, तुमसे और मुझसे बात तक न करेंगे ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

न्यवर्तत ततो रोषात्तां मुमोच च मन्थराम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार भरत के कहने पर, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न  
का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।

निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप च ॥ २५ ॥

तब मन्थरा जा कर कैकेयी के पैरों पर गिर पड़ी और  
अत्यन्त दुःखी हो श्वाँसें छोड़ती हुई, करुण स्वर से विलाप  
करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां

समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।



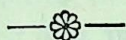
शनैः समाश्वासयदातरूपां

क्रौञ्चीं विलग्नमिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

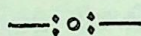
इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न जी के कढ़ोरने से अचेत और पीड़ित मन्थरा को, पार्श्व में फँसी क्राँची पक्षिणी की तरह देख, भरतमाता कैकेयी ने धीरे धीरे उसे समझाया ॥२६॥

अयोध्याकाण्ड का अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



एकोनाशीतितमः सर्गः



ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे ।

समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

चौदहवें दिन प्रातःकाल होने पर, राज-कर्मचारी लोग इकट्ठे हुए और भरत जी से कहने लगे ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुरतो गुरुः ।

रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र राम और महाबलवान् लक्ष्मण को वन में भेज स्वयं स्वर्ग पधारे ॥ २ ॥

त्त्रयमथ भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।

सङ्गत्या नापराध्नोति सज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

अतएव हे महायशस्वी राजकुमार ! अब तुम हमारे राजा हो । क्योंकि यह राज्य बिना राजा का है और जब पिता तुमको यह राज दे गए हैं, तब इसे ग्रहण करना न तो तुम्हारे लिए असङ्गत है और न तुमको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है ॥ ३ ॥

अभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव ।

प्रतीक्षते त्वां स्वजनः<sup>१</sup> श्रेण्यश्च<sup>२</sup> नृपात्मज ॥ ४ ॥

हे रघुवंशसम्भूत राजकुमार ! यह कथन केवल हम राज-कर्मचारियों ही का नहीं है—बल्कि हमारे मंत्रीगण और पुरवासी लोग अभिषेक की सामग्री लिए तुम्हारी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।

अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम अपने इस पिता-पितामह के राज्य को अवश्य ग्रहण करो और अपना अभिषेक करवा, हम सब का पालन करो ॥ ५ ॥

[एवमुक्तः शुभं वाक्यं द्युतिमान् सत्यवाक्छुचिः ।]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन सब का यह शुभ वचन, तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिषेक की सामग्री से भरे हुए सब पात्रों की प्रदक्षिणा की ॥ ६ ॥

---

१ स्वजनः—अमात्यादिः । (गो०) २ श्रेण्यः—पौराः । (रा०)



भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ।

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः ॥ ७ ॥

तदनन्तर व्रतधारी भरत जी उन सब लोगों से बोले—देखिए हमारे कुल में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही राजसिंहासन पर बैठता आया है ॥७॥

नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ।

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ॥ ८ ॥

अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ।

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ॥ ९ ॥

अतः यह जान कर भो, आप लोग मुझसे ऐसी बात न कहिए। राम मेरे बड़े भाई हैं, वे ही राजा होंगे। मैं ( उनके बदले ) वन में जाकर, चौदह वर्ष वनवास करूँगा। अतः चतुरङ्गिणी सेना तैयार कीजिए ॥ ८ ॥ ९ ॥

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ।

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ॥ १० ॥

मैं वन में जा कर भाई राम को यहाँ लिवा लाऊँगा। यह जो अभिषेक सामग्री है ॥१०॥

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ।

तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ॥ ११ ॥

उसको ले कर, मैं राम का अभिषेक करने को वन में जाऊँगा और वहीं उनका अभिषेक कर, ॥ ११ ॥

आनेष्यामि तु वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ।

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् ॥ १२ ॥

मैं राम को यहाँ उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है। मैं अपनी इस नाममात्र की माता की साध पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १२ ॥

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ।

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विपमाणि च ॥ १३ ॥

प्रत्युत मैं स्वयं दुर्गम वन में जा कर रहूँगा और राम राजा होंगे। इस लिए मैं आज्ञा देता हूँ कि, सबक की मरम्मत करने वाले कारीगर लोग ( आगे जा कर ) ऊँचे नीचे रास्ते को ठीक करें ॥ १३ ॥

रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः<sup>१</sup> ।

एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् ।

प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्गों के शोधक भी जायँ । इस प्रकार राजकुमार भरत ने राम के अभिषेक के लिए कहा, तब सब लोग भरत जी के मनोहर एवं अति उत्तम वचनों का समर्थन करने लगे ॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम् ।

यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

आप इस पृथ्वी का राज्य ज्येष्ठ राजकुमार राम को देना चाहते हैं—आपका यह वचन मनोहर और बहुत ही ठीक है। अतः आपके समीप सदा पद्मासना लक्ष्मी देवी निवास करें ( यह उन लोगों की भरत के प्रति शुभ कामना है ) ॥ १५ ॥

१ विचारकाः—शोधकाः । ( शि० )



अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मज-

प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च ।

प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पविन्दवो

निपेतुरार्यानिननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे, वे सब भरत जी के कहे हुए उत्तम वचनों को सुन, नेत्रों से आनन्द के आँसू टपकाने लगे ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः

सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।

पन्थानं नरवर भक्तिमाञ्जनश्च

व्यादिष्टास्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

यह बात सुन, मंत्रिगण नौकरों चाकरों सहित प्रसन्न हो और शोक रहित हो, कहने लगे, हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे कथनानुसार शिल्पियों को आज्ञा दे दी गई है ॥ १७ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## अशीतितमः सर्गः

—:०:—

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः<sup>१</sup> ।

स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा<sup>२</sup> ॥ १ ॥

कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा<sup>४</sup> यन्त्रकोविदाः ।

तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृत्ततत्तकाः ॥ २ ॥

कूपकाराः सुधाकारा<sup>५</sup> वंशकर्मकृतस्तथा ।

६समर्था ये च द्रष्टारः<sup>७</sup> पुरतस्ते प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर भरत जी के आज्ञानुसार भूमि के भेदों के जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनी दूर पर है अथवा है कि नहीं, अपने काम में सदा सावधान रहने वाले एवं परिश्रमी बेलदार तथा जल को बाँध कर रोकने वाले अथवा पुल बनाने वाले मजदूर, राजथवई, निरीक्षक कल पुर्जों के जानने वाले, बढ़ई, मार्गों के ज्ञाता और वृत्त काटने वाले, कुआँ खोदने वाले, दीवालें पर अस्तर करने वाले, बंसफोड़ा, अन्य कामों के करने में समर्थ और वे लोग जो उन मार्गों को पहिले से देखे हुए थे; वे सब लोग आगे ही चल दिए ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

१ विशारदाः—समर्थाः । ( गो० ) २ स्वकर्माभिरताः स्वकर्मसावधानाः ( गो० ) ३ यन्त्रकाः—जलप्रवाहादियन्त्राण समर्थाः । ( रा० ) ४ पुरुषाः—अध्यक्षराजपुरुषाः । ( गो० ) ५ सुधाकाराः—प्रसादस्थल-क्षित्यादिलेपनकराः । ( गो० ) ६ समर्थाः—कार्यान्तरेषुसमर्थाः । ( गो० ) ७ द्रष्टारः—पूर्वानुभूतमार्गाः—मार्गप्रदर्शकाः । ( गो० )



स तु हर्षात्तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् ।

अशोभत महावेगः समुद्र इव पर्वणि ॥ ४ ॥

इन लोगों के झुंड जो प्रसन्न होते हुए चले जाते थे, ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र शोभायमान देख पड़ता है । अर्थात् जैसे समुद्र उमड़ता है, वैसे ही मनुष्यों की भीड़ उमड़ी हुई जा रही थी ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।

करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

मार्ग बनाने में चतुरलोग अपने दल में मिल कर, फावड़े कुल्हाड़ी इत्यादि बहुत सा उपयोगी सामान साथ ले, आगे आगे चले ॥ ५ ॥

लता बल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणून्श्मन एव च ।

जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग रास्ता साफ करने के अभिप्राय से लता, बल्ली, झाड़, खूँटी, पत्थर और अनेक प्रकार के वृक्षों को, जो रास्ते में पड़ते थे, काटकूट कर, रास्ता बनाते जाते थे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन् ।

केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् कक्किक्कचित् ॥ ७ ॥

जहाँ कहीं वृक्ष नहीं लगे थे, वहाँ वृक्ष लगाते जाते थे और जहाँ कहीं वृक्षों की घनी डालियाँ रास्ता रोके हुए थीं, उनको कुल्हाड़ी फरसे आदि से काटकूट कर एक सा करते जाते थे ॥ ७ ॥

अपरे १वीरणस्तम्बान् २बलिनोबलवत्तराः ।

विधमन्ति ३ स्म दुर्गाणि ४ स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुछ बलवान लोगों ने अत्यन्त मजबूत ठूठों को, जो उखाड़े नहीं उखड़ सकते थे, जला कर साफ कर दिया और जितने ऊँचे नीचे रास्ते और दुर्गम स्थान थे, उन सब को ठोंक पीट कर तथा मिट्टी से पाट कर ठीक कर दिया ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।

निम्नभागांस्ततः कैचित्समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

कुछ लोग बीच रास्ते में जो कुएँ और गड़हे आते उनको मिट्टी से पाटते और नीची भूमि को मिट्टी से भर, बराबर करते चले जाते थे ॥ ९ ॥

बबन्धुर्बन्धनीयांश्च ६क्षोदनीयांश्च चुक्षुदुः ॥

विभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा ॥ १० ॥

वे लोग, रास्ते की छोटी नदियों या नालों पर पुल बनाते जाते थे, जहाँ कहीं गोखरू या कंकड़ी आदि पाते, उनको बटोर कर फेंक देते थे, जहाँ कहीं जल के आने में रुकावट देखते, वहाँ के बाँध को तोड़ कर जल निकाल देते थे ॥ १० ॥

अचिरेणैव कालेन परिवाहोन्बहूदकान् ।

चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून् ॥ ११ ॥

१ वीरणस्तम्बान्—वीरणं तृणकाण्डान् (गो०) २ बलिनः—रूढ़-मूलान् । (गो०) ३ विधमन्ति स्म—ग्रहन् । (गो०) ४ दुर्गाणि—गन्तु-मशक्यानि । (गो०) ५ क्लृप्तुमशक्यान् । (रा०) ६ बन्धनीयान्—जल-प्रदेशान् (गो०) ७ क्षोदनीयान्—शर्कराभूयिष्ठप्रदेशान् । (गो०) \*पाठान्तरे—“क्षोद्यान्श्चुक्षुस्तदा”



बहुत जल्द ह उन लोगों ने थोड़े पानी के सोतों का जल रोकने के लिए बाँध बाँध दिए और कई एक जगहों के तालाबों को खोद कर सागर की तरह अगाध जलयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्

१ उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

और जहाँ जल का अभाव था, वहाँ अनेक नए कुएँ और तालाब खोदे और उनके समीप लोगों के विश्राम करने के लिए चबूतरे बना दिए ॥ १२ ॥

स सुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः ।

मत्तोद्गुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के रास्ते को चूने की गच्चों से ठीक कर, सड़क के इधर उधर ऐसे वृक्ष लगा दिए, जिन पर पक्षी बोला करते थे और जगह जगह सड़कों के दोनों ओर पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १३ ॥

चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः ।

बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

चन्दन के जल के छिड़काव और अनेक प्रकार की फूली हुई लताओं से वह सेना का रास्ता देवमार्ग की तरह सजा दिया गया था ॥ १४ ॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्तिर युक्तास्तेऽधिकृताः नराः

रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

१ उदपानान्—कूपान् । ( गो० ) २ यथाज्ञप्ति—यथामति । ३ अधिकृताः—मार्गशिविरादिकरणेनियुक्ताः । (गो०)

जो लोग पड़ावों पर शिविर आदि बनाने के लिए नियुक्त किए गए थे, उन लोगों ने यथामति रमणीय और अत्यन्त स्वाष्टि फल वाले वृक्षों से युक्त जगहों पर ॥१५॥

यो निवेशस्त्वभिमतोऽभरतस्य महात्मनः ।

भूयस्तं शोभयामासुर्भूपाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥

सेना के उतरने के लिए वैसे ही स्थान बना दिए जैसे कि महात्मा भरत जी चाहते थे । फिर उन स्थानों को अनेक प्रकार की सामग्री से सजा भी दिया ॥१६॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः<sup>१</sup> ।

निवेशान्<sup>२</sup>स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥१७॥

वास्तुशास्त्र ( मकान बनाने के शास्त्र के ) ज्ञाताओं ने शुभ नक्षत्र युक्त मुहूर्त में महात्मा भरत के लिए शिविर बनाए ॥१७॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखापरिवारिताः ।

तवेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोली<sup>४</sup>वरशोभिताः ॥ १८ ॥

शिविर, इन्द्रनील पवत की तरह ऊँचे देतीले धुस्सों से तथा क्लयुक्त खाइयों से घिरवा दिए गए थे और जगह जगह रास्ते बना दिए गए थे ॥ १८ ॥

प्रासादमालावितताः सौध<sup>५</sup>प्राकारसंवृताः ।

पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥

१ तद्विदः—वास्तुशास्त्रज्ञाः । (गो०) २ निवेशान्—शिविराणि । (गो०)  
बहुपांसुचयाः—पासुशब्देनासूक्ष्मसिकता उच्यन्ते । (गो०) ४ प्रतोली—  
वीथिः । (गो०) ५ सौधा—राजगृहाणि यद्वासुधाधवलितः । (गो०)

\* पाठान्तरे—“अभिप्रेतो ।”



सफेद रंग के बड़े ऊँचे-ऊँचे देवगृहों के सदृश मकानों की पाँति बनाई गई थी। जितने रास्ते थे, वे सब पताकाओं से लुशोभित किए गए थे ॥ १९ ॥

विसर्पाद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।

१ समुच्छितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

वहाँ पर सतखने गृहों के ऊपर जो अटारियाँ थीं, वे कबूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। ऊँचे ऊँचे भवनों को देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में देवताओं के आवासस्थान बने हों। उस समय उन पड़ावों की शोभा इन्द्र की अमरावती पुरी की शोभा जैसी हो रही थी ॥ २० ॥

जाह्नवीं तु समासाद्यरविविधद्रुमकाननाम् ।

शीतलामलपानीयां महाभीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

भरत जी के लिए, (अयोध्या से लेकर) निर्मल एव शीतल जल वाली उस गङ्गा तक, जिसमें बड़ी बड़ी मछलियाँ रहती हैं, जो मार्ग बनाया गया था, उसके अगल बगल तरह तरह के वृक्षों से युक्त अनेक कानन थे। अर्थात् यह मार्ग जङ्गलों में हो कर गया था ॥ २१ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा

नभः क्षपायाममलं विराजते ।

नरेन्द्रमार्गः स तथा व्यराजत

क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ २२ ॥

इति अशोतितमः सर्गः ॥

१ समुच्छितैः उन्नतैः । (गो०) २ समासाद्य—अवधीकृत्य । (गो०)

चतुर शिल्पियों द्वारा बनाए गए उस रमणीक राजमार्ग की  
सी ही शोभा हो रही थी, जैसी रात में निमेल आकाश की  
चन्द्रमासहित तारागण से होती है ॥ २२ ॥

( अयोध्याकाण्ड का अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ )

—०:०—

## एकाशीतितमः सर्गः

—०—

ततो नन्दीमुखीः रात्रिं भरतं सूतमागधाः ।

तुष्टुवृर्वाग्विशपज्ञाः स्तवैमङ्गलसंहितैः ॥ १ ॥

[ अब फिर अयोध्या का वृत्तान्त आदिकवि वर्णन करते हैं ]

जब वह आनन्दमयी ( इसलिये कि राम को लौटाने का  
उद्योग आरम्भ हुआ था ) रात, थोड़ी बाकी रही, तब मागधों ने  
माङ्गलिक स्तुतियों से भरत की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १ ॥

२ सुवर्णकोणाभिहतः ३ प्राणदधामदुन्दुभिः ।

दधुः शङ्खाश्च शतशो नादांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥

पहर भर रात रहने पर जो न गड़े बजाए जाते थे, वे सोने  
की चोबों ( डंडों ) से बजाए जाने लगे । शङ्खध्वनि होने लगे  
और नाना स्वरों से युक्त सैकड़ों गजे बजने लगे ॥ २ ॥

स तूयघोषः सुमहान् नदिवमापूरयन्निव ।

भरत शोकसन्तप्तं भूयः शोकैरवर्धयत् ॥ ३ ॥

१ नन्दीमुखी—रामानयनाभ्युदयप्रारम्भयुक्ता । ( ग ० ) २ सुवर्णकोणः  
—सुवर्णझण्डः । ( रा ० ) ३ प्राणत्—नदतिस्म । ( गो ० ) \* पाठ न्तरे—  
‘शोकैरवर्धयत्’ ।



उन बाजों के बजने का शब्द, आकाश में व्याप्त हो, शोक से सन्तप्त भरत जी के शोक को और भी अधिक बढ़ाने लगा ॥३॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सन्निवर्त्य च ।

नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भरत जी उस शब्द को सुन जागे और यह कह कर कि, मैं राजा नहीं हूँ, उन बाजों का बजना बंद करवाया और शत्रुघ्न से यह बोले ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।

विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी के कहने से इन सूत मागधों ने कैसा अनुचित काम किया है, अथवा हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी ने इस लोक का बड़ा अपकार किया है कि, जो महाराज दशरथ मुझे दुःख में डाल, आप स्वयं स्वर्गवासी हो गए, ॥५॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।

परिभ्रमति राजश्रीनैरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

उन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी, इस समय माभीहीन नाव की तरह समुद्र में इधर उधर मारी मारो फिर रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वनम् ।

अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रां मे राघवः स्वयम् ॥७॥

१ कैकेय्या हेतुभूतया जायमानलोकस्य सूतमागधादिः । ( गो० )

१ अपकृतं--अनुचित कर्म ( गो० )

पिता की वह दशा हुई, तिस पर, मेरे जो बड़े रक्षक श्रीराम थे, उनको भी इसने स्वर्ग (कैकेयी ने) धर्माधर्म का कुछ भी विचार न कर वन में भिजवा दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं प्रेक्ष्य विलपन्तं विचेतनम् ।

कृपणं रुरुदुः सर्वाः सस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

इस प्रकार भरत को चेतनारहित प्रलाप करते देख, सब स्त्रियाँ करुण स्वर से रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।

सभामिच्छाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार से विलाप हो रहा था कि, इतने में राजधर्म के ज्ञाता (राजनीतिज्ञ) महायशस्वी वसिष्ठ मुनि इक्ष्वाकुनाथ की सभा में आए ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं<sup>१</sup> रम्यां मणिरत्नसमाकुलाम् ।

सुधर्माभिन् धर्मात्मा सगणः<sup>२</sup> प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

उस सभाभवन में सुनहला सुन्दर नक्काशी का काम किया हुआ था । और जगह जगह पद्मरागादि मणियाँ जड़ी हुई थीं । जिस प्रकार सुधर्मा नाम के सभाभवन में इन्द्र अपने अनुयायियों सहित प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार इक्ष्वाकुनाथ की सभा के भवन में, वसिष्ठ जो ने अपने अनुयायी शिष्यों सहित प्रवेश किया ॥ १० ॥

स काञ्चनमयं पीठं पराध्यास्तरणावृतम् ।

अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

---

१ शातकुम्भमयीं—स्वर्णमयी । (गो०) २ सगणः—सशिष्यगणः । (गो०) \* पाठान्तरे—“सुखास्तरणसंवृतम्” ।



और वहाँ सोने के एक सिंहासन पर, जिस स्वस्तिकाकार  
अर्थान गुद्गुदा आसन पड़ा था, जा बैठे, और दूतों को आज्ञा  
दी ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान्मात्यान् गणवल्लभान् ? ।

क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

कि तुम लोग जाकर, बहुत शीघ्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों, मंत्रियों  
तथा सेनापतियों को लिवा लाओ। क्योंकि एक बड़ा जरूरी  
काम है ॥ १२ ॥

स राजभृत्यं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।

युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निज के नौकरों सहित,  
युधाजित सुमन्त्र आदि मन्त्रियों को तथा और जो कोई वहाँ हिनू  
हों, उनको भी शीघ्र बुला लाओ ॥ १३ ॥

ततो हलहलाशब्दः सुमहान् समपद्यत ।

रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

कुछ ही देर में दूतों के बुलाए लोग रथों, घोड़ों और  
हाथियों पर सवार होकर, आने लगे उनकी सवारियों के आने  
का एक प्रकार का महाशब्द उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।

प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

१ गणवल्लभान् — गणाध्यक्षान् । (गो०) २ सराजभृत्यं — राजान्त  
रजभृत्य सहितं । (गो०) ३ युधाजितं — युधाजिदितिविजयाख्यमन्त्रिणां  
त्रशब्दसाहचर्यात् । (गो०)

द्व्यशीतितमः सर्गः

८१५

देवता जिस प्रकार इन्द्र को देव्य प्रमन्न होते हैं, उसी प्रकार भरत को आते देव्य, मंत्री आदि ऐसे प्रमन्न हुए। मानों वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर स्मन्त्रता प्रकट कर रहे हों ॥१५॥

हृदः इव तिमिनागसंवृतः

स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः २ ।

दशरथसुतशोभिता सभा

सदशरथेव बभौ यथा पुरा ॥ १६ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत की उपस्थिति से वह राजसभा उसी प्रकार शोभित हुई, जिस प्रकार समुद्र का स्थिर जल बड़े बड़े मच्छों नाकों, मणियाँ शङ्खों और बालू से सुशोभित होता है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, मानाँ महाराज दशरथ स्वयं सभा में आकर बैठे हों ॥ १६ ॥

अयोध्याकांड का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:००:—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—:❀:—

तामार्यगणसम्पूर्णा भरतः प्रग्रहां ३ समाम् ।

ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रो निशामिव ॥ १ ॥

१ हृदश्च—समुद्रसमीपस्थः । ( गो० ) २ शर्कराशब्देनावस्थूल-  
वालुका उच्यते । ( गो० ) ३ प्रग्रहा—नियमवर्ती । ( गो० ) ४  
बनापाये शरदि । ( रा० )



वसिष्ठादि श्रेष्ठ पुरुषों से भरी, भरत द्वारा नियंत्रित सभा को, बुद्धिसम्पन्न भरत जी ने देखा कि वह पूर्णमासी की रात की तरह शोभायमान है ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा ।

वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

यथायोग्य आसनों पर बैठे हुए तथा अंगराग लगाए और चमकीली भड़कीली पोशाकें पहिने हुए श्रेष्ठ जनों से, वह श्रेष्ठ सभा चमक रही थी । अर्थात् सुशोभित थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तदा ।

अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

शरद ऋतु में जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है, उसी प्रकार विद्वज्जनों के सम्मिलित होने से वह सभा परम शोभायुक्त दिखलाई पड़ती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः समग्राः प्रेक्ष्य धर्मवित् ।

इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धमञ्ज राजपुरोहित वसिष्ठ जी ने, महाराज के सब मंत्रीआदि प्रधानों को देख, भरत जी से ये मधुर वचन कहे ॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।

धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! इस धन धान्ययुक्त और समृद्धशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें दे कर, महाराज दशरथ धर्माचरण पूर्वक स्वर्ग सिधार गए ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यधृतिः सतां<sup>१</sup> धर्ममनुस्मरन् ।

नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

सत्यव्रतधारी राम ने पितृ आज्ञाकारी सज्जनों के पितृ वचन-पालन रूपी धर्म का पालन कर, महाराज की आज्ञा का त्याग वैसे ही नहीं किया जैसे चन्द्रमा चाँदनी का त्याग नहीं करता ॥ ६ ॥

[ टिप्पणी—पुत्र की पुत्रता नीचे के श्लोक में बतलाई गयी है—

“जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यब्दभूरिभोजनात् ।

गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥”

अर्थात् पुत्रोत्पादन करने की आवश्यकता यही है कि, ( १ ) जब तक पिता जीवित रहै तब तक पुत्र अपने पिता की आज्ञा माने ( २ ) पिता के मरने पर प्रतिवर्ष पिता की मरणतिथि को पिण्डदान कर अनेक ब्राह्मणों को भोजन करावे और ( ३ ) गया में जा कर पिण्ड दे कर, पिता का उद्धार करे । पुत्र के ये ही तीन मुख्य कर्तव्य हैं ।]

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।

तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥

अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस निष्कण्टक राज्य को तुम भोगो और तुरन्त अपना अभिषेक करवा, अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दक्षिणात्याश्च केवलाः<sup>३</sup> ।

कोट्यापरान्ताः<sup>४</sup> सामुद्रा रत्नान्यभिहरन्तु ते ॥ ८ ॥

१ सतां—पितृनिदेशवर्तिताम् । ( गो० ) २ धर्म—पितृवचनपरिपालन रूपं । ( गो० ) ३ केवलाः—सिंहासनादिरहिता इत्यपरान्तादि विशेषणं

४ अपरान्ताः—अपरान्तदेशवासिनोयवनाः । ( गो० )



उत्तर पश्चिम और दक्षिण देशवासी राजा तथा अन्ध  
बेतिलक के जमींदार तथा पश्चिमान्त सीमावासी यवनादि  
तथा द्वीपान्तरों के राजा लोग, तुमको करोड़ों रत्न भेंट  
करेंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः ।

जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो र धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥

भरत जी गुरु वसिष्ठ के ये वचन सुन, बहुत दुःखी हुए ।  
शपरम्परागत ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है—इस कुल  
धर्म को जानने वाले भरत जी ने, बड़े भाई का अनुगमन करने  
की आकांक्षा से, राम का स्मरण किया ॥ ९ ॥

स बाष्पकलया वाचा क्लहंसस्वरो युवा ।

विललाप सभामध्ये जगर्ह च पुरोहितम् ॥ १० ॥

उस समय कलहस की तरह स्वर वाले युवा भरत का गला  
भर आवा, वे विलाप करने लगे और उन्होंने कुलपुरोहित  
वसिष्ठ जी के कथन को सर्वथा अनुचित बतलाया ॥ १० ॥

४ चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य ५ धीमतः ६ ।

धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्रिधो हरेत् ॥ ११ ॥

१ रामं मनसा जगाम—संस्मारेत्यर्थः । (गो०) २ धर्मज्ञः—कुलक-  
मागत ज्येष्ठाभिषेचनरूपधर्मज्ञः । (गो०) ३ धर्मकाङ्क्षया—ज्येष्ठानु-  
वर्तन रूप धर्मलिप्सया । (गो०) ४ चरितब्रह्मचर्यस्य—अनुष्ठितगुरु-  
कुलवासस्य । (गो०) ५ विद्यास्नातस्य—निखिलवेदाध्ययनानन्तरमावि-  
स्नानकर्मयुक्तस्य । (गो०) ६ धीमतः—तदर्थज्ञस्य । (गो०) ७ धर्मे प्रयत-  
मानस्य—तदर्थानुष्ठानवतः (गो०) ८ मद्रिधः—शास्त्रवश्योमादृशः ।  
(गो०)

भरत जी कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! जो राम गुरुकुल में रह कर, निखिल साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़े हुए हैं और उनका अर्थ भी भली भाँति जानते हैं और तदनुसार अनुष्ठान भी करते रहते हैं, उन राम का राज्य भला मुझ जैसे शास्त्र के मत का जानने वाला, क्योंकर छीन सकता है ॥ ११ ॥

[टिप्पणी—शिरोमणि टीकाकार ने धर्मेप्रयतमानस्य का अर्थ किया है—“पितृप्रतिज्ञा पालने प्रयतमानस्य”]

कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः ।

राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ से उत्पन्न कोई क्योंकर धर्मानुमोदित दूसरे के राज्याधिकार को अपहृत कर सकता है ? केवल यह मारा राज्य ही नहीं, बल्कि मैं स्वयं भी, राम का ही हूँ। हे पुरोहित जी ! आप जो कुछ कहें, सो धर्मानुमोदित ही कहें ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः ।

लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥

दिलीप और नहुष की तरह जैसे महाराज दशरथ, इस राज्य के अधिकारी थे, वैसे ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ धर्मात्मा राम ही इस राज्य को पाने के अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्गं कुर्यां पापमहं यदि ।

इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥

यदि मैं ( आपके कथनानुसार ) इस राज्य को ग्रहण कर, असाधुसेवित और स्वर्गविरोधी यह महापाप कर्म करूँ, तो सब लोग मुझे इक्ष्वाकु-कुल के नाम को कलङ्कित करने वाला बतलावेंगे ॥ १४ ॥



यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये ।

इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

मेरी माता जो पापकर्म कर बैठी है—वह भी मुझे पसन्द नहीं है । मैं ( इसके लिए ) वन में बैठे हुए राम को हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ—अर्थात् माता के अनुचित कर्म के लिये क्षमा माँगता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपर्दावरः ।

त्रयाणामपि लोकानां राज्यमर्हति राघवः ॥ १६ ॥

और उनका अनुगामी होता हूँ । नरों में श्रेष्ठ वे ही राजा हैं । वे तीनों लोकों का राज्यशासन करने योग्य हैं, उनके लिए इस पृथिवी का राज्यशासन करना कौन बड़ी बात है ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।

हर्षान् मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरत जी के ऐसे धर्मानुमोदित वचन सुन, सब के सब सभासद जिनका मन श्रीरामचन्द्र जी में लगा हुआ था, आनन्द के आँसू गिराने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।

वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरत जी फिर कहने लगे—यदि मैं राम को वन से न लौटा सका, तो मैं उसी वन में उनके पास लक्ष्मण जी की तरह रहूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं च वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात् ॥

समक्षमार्गमिश्राणां<sup>१</sup> साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १६ ॥

मैं राम को वन से लौटाने के लिए (आप सब) सभासदों और अच्छे गुण वाले साधु जनों की उपस्थिति ही में, सब प्रकार के उपाय करूँगा। (अर्थात् आप लोग मेरे साथ चलें और देखें कि, मैं श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिए उपाय करने में कोई कोरकसर नहीं करता) ॥ १६ ॥

२विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकतत्तकाः ।

प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्राऽपि मम रोचते ॥ २० ॥

मैंने पहिले ही अवैतनिक तथा पारिश्रमिक लेकर काम करने वाले चतुर मार्गशोधकों और बढ़इयों को, रास्ता ठीक करने के लिए भेज दिया है। मैं तो राम के पास जाना ही पसन्द करता हूँ ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

यह कह भ्रातृवत्सल एवं धर्मात्मा भरत ने सलाह देने में चतुर और पास बैठे हुए सुमन्त्र से कहा ॥ २१ ॥

तूष्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् ।

यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

तुम उठ कर शीघ्र जाओ और सेना को यह जना कर कि, मेरे आज्ञानुसार इनको यहाँ से प्रस्थान करना होगा, तुरन्त अपने साथ लिवा लाओ ॥ २२ ॥

१ आर्यमिश्राणां—सदस्यानां । ( गो० ) २ विष्टिकर्मान्तिकाइति—विष्टयो भूतिमन्तरेण जनपदेभ्यः समानीताः कर्मकराः । (गो०)● पाठान्तरे—“बलात्” ।



एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।

ॐ प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरत जी के ये वचन सुन, सुमन्त्र ने प्रसन्न हो भरत जी के आज्ञानुसार सब काम किया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।

श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

भरत जी की इस आज्ञा को कि, राम को लौटाने के लिए चलना होगा, सुन कर प्रजाजन तथा सेना के सेनापति बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तृन् सर्वान् गृहे गृहे ।

योत्रागमनमाज्ञाय त्वस्मन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

घर घर, योद्धाओं की स्त्रियाँ, हर्षित हो कर, अपने अपने पतियों से, राम को लौटा लाने के लिए वन में जाने की, जल्दी मचाने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रैः स्यन्दनैश्च महाजवैः ।

सह योधैर्बलाध्यक्षा बलं सर्वमद्योदयन् ॥ २६ ॥

सब सेनाध्यक्षों ने घोड़ों और बैलों से खींचे जाने वाले और तेज चलने वाले रथों पर सवार हो, समस्त सेना को शीघ्र चलने की आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद्वलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसन्निधौ ।

रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

\* पाठान्तरे—“दृष्टस्तदादिशत्सर्वं” ।

सेना को यात्रा के लिए तैयार देख, भरत ने गुरुवसिष्ठ की सन्निधि में और अपने बगल में बैठे हुए सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तुरन्त लाओ ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां प्रतिगृह्य च हर्षितः ।

रथं गृहीत्वा प्रययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

सुमंत्र जी “जो आज्ञा” कह और उनके आदेशानुसार प्रसन्न होते हुए गए और बड़े अच्छे घोड़े जोत कर, एक रथ भरत जी के सामने ला खड़ा किया ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः<sup>१</sup> प्रतापवान्

ब्रुवन् सुयुक्तं<sup>२</sup> दृढसत्यविक्रमः ।

गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं

प्रसादयिष्यन् भरतोऽब्रवीत्तदा ॥ २९ ॥

वे धैर्यवान्, प्रतापी, दृढ़प्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी भरत जी, महावन में गए हुए यशस्वी राम को प्रसन्न कर, लौटा लाने का विचार कर, सुमंत्र जी से बोले ॥ २९ ॥

तूर्णं समुत्थाय सुमन्त्र गच्छ

बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।

आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं

प्रसाद्य राम जगतो हिताय ॥ ३० ॥

१ सत्यधृतिः—अप्रच्युतधैर्यः । ( गो० ) २ सुयुक्तं ब्रुवन्—गुरु-  
प्रसादयिष्यन् । ( गो० )



हे सुमंत्र ! तुम तुरन्त सेनानायकादि, सुहृदों तथा अन्य मुख्य मुख्य प्रजाजनों को तैयार होने की आज्ञा दो । मैं जगत् के कल्याण के लिए राम को वन से लौटाने के लिए वन जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-

गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।

शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान्

बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरत जी के वचन सुन, पूर्णकाम सूत सुमंत्र ने प्रजा के मुखियों, सेनाध्यक्षों तथा सुहृद जनों से, भरत जी की आज्ञा समझा कर, कह दी ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुलेः कुले ते

राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः ।

अयूयुजन् उष्ट्ररथान् खरांश्च

नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

इति दृश्यशीतितमः सर्गः ॥

अनन्तर घर घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने ऊँटों, रथों, खच्चरों और अच्छे जाति के हाथियों और घोड़ों को तैयार करने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का व्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

१ कुले कुले—गृहे गृहे (गो०) २ वृषलाः—शूद्राः । (गो०)

## त्र्यशीतितमः सर्गः

—: ० :—

ततः समुत्थितः काल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।

प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

तदनन्तर सबेरा होते ही भरत जी उठे और सुन्दर रथ पर सवार होकर, राम के दर्शन की कामना किए हुए शीघ्रता से रवाना हुए ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधसः ।

अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

भरत जी के रथ के आगे आगे सब मन्त्रि और पुरोहित घोड़ों के रथों में, जो सूर्य नारायण के रथ के समान चमकीले थे, बैठ कर चले ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।

अन्वयुर्भरत यान्तमिद्वक्कुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

और अच्छी तरह सजे हुए ६ हजार हाथी, इक्ष्वाकुलनन्दन भरत जी के रथ के पीछे चले ॥ ३ ॥

षष्ठी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।

अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

और साठ हजार रथों में बैठ कर विविध अस्त्रधारी, धनुर्धर यशस्वी राजकुमार भरत जी के पीछे चले ॥ ४ ॥



शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि रावणम् ।

अन्वयुर्भरतं यान्तं सत्यसन्धं जितेन्द्रियम् ॥ ५ ॥

और घोड़ों पर चढ़े हुए, एक लाख घुड़सवार जितेन्द्रिय एवं सत्यप्रतिज्ञ भरत जी के साथ चले ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।

रामानयनसंहृष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या जी श्रीरामचन्द्र जी को लौटा लाने के लिए प्रसन्न हो; परम दीप्तमान् रथों पर चढ़ कर चलीं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसङ्घाताः रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।

तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

द्विजातियों के झुण्ड के झुण्ड श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिए ( अयोध्या से ) रवाना हुए । वे लोग ( रास्ते भर ) आपस में श्रीरामचन्द्र जी ही का विचित्र वृत्तान्त कहते सुनते और प्रसन्न होते हुए चले जाते थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।

कदा द्रक्ष्यामहे राम जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

वे कहते थे कि, हम लोग उन मेघश्याम, महाबाहु, दृढ़व्रत, स्थिरव्यवसायी और जगत का शोक नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र को कब देखेंगे ॥ ८ ॥

---

१ आर्यसंघाताः—त्रैवाणिकसंघाः । ( गो० )

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।

तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ६ ॥

जैसे सूर्य उदय होते ही त्रिभुवन के अन्वकार को नाश कर देते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी महाराज अपने दर्शन मात्र से हम लोगों के शोक को दूर करेंगे ॥ ६ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।

परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिका जनाः ॥ १० ॥

उस समय नगर के रहने वाले, सब लोग आपस में इस प्रकार शुभ वार्तालाप करते और मारे हर्ष के एक दूसरे के गले से भेटते हुए, चले जाते थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मताः ये च नैगमाः ।

रामं प्रतिययुहृष्टाः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ॥ ११ ॥

जिन प्रसिद्ध अयोध्यावासी बनियों ( व्यापारियों ) को भरत जी ने चलने की आज्ञा दी थी और जिनको आज्ञा नहीं दी थी, वे भी बनिये तथा अन्य सब प्रजाजन प्रसन्न मन से श्रीरामदर्शनार्थ चले जाते थे ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः ३ ।

सूत्रकर्मकृतश्चैव ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥

प्रजाजनों में से कोई चतुर जड़िया थे, कोई चतुर कुम्हार थे, कोई कपड़ा बनाने वाले कोरी थे और कोई हथियार बनाने वाले कारीगर थे ॥ १२ ॥

१ सम्मताः—प्रसिद्धाः । ( रा० ) ० प्रकृतयः—श्रेणयः । ( रा० )

३ शोभनाः—स्वकार्यदत्ताः । ( यो० ) ४ सूत्रकर्मकृतः—तन्तुबायादयः । ( गो० )



मायूरकाः क्राकचिका रोचका<sup>१</sup> वेधकास्तथा ।

दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

कोई मोरपङ्खी बनाने वाले, कोई आरी से लकड़ी चीरने वाले और कोई कलईगर थे, अथवा कोई काच की शीशी बनाने वाले, कोई मणियों और मोतियों को बेधने वाले, कोई हाथी दाँत का काम बनाने वाले, कोई अस्तरकारी करने वाले, और कोई गंध थे ॥ १३ ॥

सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलधावकाः ।

स्नानपकोच्छादका<sup>३</sup> वैद्या धूपकाः शौण्डिकस्तथा ॥ १४ ॥

कोई प्रसिद्ध सुनार थे, कोई कम्बल बनाने वाले या धोने वाले थे, कोई शरीर में तेल उबटन कर गर्म जल से स्नान कराने वाले थे, कोई पगचप्पी ( पैर दबाने वाले ) थे, कोई वैद्य थे, कोई घर में धूप दे कर घर का वायु शुद्ध करने वाले थे और कोई कलार ( शराब बेचने वाले ) थे ॥ १४ ॥

रजकास्तुन्नवायाश्च<sup>४</sup> ग्रामघोषमहत्तराः ।

शैलूषाश्च<sup>६</sup> सह स्त्रीभिर्ययुः कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥

उनमें कोई धोत्री थे, कोई दर्जी थे, कोई गाँवों के मुखिया थे, कोई अहीरों के मुखिया थे, कोई नट अपनी स्त्रियों सहित

१ रोचकाः—काचकुप्यादिकर्तारः इति कतकः । २ स्नानपकाः—तैलाभ्यङ्गादिस्नानकारिणः । (गो०) ३ उच्छादकाः—अङ्गमर्दकाः । (गो०) ४ तुन्नवायाः—सूच्या सीवनकर्तारः । (रा०) ५ ग्रामघोषमहत्तराः—ग्राम महत्तराः घोषमहत्तराश्च । (गो०) ६ शैलूषाः—भूमिकाधारिणः स्त्रीजीविनो वा । (गो०)

थे ( ये नट स्त्री जीवी होने के कारण ही स्त्रियों सहित गये थे )  
और कोई मल्लाह थे ॥ १५ ॥

१ समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।

२ गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

सहस्रां सदाचारी वेदपाठो ब्राह्मण जिनका मन श्रीराम में  
लगा था, छकड़ों पर बैठ भरत जी के पीछे हो लिए थे ॥ १६ ॥

सुवेपाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपनाः ।

सर्वे ते विविधैर्यनैः शनैर्भरतमन्त्रयुः ॥ १७ ॥

सब ही सुन्दरवेश बनाये, सुन्दर वस्त्र पहिने और लाल  
चन्दन लगाये और तरह तरह की सवारियों पर सवार,  
धीरे धीरे भरत जी के पीछे चले जाते थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात्केकयीसुतम् ।

भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब कैकेयीनन्दन एवं भ्रातृवत्सल भरत, श्रीराम-  
चन्द्र को लौटा लाने के लिये चले, तब सैनिक लोग भी हर्षित  
होते हुए भरत जी के साथ चले जाते थे ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्चकुञ्जरैः ।

समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गिवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

वे लोग रथों, पालकियों छकड़ों आदि सवारियों तथा घोड़ों  
और हाथियों पर सवार हो, बहुत दूर चलने के बाद, शृङ्गिवेरपुर  
में गङ्गा जी के तट पर पहुँचे ॥ १९ ॥

१ समाहिताः—रामावेशतच्छिताः । (शि०) २ गोरथैः—शकटैः ।

( गो० )



यत्र रामसखो वीरो गुहो ज्ञातिगणौर्ध्वतः ।

निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का मित्र गुह, अपनी जाति के लोगों के साथ, सावधानी के साथ, उस देश का पालन करता हुआ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।

व्यवातिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

भरत जी के पीछे चलने वाली वह सेना चक्रवाकों से सुशो-  
भित भागीरथी गङ्गा के तट पर पहुँच कर, वहीं टिक रही ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।

भरतः सचिवान् सर्वान्ब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

वचन बोलने में चतुर भरतजी अपने साथ चलने वाली सेना  
को टिकी हुई देख व सुखद गङ्गाजल को निहार, सब मन्त्रियों  
से कहने लगे ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।

विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इदानीमिमां नदीम् ॥ २३ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मेरी सेना आज यहीं पर अपने लिए अनु-  
कूल स्थानों को देख टिके, कल हम सब इस नदी को पार  
करेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।

और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

## त्र्यशीतितमः सर्गः

८३१

मैं चाहता हूँ कि, मैं स्वर्गवासी महाराज दशरथ को, उनकी और्द्धदेहिक क्रिया के निमित्त, कल इस नदी को पार करने के समय जल दूँ अर्थात् गङ्गाजल से तर्पण करूँ ॥ २४ ॥

[ टिप्पणी—श्रीराम जी के समय भी अर्थात् आज से कई लाख वर्षों पूर्व, त्रेता युग में भी लोकान्तरवासी आत्मीयों का जल से तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी । ]

तस्यैवं ब्रुवतोऽमृत्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।

न्यवेशयंस्तांश्छन्देन१ स्वेन स्वेन पृथक्पृथक् ॥ २५ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा, तब मन्त्रियों ने “जो आज्ञा” कह, बड़ी सावधानी से सब लोगों को उनकी पसंद के अलग अलग टिकासरे बता दिए ॥ २५ ॥

निवेशय गङ्गामनु तां महानदीं

चसुं विधानैः परिवर्हशोभिनीम् २ ।

उवास रामस्य तदा महात्मनो

विचिन्तयानो अस्तो निवर्त्तनम् ॥ २६ ॥

इति त्र्यशीतितमः सर्गः

महात्मा भरत जी, महानदी गङ्गा के तट पर यथाविधान पात्रौपयुक्त (अथवा तंबू, खोमों में) अपनी सेना को टिका, श्रीरामचन्द्र जी के लौटाने को चिन्ता करते हुए, वहाँ टिके ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरामीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:~:—

१ छन्देन—इच्छया । (गो०) २ परिवर्हशोभिनीम्—परिवर्होयात्रोपयुक्तपटवेशमाद्युपकरणं । (गो०)



## चतुरशीतितमःसर्गः

:०:—

ततो निविष्टां ध्वजिनीं<sup>१</sup> गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।

निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् सन्त्वरितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जी की चतुरङ्गिनी सेना को गङ्गा जी के किनारे टिकी हुई देख और सशङ्कित हो गुह ने अपनी जाति वालों से कहा ॥ १ ॥

महतीऽयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।

ऋतस्यान्तं नाधिगच्छामि मनसाऽपि विचिन्तयन् ॥ २ ॥

यहाँ पर यह बड़ी सेना समुद्र के समान पड़ी हुई देख पड़ती है । मैं कल्पना करके भी इसका अन्त नहीं पा सकता अर्थात् गणना नहीं कर सकता ॥ २ ॥

टिप्पणी—प्रश्न उठता है कि भरत जी की यात्रा का उद्देश्य राम को वन से लौटा लाना मात्र था । अतः इतनी बड़ी सेना साथ ले जाने की आवश्यकता क्या थी । इस प्रश्न के उत्तर में कहना पड़ता है कि अयोध्यावासी प्रजाजनों की संख्या कम न थी । अतः उनको रक्षा के लिए पुलिस का काम करने को साथ में सेना का होना अनिवार्य था ।

यथा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।

स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

मैं समझता हूँ कि, निश्चय ही भरत बुरे विचार से स्वयं आए हैं, क्योंकि इस महाकाय रथ पर, कोविदार (कचनाराकार) इक्ष्वाकुकुल की ध्वजा, फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा दाशानथ<sup>३</sup> वाऽस्मान् वधिष्यति ।

अथ दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद्विवासितम्<sup>५</sup> ॥ ४ ॥

१ ध्वजिनी—सेना । ( गो० ) २ संत्वरितः—संभ्रमः । ( गो० )

३ दाशानस्मान् । ( गो० ) ४ अथ—अथवा । ( गो० ) ५ विवासितं—दुर्बलं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“नास्यान्तमधिगच्छामि” ।

अतः या तो भरत जी मुझे गिरफ्तार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे । अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए असहाय दुर्बल श्रीरामचन्द्र जी का वध करेंगे ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।

भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं तमुपगच्छति ॥ ५ ॥

सो क्या कैकेयी का पुत्र भरत परमदुर्लभ राजश्री को भली भाँति अपने अधिकार में कर लेने के विचार से कहीं श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिए तो नहीं जा रहा है ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम ।

तस्यार्थकामाः सन्नद्धाः गङ्गानूपे प्रतिष्ठत ॥ ६ ॥

परन्तु वह दशरथनन्दन श्रीराम, मेरे स्वामी अथवा सखा-सभी कुछ हैं, अतएव तुम सब लोग श्रीराम की रक्षा के लिए, कवच पहिन और हथियार ले, गङ्गा के कछार में तैयार रहो ॥ ६ ॥

तिष्ठन्तु सर्वे दाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।

बल्युक्ताः नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥

मेरे अधीन के सब नौकर, सेनासहित, फल, मूल एवं माँस खाते हुए, गङ्गा जी के पास उतारे के घाटों की रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम् ।

सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ॥ ८ ॥

१ अर्थकामाः—प्रयोजन सिद्धिविषयकेच्छावन्तः । ( शि० ) २ संनद्धा—धृतकवचाः । ( शि० ) बल्युक्ताः—सेनायुक्ताः ( गो० ) । ४ नदीरक्षाः—नदीतरणमार्गैरक्षन्तः । ( गो० )



घाटों की रखवाली के लिए गुह ने कहा कि, पाँच सौ नाव रहें और उनमें से प्रत्येक नाव पर सौ सौ जवान मल्लाह कवच पहिन और हथियार ले, तैयार रहें ॥ ८ ॥

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।

सेयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

यदि भरत, श्रीरामचन्द्र के विषय में मुझे सन्तुष्ट कर सके, तभी वे और उनकी सेना, सकुशल गङ्गा को पार कर सकेंगे ॥ ९ ॥

इत्युक्तोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च ।

अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

इस तरह अपने नौकरों और सैनिकों को सावधान कर, निषादपति गुह भरत का भेद लेने को म्वयं मछलियाँ, मांस, और शहद भरत जी को भेंट करने के लिए अपने साथ लेकर, चला ॥ १० ॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।

भरतायाचक्षेऽथ विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

प्रतापी और विनीत सुमन्त्र ने निषाद को आते देख, विनीत भाव से भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः ।

कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो आतुश्च ते सखा ॥ १२ ॥

यह गुह यहाँ का राजा है और अपने सहस्रों विरादरी के लोगों को साथ लिए हुए आता है । यह वृद्ध गुह दण्डकारण्य में घूमने

---

१ स्थपतिः—प्रभुः । ( गो० ) दण्डकारण्ये कुशलः—तत्र सञ्चरण समर्थ इत्यर्थः ( गो० )

फिरने वाला होने के कारण, वहाँ का रत्ती-रत्ती हाल जानता है और तुम्हारे भाई श्रीरामचन्द्र का मित्र है ॥ १२ ॥

तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः ।

असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! तुम निषादों के राजा गुह से भेंट करो । क्योंकि निश्चय ही यह वह स्थान जानता है, जहाँ वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण वन में निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्भरतः शुभम् ।

उचाव वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमन्त्र से ये शुभ वचन सुन, भरत बोले कि, अच्छा, गुह से तुरन्त जा कर कहो कि, वः मुझसे मिले ॥ १४ ॥

लब्ध्वाभ्यनुज्ञां संहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।

आगम्य भरतं प्रहो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

भरत की आज्ञा पा, गुह अपने जाति बिरादरी के लोगों के साथ, ( अकेला नहीं ) भरत जी के पास जा और प्रसन्न होता हुआ बोला ॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम् ।

निवेदयामस्ते सर्वे स्वके दासकुले वस ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! यह देश आपके घर की वाटिका ( नजरवाग ) के तुल्य है । तुमने अपने आने की सूचना हमें नहीं दी ; अतः

१ निष्कुट—गृहारामभूतः । ( गो० ) २ वञ्चिताः—अत्र गमनानि-वेदनेन वञ्चिता इत्यर्थः । ( गो० )



हम लोग आपका यथाविधि स्वागत करने से वञ्चित रहे । यह सम्पूर्ण राज्य आपका है और हम सब भी आपके हैं । अतः आज आप अपने दाम के घर में वाम कीजिए ॥ १६ ॥

अस्ति मूलं फलं चैव निषादैः समुपाहृतम् ।

आर्द्रं च मांसं शुष्कं च वन्यं चोच्चावचं महत् ॥ १७ ॥

निषाद लोगों के लाए हुए फल मूल, ताजे और सूखे माँस तथा वन में उत्पन्न होने वाली अन्य थोड़ी बहुत भक्ष्य वस्तुएँ ये उपस्थित हैं ॥ १७ ॥

आशंसे<sup>१</sup> स्वाशिता<sup>२</sup> सेना वत्स्यतीमां विभावरीम् ।

अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः ॥

मेरी प्रार्थना है कि, आज सेना मेरे यहाँ अच्छी तरह ( मेरे अर्पण किए हुए ) भोजन कर, रात भर यहीं रहे और हम लोग आप लोगों की यहाँ हर तरह से सेवा करें । तदनन्तर आप सेनासहित कल यात्रा करें ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: ❁ :—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—: ० :—

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम् ।

प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥

१ आशंसे—प्रार्थयामि । (गो०) २ स्वाशिता—सुष्ठु भोजिता । (गो०)

निषादाधिपति गुह के वचन सुन, महाप्राज्ञ भरत ने अपना  
अभिप्राय जनाने के लिए युक्तियुक्त वचन कहे ॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुणैः सखे ।

यो मे त्वमीदृशीं सेनामेकोऽभ्यर्चितुमिच्छसि ॥ २ ॥

हे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र ! तुम जो अकेले ही मेरी इतनी बड़ी  
सेना की पहुँचाई करना चाहते हो—सो यह तो निश्चय ही  
तुम्हारा बड़ा भारी मनोरथ है । ( अर्थात् तुम्हारे इस आदर से  
ही हम अपने को सत्कारित मानते हैं ) ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा तु महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।

अब्रवीद्भरतः श्रीमान्निषादाधिपतिं पुनः ॥ ३ ॥

परम तेजस्वी श्रीमान् भरत जी गुह से इस प्रकार श्रष्ट  
वचनों से वार्तालाप का सिलसिला आरम्भ कर, फिर बोले ॥ ३ ॥

कतरेण<sup>१</sup> गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह ।

गहनोऽयं भृशं<sup>२</sup> देशो गङ्गानूपो<sup>३</sup> दुरत्ययः ॥ ४ ॥

हे निषादराज ! भला यह तो बतलाओ कि, हम किस मार्ग  
से भरद्वाज के आश्रम को जायँ । क्योंकि हम देखते हैं कि, यह  
गङ्गा का जलप्रायदेश अत्यन्त दुष्प्रवेश्य अथवा दुर्गम है ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

१ कतरेण—केन मार्गेण । ( गो० ) २ भृशंगहनः—अत्यन्त-  
दुष्प्रवेशः । ( गो० ) ३ अनूपोदेशः—जलप्रायोदेशः । ( गो० )



बुद्धिमान राजकुमार भरत का यह प्रश्न सुन, सब दुर्गम स्थानों का रास्ता जानने वाला गुह, हाथ जोड़ कर, भरत जो से बोला ॥ ५ ॥

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुसमाहिताः ।

अहं त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः ॥ ६ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! आप इसके लिए कुछ भी चिंता न करें ! जो लोग इस प्रान्त का रत्ती-रत्ती हाल जानते हैं, वे आपकी रखवाली के लिए घनुष बाण ले, बड़ी सावधानता पूर्वक, आपके साथ जायँगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।

इय ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

किन्तु आपकी इस विशाल सेना को देख, मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि कहीं आप अक्लिष्टकर्मा श्रीराम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।

भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

गुह के ऐसा स्पष्ट कहने पर, आकाश की तरह निर्मल स्वभाव के भरत जी नवाह से ( ऐसा सन्देह करने के लिए नाराज हो कर कड़े वचन नहीं बोले, प्रत्युत ) मधुर वचन बोले ॥ ८ ॥

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।

राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

हे गुह ! वह वुरा समय न आवे, जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो जाय । तुमको भी मेरे सम्बन्ध में ऐसा सन्देह करना उचित नहीं । क्योंकि मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राताराम को अपने पिता के तुल्य मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।

बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

हे गुह मैं तो वनवासी राम को लौटाने के लिए जा रहा हूँ । इस सम्बन्ध में तुमको अन्यथा न समझना चाहिए । मैं यह बात तुमसे सत्य कह रहा हूँ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।

पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरत जी के यह हृष्टवचन सुन, गुह प्रसन्न हो गया और प्रसन्न हो, पुनः भरत जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।

अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

हे भरत ! आप धन्य हैं । आपके समान इस धराधाम पर मुझे दूसरा कोई मनुष्य नहीं देख पड़ता । क्योंकि, आप बिना प्रयत्न किए हाथ लगे हुए राज्य का त्याग करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिलोकाननुचरिष्यति ।

यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

निश्चय ही आपकी यह कीर्ति सदा इस लोक में बनी रहेगी । क्योंकि आप कष्ट पाते हुए श्रीराम को लौटा लाना चाहते हैं ॥ १३ ॥



एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।

बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

इस प्रकार गुह की भरत से बात चीत हो रही थी कि, इतने में सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया ( अर्थात् सूर्य अस्त हो गए ) और रात हो गई ॥ १४ ॥

सन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।

शत्रुघ्नेन सह श्रीमाञ्शयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुह की बातचीत और खातिरदारी से सन्तुष्ट हो भरत जी, अपनी सेना को टिका कर, शत्रुघ्न सहित पुनः लेटने को चले गए ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—“शयनं पुनरागमत्” से जान पड़ता है कि, गुह से भेंट करने के पूर्व भी भरत जी लेटे हुए आराम कर रहे थे । ]

रामचिन्तामयः शोको भग्नस्य महात्मनः<sup>१</sup> ।

उपस्थितो ह्यनर्हस्य<sup>२</sup> धर्मप्रेक्षस्य<sup>३</sup> तादृशः<sup>४</sup> ॥ १६ ॥

परन्तु दुःखी न होने के योग्य उन भरत जी को भी, जो बड़े धैर्यवान् थे तथा शोकमूलक पाप ( अर्थात् ऐसा बुरा काम जिसके करने पर शोक हो ) से शून्य थे, राम के चिन्तारूपी अति दुःस्सह शोकान्ने घेर लिआ ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः सन्तापयति राघवम् ।

वनदाहाभिसन्तप्तं<sup>५</sup> गूढोऽग्निरिव<sup>६</sup> पादपम् ॥ १७ ॥

१ महात्मनः—महाधीरस्वापि । ( गो० ) २ अनर्हस्य—नशोक-योग्यस्य । ( शि० ) ३ धर्मप्रेक्षस्य—शोकमूलपापशून्यस्य । ( गो० ) ४ तादृशः—अतिदुःस्सहः । ( शि० ) ५ सन्तप्तं—शुष्कं । ( गो० ) ६ गूढोऽग्निरिव—केटराग्निरिव । ( गो० )

और वह शोकरूपी आग भरत जी को भीतर ही भीतर उसी प्रकार दग्ध करने लगी, जिस प्रकार सूखे पेड़ों को उनके खोड़र का बनाग्नि दग्ध करता है ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।

यथा सूर्याशुसन्तप्तो हिमवान् प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

शोकाग्नि से उत्पन्न पसीना, भरत जी के सारे शरीर से उसी प्रकार निकलने लगा, जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से पिघल कर हिमालय से बर्फ गिरता है ॥ १८ ॥

[ आदि कवि ने भरत के शोक की उपमा पर्वत से दी है—वे कहते हैं ]

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना ।

दैन्यपादपसङ्गेन शोकायासाधिःशृङ्गिणा ॥ १९ ॥

भरत के शोक रूपी पर्वत की, श्रीरामचन्द्र जी का उत्सुकता पूर्वक ध्यान हो मानों छिद्ररहित शिलाएँ हैं, वारम्बार लिये हुए दीर्घ-श्वास मानों गेरू आदि की धाराएँ हैं, दीनता मानों पेड़ों का समूह है और शोक से उत्पन्न हुई मन की थकावट, मानों उस पर्वत के शृङ्ग ( चोटियाँ ) हैं ॥ १९ ॥

प्रमोहानन्तसत्त्वेन सन्तापौषधिवेणुना ।

आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकेयीसुतः ॥ २० ॥

और अत्यन्त मोह ही मानों अनेक बनैले जीव जन्तु हैं तथा सन्ताप उस पर्वत की औषधियाँ तथा बाँस हैं । ऐसे दुःखरूपी पर्वत के नीचे कैकेयीनन्दन भरत दब गए ॥ २० ॥

---

१ शोकायासाधि—शोकजाचित्तश्रान्तयः । ( रा० ) २ अनन्त-सत्त्वानि—वन्यप्राणिनो यस्मिंस्तेन । ( रा० )



विनिःश्वसन्वै भृशदुर्मनास्ततः

प्रभूढसंज्ञः परमापदं गतः ।

शमं न लेभे हृदयज्वरादितो

नरर्षभो यूथगतो यथर्षभः ॥ २१ ॥

इस प्रकार भरत जी के ऊपर बड़ी भारी विपत्ति आई है । वे ऊँची साँसें लेने लगे और बहुत उदास हो गए । उनको अपने शरीर की सुध न रही । वे मानसिक शोकज्वर से अत्यन्त पीड़ित थे । वे, अपनी हेड़ से बिछुड़े हुए बैल की तरह, किसी प्रकार भी शान्ति न पा सके ॥ २१ ॥

१ गुहेन सार्धं भरतः समागतो

महानुभावः सजनः २ समाहितः ३ ।

सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः

गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

गुह से आलगन किए हुए भरत को, जो श्रीरामचन्द्र जी के वनगमन के कारण बहुत उदास थे, अपने भाईबंदों सहित एकाग्रचित्त हो, गुह ने पुनः धीरे धीरे समझाया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:—

---

१ गुहेनसार्धं समागत — गुहेनआलिङ्गितोयोभरतः । ( शि० ) २  
सजनः — सपरिवारः । ( गो० ) ३ समाहितः — एकाग्रचित्तः । ( गो० )

## षडशीतितमः सर्गः

—:०:—

आचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

अनन्तर दुर्गम वन में रहने वाले गुह, अमित गुणशाली भरत जी से, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति महात्मा लक्ष्मण जी का जो सद्भाव ( प्रीति ) था वह कहने लगे ॥ १ ॥

तं जाग्रतं शृणुयुक्तं वरचापेषुधारिणम् ।

भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रवम् ॥ २ ॥

हे प्रभो ! जब भाई की रखवाली के लिए तीर और कमान लेकर, भ्रातृभक्त लक्ष्मण जाग कर पहरा दे रहे थे, तब मैंने उनसे कहा था ॥ २ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।

प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥

हे तात ! आपके सोने के लिए यह सुख की देने वाली सेज तैयार है, हे राघवनन्दन ! आप सुख से इस पर सोइए ॥ ३ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः ।

धर्मात्मस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

आप तो सुख पाने के योग्य हैं । दुःख तो सहने योग्य हम लोग हैं । सो हम लोग श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिए जागते रहेंगे ॥ ४ ॥

---

१ गुणैः—भ्रातृभक्त्यादिगुणैः । ( गो० )



न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।

मोत्सुकोऽभूर्ब्रवीम्येतदप्यसत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

( यह मत समझना कि, हमारे खवाली करने में असावधानी करेंगे, क्योंकि ) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर प्रिय मेरे लिए और दूसरा कोई नहीं है । मैं आपके सामने यह बात सत्य ही कहता हूँ । आप श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिए जरासी भी किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद्यशः ।

धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम् १ ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ही की कृपा से मैं इस लोक में बड़े यश की और विपुल धर्म तथा धन पाने की आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥ ७ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! मैं धनुष लेकर अपने प्रिय सखा श्रीरामचन्द्र जी की, जो सीता सहित सो रहे हैं, अपनी बिरादरी के साथ रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

इस प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल मुझे मालूम है । क्योंकि मैं यहाँ के वन में सदा घूमा फिरा ही करता हूँ । कदाचित् श्रीराम के

---

१ केवलाम्—न्यायप्राप्तमितियावत् । ( गो० )

ऊपर आक्रमण करने को चतुरङ्गिनी सेना भी आ जाय, तो भी मैं युद्ध में एक बार उसे रोक सकता हूँ ॥ ८ ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।

अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! मेरी ये बातें सुन, धर्म में निष्ठा रखते हुए महात्मा लक्ष्मण जी, हम सब को यह सिखाने लगे ॥ ९ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।

शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ १० ॥

जब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, सीताजी सहित पृथिवी पर पड़े सो रहे हैं, तब मैं किस तरह इस सुखसेज पर सो सकता हूँ । मैं प्राणों को कैसे रख सकता हूँ (और प्राणों को सुख देने) वाले सुखों को कैसे भोग सकता हूँ ? ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।

तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

देखो न जिन श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में क्या देवता और क्या असुर कोई भी नहीं ठहर सकता, वे ही श्रीराम, सीता सहित घासफूस के विस्तरे पर पड़े हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।

एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥

बड़ी तपस्या करने के बाद और विविध प्रयत्न करके महाराज दशरथ ने अपने जैसे लक्षणों वाला यह एकमात्र पुत्र पाया है ॥ १२ ॥



अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।

विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

अतएव मैं कह सकता हूँ कि, इनको वन में भेज, महाराज बहुत दिनों जीवित न रह सकेगे और निश्चय ही यह पृथिवी शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १३ ॥

विनय सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।

निर्घोषोपरतं नूनमद्य राज निवेशनम् ॥ १४ ॥

स्त्रियाँ उच्चस्वर से रोते रोते थक कर-अब चुप हो गई होंगी और अब राजभवन में सन्नाटा छाया होगा ॥ १४ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।

नाशंसे यदि जीवेयुः सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

मुझे आशा नहीं कि, महाराज, कौसल्या और मेरी माता आज की रात में जीती बच जाँय ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।

दुःखिता या तु कौसल्या वीरसूविनशिष्यति ॥ १६ ॥

सम्भव है शत्रुघ्न के आने की प्रतीक्षा करती हुई मेरी माता जीती रहे, परन्तु वीरप्रसविनी माता कौसल्या का इस दुःख से जीवित रहना असम्भव है ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।

राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

महाराज पिता जी का कितने ही दिनों से मनोरथ था कि श्रीराजचन्द्र को राज्यसिंहासन पर बैठावें, किन्तु अब उनका यह मनोरथ उनके मन ही में चला जायगा ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।

प्रेतकार्येषु सर्वेषु सस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

जब मेरे पिता जी पाणत्याग देंगे, तब जो उनके शव को दग्ध करेंगे, वे अपना जन्म सफल करेंगे ॥ १ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् १९ ॥

जिस पुरी के चवूतरे और बैठकें बड़े सुन्दर बने हैं, जिसमें मनोहर राजमार्ग हैं और जिसमें अच्छे अच्छे ऊँचे मकान सुशोभित हैं और जो सर्वप्रकार के रत्नों से भूषित हैं ॥ १९ ॥

गजाश्वरथसम्भावां तूर्यनादविनादिताम् ।

सर्वकल्याणसम्पूर्णा हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥

जो हाथियों, घोड़ों और रथों से परिपूर्ण है, जिसमें विविध भांति के तुरही भेरी आदि वाजे बजा करते हैं और जिसमें सब प्रकार का सुख है और जो हृष्टपुष्ट जनों से भरी पूरी है ॥ २० ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।

सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

जो वाटिकाओं और उपवनों से भूषित है, सभाएँ और उत्सव जहाँ सदा होते ही रहते हैं—ऐसी मेरे पिता की राजधानी में, जो लोग सुखी हो कर बिचरेंगे, वे ही लोग धन्य हैं ॥ २१ ॥



अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।

निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

हे गुह ! चौदहवर्ष बीतने पर इस व्रत को पालन कर, क्या हम लोग भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरी में सुख से प्रवेश कर सकेंगे ? ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं सुमहात्मनः ।

तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

गुह ने कहा—हे भरत ! राजकुमार महात्मा लक्ष्मण तीर कमान हाथ में ले रात भर खड़े खड़े पहरा देते रहे । अतः इस प्रकार विलाप करते ही करते और खड़े ही खड़े सबेरा हो गया ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।

अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं सन्तारितौ मया ॥ २४ ॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर दोनों भाइयों ने, इन्हीं भागीरथी के तट पर, जटा बनाई । तब मैंने बड़े आराम से उनको पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ

महाबलौ कुञ्जरयूथपोषमौ ।

वरेषुचापासिधरौ परन्तपौ

व्यवेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः

महाबली, तेजस्वी और शत्रुओं के दमन करने वाले वे दोनों भाई, सीता को साथ ले और मन्तक पर जटा बनाए, वृक्ष के

सप्ताशीतितमः सर्गः

८४६

छिलकों के वस्त्र पहिने हुए, तरकस और धनुष धारण किए हुए तथा मेरी ओर देखते हुए, गजराज की तरह चले गए ॥ २५ ॥

अयोध्याकाण्ड का छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—: \* :—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—: : ० :—

गुहस्य वचनं श्रत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।

ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

भरत जी ने ज्योंही गुह के ऐसे दुःखप्रद वचन सुने, त्योंही वे श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करने लगे ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।

पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

तदनन्तर सुकुमार, बड़ी भुजाओं वाले, केहरी के समान कंधे वाले, महाधैर्यवान्, कमलनयन, तरुण और मनोहर दर्शन वाले ॥ २ ॥

प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।

पपात सहसा तोत्रैर्ह्यतिविद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत जी, जब दो घड़ी बाद सचेत हुए, तब बहुत उदास हो, हृदय में अंकुश खाए हाथी की तरह, अचानक मूर्छित हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

१ यत्रतत्रैव—यत्रक्षणेअप्रियं श्रुतं तत्रैवेत्यर्थः । (गो०) २ तोत्रैः—

अङ्कुशैः । (रा०) ३ हृदि—हृदयदेशे (रा०)

वा० रा०—५४



तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽ१ नन्तरस्थितः ।

परिष्वज्य रुरादोच्चैर्विसंज्ञः शोककशितः ॥ ४ ॥

भरत जी की ऐसी दशा देख, निरन्तर भरत जी के पास रहने वाले शत्रुघ्न जी अत्यन्त दुखित एवं संज्ञाहीन हो, भरत जी के शरीर से लिपट कर, उच्चम्बर से विलाप करते हुए रोने लगे ॥ ४ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः ।

उपवासकृशा दीना भर्तुर्व्यासनकशिताः ॥ ५ ॥

तब भरत जी की सब माताएँ, जो उपवास करने के कारण शरीर से कृश और पति की मृत्यु होने से शोकातुर हो रही थीं, (भरत जी को मूर्छित हुआ उन) उनके पास दौड़ी हुई गयीं ॥ ५ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदन्त्यः पर्यवारयन् ।

कौसल्या २ त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिष्वजे ॥ ६ ॥

और भरत जी को भूमि पर (मूर्छित) पड़ा देख, वे उनको चारों ओर से घेर कर, खड़ी हो गईं । कौसल्या ने भरत जी के निकट जा और अधिक विकल हो, भरत जी को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया ॥ ६ ॥

वत्सला म्वं यथा ३ वत्समुपगूह्य तपस्विनी ।

परिपप्रच्छ भरतं रुदन्ती शोककशिता ॥ ७ ॥

---

१—अनन्तरस्थितः—निरन्तर समीपस्थितः । (रा०) २अनुसृत्य—समीपं प्राप्य । (गो०) ३ उपगूह्य—परिष्वज्य । (गो०)

तदनन्तर पुत्रवत्सला एवं तपस्विनी कौसल्या, अपने निज गर्भजात पुत्र के समान, भरत जी को अपने हृदय से लगा, शोकाकुल हो, रो रो कर पूँछने लगी ॥ ७ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं परिबाधते ।

अथ राजकुलस्यास्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ८ ॥

बेटा ! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी उठ खड़ी हुई है ? देखो, अब इस राजकुल का जीना मरना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है ॥ ८ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते ।

वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ ९ ॥

हे वत्स ! लक्ष्मण जी को साथ ले राम तो वन में चला ही गया, अब तो मैं तेरा ही मुख देख कर जी रही हूँ । अब महाराज दशरथ के बाद, एक तूही हम लोगों का रक्षक है ॥ ९ ॥

कच्चिन्नु लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किञ्चिदप्रियम् ।

पुत्रे वा ह्यकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ १० ॥

हे बेटा ! लक्ष्मण जी के बारे में तो तुमने कोई अप्रिय समाचार नहीं सुना ? अथवा मेरा एकमात्र पुत्र, जो स्त्री सहित वन में गया है, उसके विषय में तो कोई अमङ्गल समाचार नहीं सुना ? ॥ १० ॥

स मुहूर्तात्समाश्वस्य\* रुदन्नेव महायशः ।

कौसल्यां परिसान्त्वयेदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

महायशस्वी भरत जी दो घड़ी बाद सचेत हुए । तब उन्होंने रुदन करती हुई कौसल्या को धीरज बंधाया और गुह से कहने लगे ॥ ११ ॥

---

\*राठान्तरे—“स मुहूर्ते समाश्वस्य” ।



आता मे कावसद्रात्रौ क सीता क च लक्ष्मणः ।

अस्वपच्छयने कस्मिन् क भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १२ ॥

हे गुह ! मेरे भाई श्रीराम ने रात कहाँ बिताई थी, उन्होंने भोजन क्या किया था और किस बिछौने पर वे सोए थे; सीता और लक्ष्मण कहाँ रहे थे ? तुम ये सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीद्धरत हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः ।

यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १३ ॥

निषादराज गुह ने, प्रसन्न हो, ( प्रसन्न इसलिए कि उसे श्रीराम जी के गुणगान करने का अवसर प्राप्त हुआ ) श्रीराम जैसे प्रिय और हितैषी अतिथि का जैसा सत्कार किया था—सो कहा ॥ १३ ॥

अन्नमुच्चावचं भक्षः फलानि विविधानि च ।

रामायाम्यवहारार्थं बहु चोपहतं मया ॥ १४ ॥

हे भरत ! मैंने तरह तरह के अन्न, भक्ष्य और बहुत से फल मूल ला कर भोजन करने के लिए श्रीराम के आगे रखे थे ॥ १४ ॥

तत्सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद्वामः सत्यपराक्रमः ।

न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ १५ ॥

१ गुहः हृष्टः—रामवृत्तान्तकीर्तनस्यावकाशोलब्धइतिसजातहर्षः सन् । ( गो० ) २ रामे यद्विधं—यादृशमुपचारादिकं । ( गो० ) ३ प्रतिपेदे—अकरोदिति । ( गो० ) ४ उच्चावच—अनेकविधं । ( शि० ) ५ प्रत्यनुज्ञासीत्—मदनुग्रहार्थं केवलमङ्गीकृत्य पुनर्मह्यमेव दत्तवान् । ( रा० ) ६ क्षत्रधर्म—भागीरथीतीरं तत्रयो धर्मः अन्यदीयवस्तुग्रहणान्निवृत्तिस्त । ( शी० )

किन्तु सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने मुझ पर अनुग्रह करने के लिए सब चीजों वचन मात्र से ग्रहण कीं और मुझे क्षत्रिय धर्म का स्मरण करा कर ( कि गङ्गा के तट पर क्षत्रियों को किसी की दी हुई वस्तु ग्रहण करना अनुचित है ) वे सब वस्तुएँ मुझी को लौटा दीं ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—किसी किसी टीकाकार का मत है कि, श्रीरामचन्द्र के उपवास करने का कारण तीर्थविधि का पालन था—अर्थात् तीर्थ में जा कर प्रथम दिन उपवास करना चाहिए । इसी लिए उन्होंने गुह की भेंट ग्रहण नहीं की थी । किन्तु आगे के श्लोक से यह अनुमान समर्थन नहीं होता । ]

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।

इति तेन वयं राजन्न<sup>१</sup> नुनीता महात्मना ॥ १६ ॥

हे राजन ! और महात्मा श्रीराम ने मुझसे कहा—हे सखे ! हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि, सदा सब को सब कुछ दिया तो करें, किन्तु लें कुछ भी नहीं ॥ १६ ॥

लक्ष्मणेन समीनीतं पीत्वा वारि महामनाः<sup>२</sup> ।

औषवास्यं तदाऽकार्षीद्राघवः सह सीतया ॥ १७ ॥

महामना श्रीराम, लक्ष्मण जी का लाया हुआ जल, सीता सहित पी कर, उस रात उपवास करके रह गए ॥ १७ ॥

ततस्तु जलशेषण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा ।

स्वाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां<sup>३</sup> समुपासतसंहिताः<sup>४</sup> ॥ १८ ॥

१ अनुनीता—इत्युक्ता । ( शि० ) २ वाग्यतः—नियतवाचः ।

( गो० ) ३ सीतायाऽपिसन्ध्यायां ध्यानजपादिकमस्येव । ( गो० ) ४

संहिताः—समाहिताः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“महायशः” ।



तदनन्तर लक्ष्मण जी ने भी, जो जल बच रहा था, सो पी लिया, तदनन्तर तीनों ने भौन और एकाम्रचित्त हो, सन्ध्याबन्दन किया ॥ १८ ॥

[ टिप्पणी—तीनों ने सन्ध्योपासन किया । तीन की संख्या में किसी किसी ने तो श्रीराम, लक्ष्मण और सुमंत्र को गणना की है, और किसी ने श्रीराम, लक्ष्मण और सीता की । जिस प्रकार सूतजातीय होने के कारण सुमंत्र को शास्त्रतः वैदिक सन्ध्योपासन करने का निषेध हो सकता है, उसी प्रकार स्त्रीजाति का होने के कारण सीता जी भी वैदिक सन्ध्योपासन करने की अधिकारिणी नहीं हैं । अतः जो समाधान सुमंत्र के लिए है, वही जानकी जी के लिए भी । श्रीगोविन्दराज जी का मत है कि, सीता ने जो सन्ध्योपासन किया उसमें केवल परमात्मा का ध्यान और उनके नाम का जप मात्र था । स्त्रियों तथा शूद्रों के लिए परमात्मा का ध्यान करने और उनका नाम जपने का निषेध नहीं है । यहाँ पर एक शङ्का और उठती है । वह यह कि, जल गान के बाद सन्ध्योपासन कैसा ? इसका समाधान भूषणटीका में इस प्रकार किया गया है कि गुह ने भरत के इस प्रश्न के उत्तर में कि, श्रीराम ने क्या खाया था ? कहा, मेरे लाये हुए फलादि को लौटा-लक्ष्मण के लिए हुए जल को पी कर, श्रीराम रहे । यह प्रसङ्गानुसार प्रश्न का उत्तर है । इससे यह न समझना चाहिए कि, जल पीने के अनन्तर श्रीरामचन्द्र ने सन्ध्योपासन किया था । ]

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत्स्वास्तरं शुभम् ।

स्वयमानीय बर्हीषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महात्मा लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र के सोने के लिए तुरन्त कुश ला कर बिछा दिए ॥ १९ ॥

तस्मिन् समाविशद्रामः स्वास्तरे सह सीतया ।

प्रक्षाल्य च तयोः पादावपचक्राम लक्ष्मणः ॥ २० ॥

और जब उन पर श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित लेटे, तब लक्ष्मण उन दोनों के पैर धो कर, वहाँ से चले आए ॥ २० ॥

एतच्चदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत्तृणम् ।

यस्मिन् रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥ २१ ॥

हे राजकुमार ! देखो यही तो वह डंगुर्दा का पेड़ है और यही वह तृणशय्या है। इसी पर उस रात में श्रीराम और सीता—दोनों सोए थे ॥ २१ ॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रया-

ञ्शरैः सुपूर्णाविषुधीः परन्तपः ।

महद्भुजः सज्यमुपोह्य लक्ष्मणो

निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥ २२ ॥

उस रात में शत्रुओं को दमन करने वाले लक्ष्मण, तीर से भरे दो तरकस बांध, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहिन और हाथ में रोदा चढ़ा हुआ बड़ा धनुष ले, श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिए उनकी तृणशय्या ( से कुछ दूर हट ) उसके चारों ओर घूम घूम कर पहरा देते रहे ॥ २२ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापधृत-

स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।

१ नियम्य—बन्धा । ( ग ० ) २ इषुधी—तूणीरद्वयं । ( गो ० )  
३ उपोह्य—धृत्वा । ( गो ० ) ४ अस्तपरितोतिष्ठत्—सर्वतो रक्षणार्थं  
प्रदक्षिणं चचारेत्यर्थः । ( गो ० )



अतन्द्रिभिर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैः

सहेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २३ ॥

इति सप्ताशीतितमः सर्गः ॥

मैं भी एक बढ़िया धनुष हाथ में ले, अपनी बिरादरी के धनुषधारी लोगों के साथ, उन इन्द्रतुल्य श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली करता हुआ लक्ष्मण जी के साथ यहाँ रात भर जागता रहा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टाशीतितमः सर्गः

—: \* :—

तच्छ्रुत्वा निपुणं<sup>१</sup> सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।

इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्ष्य ताम् ॥ १ ॥

गुह के वचन सुन भरत जी मंत्रियों सहित, सावधानतापूर्वक इङ्गुदी वृक्ष के नीचे गए और श्रीरामचन्द्र जी की तृणशय्या को देखने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तेन<sup>२</sup> महात्मना ।

शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

और अपनी माताओं से बोले कि, महात्मा राम ने उस रात, इसी तृणशय्या पर यहाँ शयन किया था। यह कुश. उन्हीं के शरीर से मर्दन किए हुए हैं ॥ २ ॥

---

१ निपुणं—सावधानं । ( गो० ) २ तेन—रामेण । ( गो० )

महाभागकुलीनेन महाभागेन धीमता ।

जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्नुमर्हति ॥ ३ ॥

परम भाग्यवान्, कुलीन और बुद्धिशाली महाराज दशरथ से उत्पन्न हों, राम ने पृथिवी पर शयन किया सो यह अत्यन्त अनुचित हुआ है ॥ ३ ॥

१ अजिनोत्तरसंस्तीर्णं वरास्तरणसंवृते ॥

शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

जो राम, सदा ही राजाओं के सोने योग्य कले की छाल के बने अति कोमल विछौने से युक्त सेजों पर सोते रहे हैं, वे भला, किस तरह भूमि पर सोए होंगे ? ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु बलभीषु च सर्वदा ।

हैमराजतमोमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

पुष्पसञ्चयचित्रेषु चन्दनागरुगन्धिषु ।

पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसङ्घरुतेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।

उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषर्वराभरणानिःस्वनैः ।

मृदङ्गचरशब्दैश्च सतत प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥

१ अजिन—शब्देन कटल्यायजिनं विवक्षितं । (गो०) २ बलभीषु कूटागारेषु । (गो०) ३ वरास्तरणशालिषु—चित्रकम्बलशालिषु । (गो०)

\* पाठान्तरे—“सञ्चये ।”



जिस सातखने राजभवन की चौखण्डी की भूमि सोने और चाँदी की बनी हुई है और जिस पर अच्छे अच्छे रंग बिरंगे ऊनी गलीचे बिछे हुए हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र विचित्र रचनाएँ की जाती हैं और जो शयनगृह चन्दन और अगर की सुगन्ध से सुवासित है, जो सफेद उजले बादल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ पर तोते मैनाआदि पक्षी बोलते हैं, जो राजभवनों में सब से श्रेष्ठ है, जहाँ पर आवश्यकतानुसार ठंडक पहुँचाई जा सकती है ( अर्थात् जब चाहो तब कमरे में ठंडक हो जाय ) अथवा जिसमें सदा शीतल और सुगन्धित पवन का सञ्चार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवाले सोने चाँदी के काम से खचित होने के कारण मेरुपर्वत जैसी जान पड़ती हैं—ऐसे उत्तम शयनागार में सोने वाले राम, जो मधुर गान और उत्तम मृदङ्गादि बाजों के शब्दों से तथा सुन्दर स्त्रियों की पायजेव, नूपुर आदि गहनों के छुमछुम शब्दों से जगाए जाते थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

वन्दिभिर्वन्दितः कालेः बहुभिः सूतमागधैः ।

गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तपः ॥ ६ ॥

और जागने के बाद, प्रातःकाल शत्रुओं के दमन करने वाले राम, जिनकी अनेक सूत, मागध और बंदीगण अनेक प्रकार की सुन्दर ( पूर्ब पुरुषों की ) गाथाओं और स्तुतियों से बंदना करते थे ॥ ६ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मे॥

मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

---

१ काले—प्रातःकाले । (गो०)\* पाठान्तरे—“मा ।”

वे जमीन पर सोवें, और शृगाल एवं वन्य जन्तुओं का भयङ्कर चीत्कार सुन जागें—इस बात पर मुझे न तो विश्वास ही होता है और न यह मुझे सत्य ही जान पड़ती है। क्योंकि इसकी कल्पना मात्र से मुझे भ्रम होने लगता है और स्वप्न सा जान पड़ता है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन<sup>१</sup> बलवत्तरम् ।

यत्र दाशरथी रामो भूमादेव शयीत सः ॥ ११ ॥

निश्चय ही परमात्मा की इच्छा से बढ़ कर कोई देवता नहीं है। नहीं तो महाराज दशरथ के पुत्र हो कर भी, राम जमीन पर क्यों सोते ॥ ११ ॥

विदेहराजस्य सुता सीता च प्रियदर्शना ।

दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

राजा जनक की बेटी और महाराज दशरथ की पतोहू, जो अति सुन्दरी है और जिस पर महाराज दशरथ की बड़ी कृपा थी, हाय ! जमीन पर सोती है !! ॥ १२ ॥

इयं शय्या भम भ्रातुरिदं हि परिवर्तितम् ।

स्थण्डिले<sup>२</sup> कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

हे माता ! देखो मेरे भाई की यह सेज है ! देखो, जैसे जैसे उन्होंने करवटे बदली हैं, वैसे ही वैसे कड़ी भूमि पर बिछे हुए तृण उनके शरीर से दब दब कर कुचल गए हैं ॥ १३ ॥

---

<sup>१</sup> कालेन—कालात् परमात्मेच्छया । ( शि० ) <sup>२</sup> स्थण्डिले—भूतले । ( गो० )



मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयनोत्तमे ।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

मुझे जान पड़ता है, गहने पहिने हुए सीता सोई थी। इसीसे तो जहाँ तहाँ सोने के रोना (दाने) पड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।

तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

हे माता ! जान पड़ता है, यहाँ पर सीता की ओढ़नी उलझ गई थी—क्योंकि यहाँ रेशम के धागे उलझे हुए हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।

सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

पति की सेज (कैसी ही क्यों न हो अर्थात् चाहे वह कोमल हो चाहे कठोर) स्त्रियों के लिए सदा सुखदायिनी होती है देखो न ! इसीसे इस सुकुमारी तपस्विनी पतिव्रता बाला सीता को इस पर सोने से कुछ भी कष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽहं यत्सभार्यः कृते मम ।

ईदृशीं राघवः शय्यामधिशैते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

हा ! मैं तो जीते जी ही मर गया। मैं बड़ा निर्दयी हूँ। मेरे ही पीछे तो राम को अपनी स्त्री के सहित, अनाथ की तरह, ऐसी-शय्या पर सोना पड़ा ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकस्य सम्मतः ।

सर्वलोकप्रियस्त्यक्त्वा राज्यं सुखमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

सम्राट् के कुल में जन्म ले कर, सब को सुख देने वाले और  
सर्पप्रिय होकर भी वे उत्तम राज्यसुख से वञ्चित किए गए ॥१८॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्तान्नः प्रियदर्शनः ।

सुखभागी न दुःखार्हः शयिता भुवि राघवः ॥१९॥

हा ! नील कमल के समान श्यामल ! शरीर वाले तथा रक्त-  
वर्ण नेत्र वाले, देखने में मनोहर, जिन्होंने सदा सुख ही भोगा  
है और जो कभी दुःख भोगने योग्य नहीं हैं—वे राम किस  
प्रकार जमीन पर सोए ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

भ्रातरं विषमे काले यो रामप्रतुर्वर्तते ॥ २० ॥

इस समय तो शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण जी ही धन्य हैं  
और उन्हीं को बड़भागी समझना चाहिए कि, जो ऐसे बुरे समय  
में भी अपने भाई राम का साथ दे रहे हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं याऽनुगता वनम् ।

वयं संशयिताः<sup>१</sup> सर्वे हानास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

और वैदेही जानकी का भी जन्म सफल है, जो अपने पति  
के साथ वन में गईं । हम लोग राम से केवल रहित ही नहीं  
हैं, किन्तु हमें इस बात का भो सन्देह है कि, राम हम लोगों  
की सेवा अङ्गकीर करें या न करें ॥ २१ ॥

अकणधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति माम्\* ।

गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

१ संशयिताः—प्रस्मत्सेवारामौगीकरिष्यति नवेति संशयिताः । (गो०)

\* पाठान्तरे—“मा”



महाराज दशरथ के स्वर्गवासी होने से तथा श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने से, बिना माँभी की नाव की तरह, यह पृथिवी, मुझे मृत्नी निम्नलाई पड़ती है ॥ २० ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन् मनसाऽपि वसुन्धराम् ।

बनेऽपि वसतस्तस्य बाहुवोर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

राम वनवास कर रहे हैं तो क्या हुआ, यह पृथिवी वन्हीं के भुजबल से रक्षित होने के कारण, दूसरा इसे लेने की, अपने मन में कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयतन्त्रितहयद्विषाम् ।

अपावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

यद्यपि इस समय अयोध्या की चहारदीवारी की रक्षा जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हो रही, हाथी घोड़े भी जहाँ तहाँ छुटे हुए घूम रहे हैं, उन्हें पकड़ कर कोई बाँधने वाला नहीं है। पुर के फाटक भी खुले पड़े हैं अतएव राजधानी अरक्षित है ॥ २४ ॥

१ अग्रहृष्टबलां न्यूनां २ विषमस्थामनावृताम् ४ ।

शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्षान् विषकृतानिव ॥ २५ ॥

क्योंकि वहाँ की सेना उदास है, उसे पुरी की रक्षा करने की सुधि नहीं है। अतः अयोध्यापुरी इस समय साधनहीन है, दुर्दशापन्न है और बाहिर से भी उसकी रक्षा का कोई साधन नहीं है।

---

१ अग्रहृष्टबलवत्त्वमरक्षितत्वेहेतुः। (गो०) २ न्यूनां—साधनविहीनां। (गो०) ३ विषमस्थां—दुर्दशापन्नां। (गो०) ४ अनावृतां—बाह्यरक्षक-रहितां। (गो०)

तथापि शत्रु लोग, राम के प्रताप के कारण, उसकी ओर देखते हुए वैसे ही डरते हैं, जैसे कोई विषैले भोजन को देखकर डरता है ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं वृणेषु वा ।

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

आज से भी मैं खाली ज़मीन पर अथवा चटाई पर ही सोऊँगा और नित्य फल मूल ही खाऊँगा और जटा और चीर धारण करूँगा ॥ २६ ॥

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने ।

तं प्रतिश्रवणमुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

राम को वन से लौटा कर उनके बदले मैं वन में वसूँगा— क्योंकि वनवास की जो अवधि अभी शेष है, उसे मैं पूरी करूँगा जिससे बड़े भाई की चौदह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पावे ॥ २७ ॥

वसन्तं आतुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुऽवत्स्यति ।

लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति ॥ २८ ॥

भाई के बदले वन में वास करने पर शत्रुघ्न जी मेरे साथ वन में रहेंगे और लक्ष्मण के सहित राम अयोध्या में जा राज्यशासन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेचयन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।

अपि मे देवताः कुर्युः रिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

---

१ अपि—संभावनायामपिशब्दः । (गो०)



ब्राह्मण लोग अयोध्या में राम का राज्याभिषेक करेंगे ।  
देवताओं से मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरा मनोरथ  
पूरा करें ॥ २६ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं<sup>१</sup>

बहुप्रकारं यदि नाभिपत्स्यते<sup>२</sup> ।

ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं

वने वसन्नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

चरणों में सीस रखने तथा अनेक प्रकार से मेरे स्वयं मनाने  
पर भी, यदि राम मेरी बात अंगीकार न करेंगे ( और पिता की  
आज्ञा का स्वयं पालन ही करेंगे ) तो मैं भी चिरकाल तक राम  
का सेवक बन उनके साथ वन में वास करूँगा । पर मुझे  
विश्वास है कि राम भक्तवत्सल हैं, अतः वे अपने दास की  
उपेक्षा कभी न करेंगे ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:०:—

---

१ स्वयंनतुमंत्रिमुखेन । (रा०) २ नाभिपत्स्यते—नाङ्गीकरिष्यति ।  
(गो०) ३ अनुवत्स्यामि—तदनुचरो भवामि । (गो०)

## एकोनवतितमः सर्गः

—:०:—

१ व्युष्य रात्रिं<sup>२</sup> तु तत्रैव<sup>३</sup> गङ्गाकूले स राघवः ।

भरतः ४ काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रघुकुलोत्पन्न भरत जी ने उसी स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी सोए थे, रात्रि व्यतीत की और जब सबेरा हुआ, उठ कर शत्रुघ्न से कहा ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् ।

शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

शत्रुघ्न उठो ! सबेरा हो चुका । अब क्यों पड़े सो रहे हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जाकर तुरन्त निषादराज गुह को यहाँ बुला लाओ, जिससे वह हमारी सेना को पार उतारे ॥ २ ॥

जागमिं नाह स्वपिमि तमेवार्यं विचिन्तयन् ।

इत्येवमब्रवीद्भ्रात्रा शत्रुघ्नोऽपि प्रचोदितः ॥ ३ ॥

यह सुन शत्रुघ्न ने भी कहा—हे भ्राता ! मैं सो नहीं रहा— जाग रहा हूँ और जिस प्रकार आप राम का चिन्तन करते हैं, वैसे ही मैं भी उन्हीं का चिन्तन कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

इति संवदतोरैवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।

आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो भरतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

१ व्युष्य—उषित्वा । ( गो० ) रात्रि—रात्रौ । ( गो० ) ३ तत्रैव यन्नरामोऽशयिष्ठतत्रैव । ( गो० ) ४ काल्य—प्रत्यूषः ( गो० )

वा० रा०—५५



इस प्रकार दोनों पुरुषसिंह बातचीत कर रहे थे कि इतने में निषादराज गुहाठीक समय पर पहुँच और हाथ जोड़ कर भरत जी से बोला ॥ ४ ॥

कच्चित्सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।

कच्चित्ते सहसैन्यस्य तावत्सर्वमनामयम् ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! आप नदी के तट पर रात को सुखपूर्वक तो रहे। आपको या आपकी सेना में से किसी को किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं हुआ ॥ ५ ॥

गुहस्य वचनं श्रुत्वा तत्तु स्नेहादुदीरितम् ।

रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुह के ऐसे स्नेह-सने वचन सुन, भरत जी ने भी श्रीराम के भक्त गुह से यह कहा ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी राजन्पूजिताश्चापि ते वयम् ।

गङ्गा तु नौभिर्वह्नीभिर्दाशाः<sup>१</sup> सन्तारयन्तु नः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! यह रात हम सब की सुख से बीती और तुमने हमारा भली भाँति आदर सत्कार किया। अब तुम अपने मल्लाहों को आज्ञा दो कि, बहुत सी नावों द्वारा वे हम लोगों को उस पार पहुँचा दे ॥ ७ ॥

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम् ।

प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

१ रामस्यअनुवशः—रामस्यअनुचरः । ( शि० ) २ दाशाः—  
कैवर्तकाः ( शि० )

भरत जी की ऐसी आज्ञा पा कर गुह ने बड़ी शीघ्रता से पुनः अपने नगर में प्रवेश किया और वहाँ जा कर, अपनी जाति-वालों ( मल्लाहों ) से कहा—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु च वः सदा ।

नावः समनुर्कषध्व तारायष्याम वाहिनीम् ॥ ९ ॥

भाइयो ! उठो ! जागो ! सदा तुम्हारा मङ्गल हो । नावों को किनारे पर ला कर, सेना को पार उतारो ॥ ९ ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।

पञ्च नावां शतान्याशु समानिन्युः समन्ततः ॥ १० ॥

गुह द्वारा ऐसा कहे जाने पर, मल्लाह लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आज्ञानुसार उन लोगों ने इधर से जोड़ बटोर कर ५०० नावें ला कर, घाट पर लगा दी ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।

शोभमानः पताकाभिर्युक्तवाताः<sup>१</sup> सुसंहताः<sup>२</sup> ॥ ११ ॥

इनके अतिरिक्त राजाओं के चढ़ने योग्य “स्वस्तिक” नामक कई एक बजरा नावें भी लाई गईं । इन स्वस्तिक नावों में घंटे टंगे हुए थे । पताकाएँ शोभायमान थीं । हवा आने जाने के लिए बनी थीं, और नाव की तली में कीलें आदि ऐसी सावधानी से जड़ी थीं कि, उसमें एक बूँद भी जल नाव के भीतर नहीं आ सकता था ॥ ११ ॥

---

१ युक्तवाताः फलककुड्यकरणेन मध्ये मध्येगवाहनिर्मणिनेन च महावातनिवारणादुचितवाताः । गो०) २ सुसंहिताः—राजारोहणस्थान-त्वेनायसकीलादिभिर्दृढसन्धिबन्धाः (गो०)



ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।

सनन्दिघोषां रक्त्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उन स्वस्तिक नाम के बजरो में सफेद ऊनी कालीन बिछे हुए थे । जब वे चलाई जाती थीं, तब उनमें छोटी छोटी घंटियाँ बजती थीं । वे देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थीं । ऐसी एक नाव को गुह स्वयं लाया था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशाः ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥ १३ ॥

इस बजरे पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, तथा अन्य जो रानियाँ थीं, सवार हुईं ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत्पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।

अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

भरत आदि के नाव में बैठने के पूर्व पुरोहित तथा अन्य गुरुजन ब्राह्मण पहिले ही चढ़ चुके थे । तदनन्तर कौशल्यादि रानियाँ नाव में बैठी थीं । उनके बैठने के बाद सामान से लदे झकड़े नावों पर बोके गए थे ॥ १४ ॥

३ आवासमादीपयतां ४ तीर्थ ५ चाप्यवगाहताम् ।

६ भाण्डानि चादेदानानां घोषस्त्रिदिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

१ सनन्दिघोषां—हर्षजनककिङ्कियादिघोषयुक्त । (गो०) २ रक्त्याणीं—शोभनां । (गो०) ३ आवास—सेनादिवेशं । (गो०) ४ आदीपयतां—अग्निनाज्वलयतां । (गो०) ५ तीर्थ—अवतरणप्रदेशम् । (गो०) ६ भाण्डानि—उपकरणानि । (गो०) \* पाठान्तरे—“महाबलः” ।

एकोनवतितमः सर्गः

८६६

खलते समय छावनी में जो घास फूस था, वह जला दिया गया। फिर गङ्गा जी में स्नान करने वालों का कोलाहल, तथा नावों पर सामान लादने वालों का चीत्कार शब्द ऐसा हुआ कि, आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। अर्थात् वहाँ से सेना के कूँच के समय और नावों में सामान लादते समय बड़ा होहल्ला हुआ ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।

वहन्त्यो जनमारुढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

वे पालवाली नावें, जिन पर माँझी लोग बैठे हुए रखवाली कर रहे थे, नावों पर सवार लोगों को लिए हुए, बड़े वेग से चली जाती थीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चिक्काश्चिच्च वाजिनाम् ।

काश्चिदत्र वहन्ति स्म यानयुग्य महाधनम् ॥ १७ ॥

कितनी ही नावों में तो स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ बैठी थीं और कितनी ही नावों में घोड़े ही घोड़े भरे थे। 'कई एक नावों पर रथ बैल छक्कड़े, घोड़े, खच्चर—जो बड़े बड़े मोल के थे भरे थे ॥ १७ ॥

ताः स्म गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् ।

निवृत्ताः काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

धीरे धीरे ये सब नावें गङ्गा के दूसरे पार पर जा लगीं और आरोहियों को उतारा। लौटते समय, गुह के बन्धु मल्लाह लोग, नौका ले जल में विविध प्रकार के खेल करते जाते थे ॥ १८ ॥

१ यानयुग्य—यानानिरथशकटादीनि युग्यानि—अश्वतरबलीवर्दादीनि ।  
(गो०) २ महाधनं—बहुमूल्यं । (गो०) ३ काण्डे—वारिणि । (गो०)  
४ चित्राणि चित्रगमनानि । (गो०)



सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः ।

तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजाः इव पर्वताः ॥ १६ ॥

महावत लोग ध्वजा सहित हाथियों को जल में पैरा कर पार उतारते थे । उस समय वे हाथी चलते फिरते पर्वतों की तरह जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

नावश्चारुरुहुश्चान्ये सवैस्तेरुस्तथा परे ।

अन्ये कुम्भघटैस्तेरुन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कोई तो छोटी नावों पर बैठ कर पार उतरे, कोई बाँस आदि के बेड़ों के सहारे, कोई घरनई से और कोई स्वयं तैर कर उस पार पहुँचे ॥ २० ॥

सा पुण्याः ध्वजिनीः गङ्गां दाशैः सन्तारिता स्वयम् ।

मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

गुह के नौकर मल्लाहों ने स्वयं, गङ्गास्नान से पवित्र हुई सेना को पार उतार दिया । वह सेना सूर्योदय से तीसरे मैत्र नामक मुहूर्त में परम मनोहर वन को प्रस्थानित हुई ॥ २१ ॥

४ अश्वासयित्वा च चर्मं ५ महात्मा ६

निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ७ ।

१ सध्वजाः—सगमनाः । (गो०) २ पुण्या—गंगास्नानादिनापूता ।

(गो०) ३ ध्वजिनी—सेना । (गो०) ४ अश्वासयित्वा—सान्त्वयित्वा ।

(गो०) ५ चर्म—महाजनं । (गो०) ६ महात्मा—महामतिः । (गो०)

७ यथोपजोषम्—यथामुखं । (गो०)

द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-

१मृत्विग्वृतः सन् भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

प्रयाग में पहुँच, महामति भरत ने सब सेना तथा साथियों को मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान कर, जहाँ जिसको सुविधा थी उसे वहाँ टिकाया। तदनन्तर भरत जी, वसिष्ठादि ऋषियों को साथ ले, भरद्वाज जी के दर्शन करने को, उनके आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २२ ॥

स २ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेक्ष्य

३महात्मनो ४देवपुरोहितस्य ।

ददर्श रम्योटजवृक्षषण्डं

महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

इति एकोनवतितमः सर्गः ॥

उन वेदवित् महाज्ञानी देवपुरोहित बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज के आश्रम में पहुँच, भरतादि ने भरद्वाज जी की रमणीय पर्णशाला और सघन वृक्षों से सुशोभित बड़े वन को देखा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

---:००:---

---

मृत्विग्भिः—शशष्ठादिभिः । ( रा० ) २ ब्राह्मणस्य—ब्रह्मवेदः तदधीते ब्राह्मणः । ( गो० ) ३ महात्मनो—महाज्ञानस्य । ( गो० ) ४ देवपुरोहितस्य—बृहस्पति पुत्रत्वेन देवपुरोहितत्वं “आत्मावै पुत्रनामासि” इतिन्यायात् । ( गो० )



## नवतितमः, सर्गः

—०:०—

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नरर्षभः ।

बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः । १ ॥

पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।

वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम् ॥ २ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत आश्रम से एक कोस के अन्तर पर, सेना आदि को टिका कर, मंत्रियों को साथ ले, अस्त्र शस्त्र छोड़ एवं राजसी पोशाक उतार, केवल रेशमी वस्त्र धारण कर तथा पुरोहितों को आगे कर, पैदल ही, भरत जी के दर्शन करने को गए ॥ १ ॥ २ ॥

ततः सन्दर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।

मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामीनुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर जब भरत जी ने दूर में भरद्वाज जी को देखा तब मंत्रियों को भी पीछे छोड़, आप अकेले ही वसिष्ठ जी के पीछे पीछे जाने लगे ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः ।

१सञ्चालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महातपस्वी भरद्वाज ने वसिष्ठ जी को देखते ही, शिष्यों को अर्घ्यादि लाने की आज्ञा दी और वे तुरन्त आसन छोड़, खड़े हो गए ॥ ४ ॥

१ संचर्चाल—उदतिष्ठत् । (गो०) २ अर्घ्य आनयतेतिशेषः । (गो०)

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।

अबुध्यतः महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

और आगे बढ़ वसिष्ठ जी से मिले । भरत जी ने भरद्वाज को प्रणाम किया । मुनि भरद्वाज ने जान लिया कि, वे महा-तेजस्वी ( भरत ) दशरथनन्दन हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च ।

आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज जी ने उनके लिए भी अर्घ्य सामग्री मँगवा कर, उन दोनों को अर्घ्य और पाद्य दिए । तदनन्तर खाने को भोजन के लिए फल दिए । पीछे क्रमपूर्वक उनसे उनके घर का कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु ।

जानन्दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

अयोध्या में भी सेना, धनागार, मित्रों और मंत्रियों के सम्बन्ध में कुशलप्रश्न पूँछा, तदनन्तर महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार मालूम होने के कारण उनका नाम न लिया ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।

शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

तदनन्तर वसिष्ठ जी और भरत जी ने भरद्वाज से उनके शरीर, अग्नि, शिष्य, मृगों और पक्षियों के विषय में कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ८ ॥

---

१ अबुध्यतेति वसिष्ठसाहचर्यादितिभावः । (गो०) २ कुले—गृहे ।  
( गो० )



तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः ।

भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥

तब महातपस्वी भरद्वाज ने अपना सब का कुशल मङ्गल कृतान्त बतला, श्रीरामचन्द्रजी के स्नेह के कारण ( न कि भरत जी के दोष दिखाने के उद्देश्य से ) भरत जी से कहा ॥ ९ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।

एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते<sup>१</sup> मनः ॥ १० ॥

हे राजकुमार ! तुम तो राज्य का शासन कर ही रहे हो । फिर यहाँ आने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी । यह सब मुझसे ठीक-ठीक कहो । क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरा मन सशङ्कित हो रहा है ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्या<sup>२</sup>नन्दवर्धनम् ।

आत्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥ ११ ॥

नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।

वनवासी भवेतीह सभाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।

अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

महायशस्वी कौसल्या के आनन्द बढ़ान वाले जिस श्रीराम को, स्त्री के कहने से, महाराज दशरथ ने भार्या सहित चौदह वर्ष के लिए वनवास दिया, उस निर्दोष राजकुमार के बारे में और उसके छोटे भाई के विषय में, निष्कण्टक राज्य भोग की

१ न शुध्यते—शुद्धिं न प्राप्नोति । न विश्वसीतियावत् । ( गो० )

२ पाठान्तरे—“नन्दिवर्धनम्” ।

## नवतितमः सर्गः

८७५

इच्छा से, क्या आप उन दोनों का कुछ अनभल तो करना नहीं चाहते ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।

पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया १ ॥ १४ ॥

भरद्वाज जी के ऐसा कहने पर, भरत जी ने दुःखी होने के कारण आँखों में आँसू भर और गद्गद कण्ठ हो कहा ॥ १४ ॥

२हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि ३ मन्यते ।

मत्तो न दोषमाशङ्क नैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! सब कुछ जान कर भी ( भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञाता हो कर भी ) यदि आप ऐसा समझ रहे हैं, तो मेरा जीना वृथा है । मेरा तो इस उपस्थित विपत्ति से कुछ भी लगाव नहीं है । मेरे मन में तो इसकी कभी कल्पना भी नहीं थी । अतः आप मुझसे ऐसे कठोर वचन न कहिए ॥ १५ ॥

[ टिप्पणी—भरद्वाज जी त्रिकालदर्शी ऋषि थे । वे भरत के मन की शुद्धता अशुद्धता योग बल से सहज ही में जान सकते थे—फिर भी उनका भरत को सन्देह दृष्टि से देखना आश्चर्य में डालता है । भरद्वाज जी के यह प्रश्न सर्वथा अनुचित थे । ]

न चैतदिष्टं माता मे यद्वोचत् मदन्तरे ।

नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ४ ॥ १६ ॥

मेरी माता ने भी जो मेरे बारे में महाराज से कहा, वह भी न तो मेरा इष्ट था और न मैं उससे सन्तुष्ट हूँ और न उसका कहना मुझे स्वीकार ही है ॥ १६ ॥

१ संसज्जमानया—स्वतन्त्या । ( गो० ) २ हतोस्मि—व्यर्थजन्मास्मि । ३ भगवानपि—भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञोपीत्यर्थः । ४ नाददे—नाङ्गीकृतवानस्मि । ( गो० )



अहं तु तं नरव्याघ्रमुषयातः प्रसादकः ।

प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

मैं तो उस पुरुषसिंह को प्रसन्न कर, अयोध्या में लौटा लाने तथा उनको प्रणाम करने को जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वं मामेवं गतं मत्वा प्रसादं कर्तुं मर्हसि ।

शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! मेरा इस प्रकार का मनोभिप्राय जान कर, आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे बतावें कि, वे पृथ्वीनाथ राम इस समय कहाँ हैं ? ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।

उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वसिष्ठादि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीरामचन्द्र जी का पता बतलाने की प्रार्थना की, तब भगवान् भरद्वाज जी भरत की बातों से प्रसन्न हो बोले ॥ १९ ॥

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।

१ गुरुवृत्तिर्दमश्चैव २ साधूनां चानुयायिता ३ ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम्हारा जन्म सुप्रसिद्ध रघुकुल में हुआ है । अतः बड़ों के कहने में चलना, इन्द्रियों का निग्रह और साधुजनों का अनुगामी होना—ये तीनों बातें तुम में होनी ही चाहिए ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।

अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्त्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

१ गुरुवृत्तिः—ज्येष्ठानुवर्तनं ( गो० ) २ दमः—इन्द्रियनिग्रहः । ( गो० ) ३ साधूनांचानुयायिता—चिन्तितानुवर्तनं । ( गो० )

यद्यपि योगद्वारा मैं जानता था कि, तुम्हारा ऐसा मनोगत भाव है, तथापि लोगों के सामने प्रकट होने पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाय और इसके द्वारा तुम्हारी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो, इस अभिप्राय से मैंने तुमसे वैसा प्रश्न किया था ॥ २१ ॥

[टिप्पणी—महर्षिका भरत जो का वाग्वाणों से आहत करने का यह कारण, सन्तोषजनक नहीं है । ]

जाने च रामं<sup>१</sup> धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।

असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित धर्म के जानने वाले श्रीरामचन्द्र, जहाँ रहते हैं, मुझे मालूम है। वे इस समय चित्रकूट नामक महापर्वत पर वास करते हैं ॥ २२ ॥

श्नस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।

एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं<sup>२</sup> कामार्थकोविद<sup>३</sup> ॥ २३ ॥

हे इष्टप्रद याचना करने वाले का अभीष्ट पूरा करने वाले कोविद ! आप कल वहाँ जाना। आज मंत्रियों सहित यहीं ठहरिए। आपको मेरी यह बात अवश्य माननी होगी ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः

४प्रतीतिरूपौ भरतोऽब्रवीद्वचः ।

चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे

निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

इति नवतितमः सर्गः

१ रामजाने—देशविशेषस्थितं रामजानमित्यर्थः । ( गो० ) २ कामं—अभीष्ट । ( गो० ) ३ कामार्थकोविदः—कौन्तितार्थप्रदानदक्षेत्यर्थः । ( गो० ) ४ प्रतीतिरूपः—प्रसिद्धकीर्तिः । ( गो० )



जब भरद्वाज ने इस प्रकार कह, तब उदारमना एवं यशस्वी राजकुमार भरत जी ने ऋषि का कहना मान, रात भर ऋषि के आश्रम में रहना स्वीकार कर लिया ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## एकनवतितमः सर्गः

—❀—

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।

भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब कैकेयीनन्दन भरत ने वहाँ टिकने का निश्चय प्रकट कर दिया, तब भरद्वाज ने उनको आतिथ्य ग्रहण के लिए निमंत्रण दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद्धरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् ।

पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

तब भरत जी बोले—आप तो अर्घ्य, पाद्य तथा वन के फल मूलों से मेरा यथोचित आतिथ्य कर ही चुके । मैं इससे सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।

जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥

यह सुन भरद्वाज ने मुसक्या कर कहा कि, यह तो मैं जानता हूँ कि, प्रीतिपूर्वक दी हुई किसी भी वस्तु से, तुम प्रसन्न हो जाते हो ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।

मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमहो मनुजाधिप ॥ ४ ॥

किन्तु हे नरनाथ ! मैं तो तुम्हारी समस्त सेना की भी  
पहुँचई करना चाहता हूँ । अतः मुझे जिससे सन्तोष हो, तुमको  
वह करना उचित है ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।

कस्मान्नोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषप्रवर ! तुम अपनी सेना को दूर छोड़, अकेले क्यों  
मेरे पास आए । सेना सहित मेरे आश्रम में न आने का क्या  
कारण है ? ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युवाचेद प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।

ससैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

यह सुन भरत जी ने हाथ जोड़ कर भगद्वाज जी से कहा—  
हे भगवन् ! आप कहीं कुपित न हों—इसी भयसे मैं सेना सहित  
यहाँ नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा च भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा सदा ।

यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनाम् ॥ ७ ॥

राजा हो वा राजपुत्र हो, उसे यही उचित है कि, अपने  
राज्य में बसने वाले ऋषियों के आश्रमों को यत्नपूर्वक बचा दे  
अर्थात् आश्रमों से दूर रहै ॥ ७ ॥

१ विषयेषु तपस्विनां—स्वकीयदेशेषु वर्तमानाऋषयाः । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“तपस्विनः” ।



वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च त्रवारणाः ।

प्रच्छाद्य भगवन्भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

हैं भगवन् ! मेरे साथ बड़े बड़े घोड़े, बहुत से मनुष्य और मतवाले हाथी हैं, जिनके टिकने के लिए बहुत सी जगह अपेक्षित होती है ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषुऽट्जांस्तथा ।

न हिंस्युरिति तेनाहमेकएव समागतः ॥ ९ ॥

वे आश्रम के वृक्षों को, तालाब अथवा कुएँ के जल को, आश्रम की भूमि को और पर्णशाला को कहीं नष्ट न कर डालें, यह विचार कर ही मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ ॥ ९ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।

ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तब महर्षि भरद्वाज जी ने कहा—तुम अपनी सेना को यहीं बुला लो । महर्षि की आज्ञा पा कर, भरत जी ने अपनी सेना वहीं बुलवा ली ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ<sup>२</sup> पीत्वाऽपः परिमृज्य<sup>३</sup> च ।

आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तरं भरद्वाज जी ने अग्निशाला में जा, तीन बार आचमन किआ और यथाविधि मार्जन कर (जल को मंत्र पढ़ते हुए शरीर पर छिड़का ) भरत जी की पहुँचाई करने के लिए विश्वकर्मा का आवाहन किया ॥ ११ ॥

[ टिप्पणी—वह मंत्र था—“अपवित्रः पवित्रो वा”, आदि ]

१ उटजान्—पर्णशालाः । ( गो० ) २ अपःपीत्वा निदिक्षिषः । ( गो० ) “त्रिराचामेत” इति श्रुतेः । ( गो० ) ३ परिमृज्व—यथाविधि मार्जनं कृत्वा । ( शि० )

आह्वये विश्वकर्माणमहं<sup>१</sup> त्वष्टारमेव<sup>२</sup> च ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे सविधीयताम् ॥ १२ ॥

(आवाहन करते समय) वे कहने लगे कि, मैं भरत का आतिथ्य करने के लिए विश्वकर्मा और त्वष्टा का आवाहन करता हूँ। अतः वे आ कर, सेना आदि के लिए पड़ाव आदि बनावें ॥ १२ ॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवाञ्शक्रमुखांस्तथा ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे सविधीयताम् ॥ १३ ॥

मैं भरत की पहुनाई करना चाहता हूँ। अतः मैं तीनों लोकपाल यम, वरुण तथा कुवेर एवं इन्द्रादि देवताओं का आवाहन करता हूँ। वे आ कर पहुनाई की तैयारियाँ करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्स्रोतस एव च ।

पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

पृथिवी और आकाश में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को बहने वाली जो नदियाँ हैं, वे सब आज वहाँ आवे ॥ १४ ॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।

अपराशचोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

वे नदियाँ आ कर कोई तो मैरेय नाम की शराब, कोई सुरा नाम की उत्तम शराब और कोई शीतल और ऊख के रस जैसे मीठे जल को यहाँ बहती हुई प्रकट हो ॥ १५ ॥

१ विश्वकर्मा—सर्वशिल्पकर्ता । (गो०) २ त्वष्टा तु तक्षणेनगृहादि निर्माता । (गो०) त्रीलोकपालन्—यमवरुणकुबेरान् । (गो०)



आह्वये ऽदेवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून् ।

तथैवाप्सरसो ऽदेवीर्गन्धर्वीश्चापि<sup>३</sup> सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वावसु, हाहा, हूहू नामक देवगन्धर्वों को और देव जाति में उत्पन्न गन्धर्वियों को तथा सत्र अप्सराओं का भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

धृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुसाम् ।

नागदन्तां च हेमां च हिमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त धृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुसा, नागदन्ता, हेमा और हिमालयवासिनी ( सोमा ) ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः ।

सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

और इन्द्र की सभा तथा ब्रह्मा की सभा में नाचने वालीं सब अन्य अप्सराओं को भी अच्छे वस्त्र धारण किए हुए, तुम्बुरु के साथ, मैं आवाहन करता हूँ ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यदिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।

दिव्यनारीफलं शश्वत्तत्कौबेरमिहैतु च ॥ १९ ॥

कुबेर का चैत्ररथ नामक, उत्तरकुरु वाला दिव्य वन, जिसके वृक्षों के पत्ते, दिव्य वस्त्र और दिव्यनारी की तरह सुन्दर रूप हैं, यहाँ प्रकट हों ॥ १९ ॥

१ देवगन्धर्वान्—मनुष्यगन्धर्वभिन्नान् । ( गो० ) २ देवीः—  
देवजातीः । ( गो० ) ३ गन्धर्वीः—गन्धर्वजातीः ।

इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।

भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥ २० ॥

विविध भोति के और बहुत से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्यादि  
अन्न, भगवान् चन्द्रदेव यहाँ आ कर तैयार करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि<sup>१</sup> च ।

सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

( वे ) ताजे फूलों की चित्र विचित्र पुष्प मालाएँ, सुरा आदि  
पीने के पदार्थों के और तरह तरह के माँसों को शीघ्र ही प्रस्तुत  
करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना<sup>२</sup> ३युक्तस्तेजसाऽप्रतिमेन च ।

शीघ्रास्वरसमायुक्तं<sup>३</sup> ४तपसा चाब्रवीन् मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुपम और शापानुग्रह समर्थ भरद्वाज मुनि ने  
योगबल और ज्ञानबल से उपयुक्त स्वर और यथाविधि शुद्ध  
वर्णोच्चारण पूर्वक सब का आवाहन किया ॥ २२ ॥

५मनसा ६ध्यायतस्तस्य<sup>६</sup> ७ग्राह्मुखस्य कृताञ्जलेः<sup>७</sup> ।

आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक्पृथक् ॥ २३ ॥

१ पादपप्रच्युतानि—नवानीति भावः (गो०) २ समाधिना—योगेन ।  
(गो०) ३ तेजसा—अनागमेदण्डनसामर्थ्ये च युक्तेन । (गो०) ४ तपसा—  
ज्ञानेन । (गो०) ५ मनसा—अनन्य परेत्यर्थः । (गो०) ६ ध्यायतः—  
निरन्तरचिन्तयतः । (गो०) ७ कृताञ्जलेः—आह्वानमुद्रोक्ताः । (गो०)



भरद्वाज जी के पूर्व की ओर मुख कर बैठ कर आवाहन मुद्रा से, एकाग्रमन हो और कुछ काल तक .अखण्ड निरन्तर चिन्तवन करते ही, वे सब देवता एक एक कर भरद्वाज जी के सामने आ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

मलयं ददुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।

उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः<sup>१</sup> ॥ २४ ॥

उस समय मलय और ददुर पर्वतों को स्पर्श करता हुआ सुखद पवन, शीतल मन्द और सुगन्धयुक्त हो, गरमी को नाश करता हुआ चलने लगा ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्तन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।

दिव्यन्दुदुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवें ॥ २५ ॥

दिव्य मेघों ने पुष्पों की वर्षा की । देवताओं के नगाड़ों का शब्द सब दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा ॥ २५ ॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।

प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

सुखद समीर के झोंकें आने लगे । अप्सरायें नाचने लगीं । देव गन्धर्वों का गाना और वीणाओं की झनकार सुनाई पड़ने लगी ॥ २६ ॥

स शब्दो घां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।

विवेशोच्चारितः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

१ शिवः—शीतलः । (गो०)

## एकनवतितमः सर्गः

८८५

इस प्रकार से मधुर, सम, और लय युक्त शब्द से आकाश,  
भूमि और प्राणियों के कान पूर्ण हो गए ॥ २७ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।

ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

सुनने में मधुर ये शब्द हो ही रहे थे कि, इतने में भरत  
की सेना विश्वकर्मा की कारीगरी देखने लगी ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजना ।

शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैडूर्यसन्निभैः ॥ २९ ॥

उन्होंने देखा कि, वहाँ की भूमि चारों ओर पाँच पाँच योजन  
तक बराबर एकसी और नील वैडूर्य मणियों की तरह चमकीली  
एवं हरी हरी दूब से ढकी हुई है ॥ २९ ॥

तस्मिन् विन्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।

आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषणाः ॥ ३० ॥

और जगह जगह बेल, कैथा, कटहर, विजौरा, आमला और  
आम के वृक्ष फलों से लदे हुए सुशोभित हैं ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।

आजगाम नदी दिव्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

स्वर्गस्थ लोगों के उपभोग के योग्य, उत्तर कुरुदेश से, वहाँ  
एक वन भी खड़ा हो गया। एक दिव्य नदी भी वहाँ बहने  
लगी। इस नदी के उभय तटों पर बहुत से वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्बाधास्तोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥



वहाँ पर सफेदी से पुते अनेक सुन्दर घर, हस्तिशालाएँ और अश्वशालाएँ बनी हुई देख पड़ने लगीं । महल और अटारियों से युक्त भङ्गल रूपी मनोहर तोरण द्वार (काटक) देख पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।

दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुद्भितम्<sup>१</sup> ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद वन्दनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की मालाओं से सुशोभित सुवासित जल से छिड़के हुए अनेक राजभवन वहाँ देख पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

चतुरश्रसम्बाधं<sup>२</sup> शयनासनयानवत् ।

दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं<sup>३</sup> दिव्यभोजनवस्त्रवत्<sup>४</sup> ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे । कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिहीन चाँबल आदि अन्न और मिहीन कपड़े भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्न धौतनिर्मलभाजनम् ।

कृतस्रसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पूड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथा मंजे धुले साफ बरतन रखे हुए थे । यथास्थान पूजन

१ समुद्भित—सिक्त । (गो०) २ चतुरश्रच—चतुष्कोण । (गो०)  
३ असम्बाधं—विशाल । (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशाल्यन्नादीनि । (गो०) ५ दिव्यवस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि । (गो०) ६ उपकल्पितानि—सर्वान्नानि नानाविधा पूषादीनि यस्मिंस्तत् । (गो०)

एकनवतितमः सर्गः

८८७

करने के लिये आसन बिछे हुए थे। सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं कोमल विस्तरे बिछे हुए थे ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।

वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम सामग्री से भरे पूरे घर में, कैकयीनन्दन महाबाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनुजगमुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।

बभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

भरत जी के पीछे मन्त्री तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी बनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये ॥ ३८ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।

भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत<sup>१</sup> राजवत्<sup>२</sup> ॥ ३८ ॥

उस घर में राजाओं के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीप दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे। मन्त्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन की प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायामिप्रणम्य च ।

बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥ ३९ ॥

(उस राजसिंहासन पर मानों श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन को प्रणाम कर उसका पूजन किया ॥ तदनन्तर एक छोटा पट्टा हाथ में ले भरत

१ अभ्यवर्तत—प्रदिशं कृतवान् । ( गो० )



वहाँ पर सफेदी से पुते अनेक सुन्दर घर, हस्तिशालाएँ और अश्वशालाएँ बनी हुई देख पड़ने लगीं । महल और अटारियों से युक्त भङ्गज रूपी मनोहर तोरण द्वार (काटक) देख पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।

दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुद्भितम्<sup>१</sup> ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद वन्दनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की मालाओं से सुशोभित सुवासित जल से छिड़के हुए अनेक राजभवन वहाँ देख पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

चतुरश्रसम्बाधं<sup>२</sup> शयनासनयानवत् ।

दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं<sup>३</sup> दिव्यभोजनवस्त्रवत्<sup>४</sup> ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे । कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिहीन चाँबल आदि अन्न और मिहीन कपड़े भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्न धौतनिर्मलभाजनम् ।

कृत्स्नसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पूड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथा मंजे धुले साफ बरतन रखे हुए थे । यथास्थान पूजन

१ समुद्भित—सिक्त । (गो०) २ चतुरश्रच—चतुष्कोण । (गो०)  
३ असम्बाधं—विशाल । (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशाल्यन्नादीनि । (गो०) ५ दिव्यवस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि । (गो०) ६ उपकल्पितानि—सर्वान्नानि नानाविधा पूषादीनि यस्मिंस्तत् । (गो०)

एकनवतितमः सर्गः

८८७

करने के लिये आसन बिछे हुए थे। सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं कोमल विस्तरे बिछे हुए थे ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।

वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः केकयीसुतः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम सामग्री से भरे पूरे घर में, कैकेयीनन्दन महाबाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनुजगृह्य च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।

बभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

भरत जी के पीछे मन्त्री तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी बनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये ॥ ३८ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।

भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत<sup>१</sup> राजवत्<sup>२</sup> ॥ ३८ ॥

उस घर में राजाओं के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीप दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे। मन्त्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन की प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।

वाल्लव्यजनमादाय न्यपीदत्सचिवासने ॥ ३९ ॥

(उस राजसिंहासन पर मानों श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन को प्रणाम कर उसका पूजन किया ॥ तदनन्तर एक छोटा पट्टा हाथ में ले भरत

१ अभ्यवर्तत—प्रदिशं कृतवान् । ( गो० )



जी राजसिंहासन के नीचे मन्त्री के बैठने योग्य एक आसन पर बैठ गए ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—इससे स्पष्ट है कि भरत जी मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्रकार राज्य लेने को तैयार न थे और राज्य का अधिकारी अपने बड़े भाई श्रीगम ही को मानते थे ]

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।

ततः सेनापतिः<sup>१</sup> पश्चात्प्रशास्ता<sup>२</sup> च निषेदतुः ॥ ४० ॥

उनके बैठते ही मंत्री, पुरोहित, सेनापति और शिविर-नियन्ता (छावनी का शासक अर्थात् कैटोंमेंट मेजिस्ट्रेट) ये सब भी यथा-क्रम अपने अपने स्थानों पर बैठ गए ॥ ४० ॥

ततस्तत्र<sup>३</sup> मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः ।

उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

सब लोगों के बैठ चुकने के थोड़ी ही देर बाद, भरद्वाज मुनि की आज्ञा से, गाढ़ी गद्दी खीर की नदियाँ वहाँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तासामुभयतः कूलं पाण्डुमृत्तिकुलेपनाः ।

रम्याश्चावसथा दिव्या ब्रह्मणस्तु प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

भरद्वाज के अनुग्रह से, उन नदियों के दोनों तटों पर, अनेक रमणीय एवं अच्छे सफेद कलई से पुते, घर देख पड़ने लगे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।

आगुर्विशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उस समय चतुर्मुख ब्रह्मा की भेजी हुई बढ़िया बढ़िया पोशाक और गहनों से सजी हुई, बीस हजार स्त्रियाँ वहाँ आईं ॥ ४३ ॥

१ सेनापतिः—दण्डनायकः । (गो०) २ प्रशास्ता—शिविरनियन्ता । (गो०) ३ मुहूर्तेन—अल्पकालेन । (गो०)

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।

आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर बीस ही हजार स्त्रियाँ, जो सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूंगों से अपने शरीर को सजाए हुए थीं और जिन्हें कुबेर ने भेजा था, वहाँ आईं ॥ ४४ ॥

याभिर्गृहीतः<sup>१</sup> पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।

आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥

नन्दनवन से आई हुई बीस हजार अप्सराएँ ऐसी सुन्दरी थीं कि, जिस पुरुष को वे आलिङ्गन करतीं, वह पुरुष काम-वशवर्त्ती हो पागल सा देख पड़ने लगता था ॥ ४५ ॥

नारदस्तुम्बुरुर्गोपप्रवराः सूर्यवर्चसः ।

एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

सूर्य के तुल्य तेजस्वी और गन्धर्वराज कहलाने वाले नारद, तुम्बुरु और गोप नामक गन्धर्व भरत के सामने जा, गाने लगे ॥ ४६ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।

उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

भरद्वाज जी की आज्ञा से अलंबुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना नाम की अप्सराएँ, भरत के आगे जा कर नाचने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि मान्यानि देवेषु यानि चैन्नरथे वने ।

प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा<sup>२</sup> ॥ ४८ ॥

१ गृहीतः—आलिङ्गितः। (गो०) २ तेजसा—प्रभावेन । (गो०)



जो फूल देवताओं के बगीचों में और चैत्ररथ नामक देव वन में फूलते हैं, वे सब महर्षि भरद्वाज के तप के प्रभाव से प्रयाग में देख पड़ते थे ॥ ४८ ॥

बिन्वा मार्दङ्गिका आसन् कास्यग्राहाः विभीतकाः ।

अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

महर्षि भरद्वाज के तपोबल से, बेल के पेड़ों ने पखावाजियों का, बहेड़े के पेड़ों ने मजीरे बजाने वालों का और पीपल के वृक्षों ने नाचने वालों का रूप धरा ॥ ४९ ॥

ततः सरलतालाश्च तिलका नक्तमालकाः २ ।

प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाऽथ वामनाः ॥ ५० ॥

इनके अतिरिक्त देवदारु, ताल, क्षुरक, करंज के पेड़ हर्षित हो, कुबड़े और बौने का रूप धर वहाँ उपस्थित हुए (विदूषक—भाँड़ बन कर) ॥ ५० ॥

शिशुपामलकीजम्बो याश्चान्याः काननेषु ताः ।

मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ॥ ५१ ॥

शोशम, आँवला, जामुन के पेड़ तथा वन की मालती, मल्लिका आदि लताएँ, ॥ ५१ ॥

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् × ।

सुराः सुरापाः पिवत पायसं च बुभुक्षिताः ॥ ५२ ॥

स्त्रियों का रूप धर भरद्वाज के आश्रम में जा पहुँची और पुकार पुकार कर लोगों से कहने लगीं, हे मद्य पीने वाले ! तुम मदिरा पियो ! हे भूख के सताए लोगो ! तुम खीर खाओ ॥ ५२ ॥

१ सरलाः—देवदारुविशेषाः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“आसव्श-म्याग्राहां ।” ? पाठान्तरे—“ऽवदन्” ।

मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यावदिच्छथ ।

उच्छाद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु ॥ ५३ ॥

अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ।

संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः ॥ ५४ ॥

सुन्दर और खाने योग्य मांस जितनी जिसकी इच्छा हो उतना खाओ । एक एक पुरुष को सात सात आठ आठ स्त्रियाँ मिल कर तेल की मालिश कर मनोहर नदियों के तटों पर स्नान करातीं और अनेक बड़े बड़े नेत्र वाली स्त्रियाँ, पुरुषों के शरीरों को मलती और दबाती थीं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ।

हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरमेः<sup>१</sup> सुतान् ॥ ५५ ॥

जब वे स्नान कर चुकते, तब कितनी ही सुन्दर स्त्रियाँ मिल कर उनके गीले शरीर को पोंछती थीं और उनको अमृत तुल्य शरबत पिलाती थीं । घोड़ों, हाथियों, खच्चरों, ऊँटों और बैलों को ॥ ५५ ॥

[टिप्पणी—बादशाही जमाने में “हम्माम” इसी का अनुकरण था । प्राचीन कालीन भारतीय सभ्यता का यह अपूर्व नज़ारा था ।]

अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ।

इक्षूश्च मधुलाजाश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ।

नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः ॥ ५७ ॥

उनके रखवाले दाना चारा यथाविधि खिला रहे थे । इनमें इक्ष्वाकुवंशीय प्रधान योद्धाओं की सवारी के जो पशु थे, उनके

१ सुरमेः सुतान्—वृषभान् । ( गो० )



महाबली मालिकों ने ऊख की गड़ेरियां और मीठी खीलें उनके खाने के लिए भेजी थीं, जो उनको खिलाई जा रही थीं। सईस ब चरकटे। अपने अपने घोड़ों और हाथियों को पहचान तक न सके ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मत्तप्रमत्तमुदिता चमूः सा तत्र सम्बभौ ।

तर्पिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूषिताः ॥ ५८ ॥

क्योंकि उस समय वह सेना नशा पी कर मतवाली हो आनन्द में मग्न हो रही थी। सब लोग इच्छानुसार तृप्ति लाभ कर लाल चन्दन शरीर में लगाए ॥ ५८ ॥

अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदैरयन् ।

नैवायोध्यां गमिष्यामी न गमिष्याम दण्डकान् ॥ ५९ ॥

और अप्सराओं से। रमण कर, मतवालों जैसी बातें कहने लगे थे। वे कहते अब हम न तो यहाँ से अयोध्या ही जाँयगे और न दण्डकवन ही जाँयगे ॥ ५९ ॥

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ।

इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ॥ ६० ॥

भरत जी भी मौज करें और श्रीरामचन्द्र जी भी सुखपूर्वक वन में रहें। पैदल सैनिक, चरकटे और सईस भी ॥ ६० ॥

अनाथास्तं<sup>१</sup> विधिं<sup>२</sup> लब्ध्वा वाचमेतामुदैरयन् ।

सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते<sup>३</sup> नरास्तत्र सहस्रशः ॥ ६१ ॥

१ अनाथाः—स्वतंत्रा इति । (गो०) २ तंविधिं—सत्कारं । (गं०)

३ विनेदुः—जगर्जुः । (गो०)

भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ।

नृत्यन्ति स्म हसन्ति स्म गायन्तिस्म च सैनिकाः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार की पहुनई से, स्वतन्त्र हो, ऊँटपटाँग बकने लगे थे । भरत जी की सेना के हजारों आदमी अतिशय हर्षित हो, यह कह कर गर्ज रहे थे कि, बस—‘यही स्वर्ग है’ । सैनिकों में कोई कोई तो नाच रहे थे और कोई हँस रहे थे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

समन्तात्परिधावन्ति माल्योपेताः सहस्रशः ।

ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ॥ ६३ ॥

हजारों सैनिक मालाएँ पहिने हुए, इधर उधर दौड़ रहे थे । यद्यपि अमृत समान स्वादिष्ट भोजन कर, वे लोग तृप्त हो गए थे ॥ ६३ ॥

दिव्यानुद्रीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद्भक्षणे मतिः ।

१ प्रेष्याश्चेत्यश्च २ बध्वश्च ३ बलस्थाश्च सहस्रशः ॥ ६४ ॥

तथापि उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख, उनकी इच्छा बार बार भोजन करने की होती थी । उस सेना में जो सहस्रों दास दासियाँ और सिपाहियों की स्त्रियाँ थीं ॥ ६४ ॥

बभूवुस्ते भृशं दृप्ताः सर्वे चाहतवाससः ४ ।

कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोश्वाश्च मृगपक्षिणः ॥ ६५ ॥

वे सबकी सब नये नये वस्त्र धारण कर अत्यन्त गर्वीली हो गई थीं । हाथी, खच्चर, ऊँट, बैल, मृग घोड़े और पक्षी (सैनिक लोग अपने पालतू मृग पक्षी अपने साथ ले गए थे) ॥ ६५ ॥

१ प्रेष्याः — परिचारकाः । ( गो० ) २ चेत्योदास्यः । ( गो० ) ३ बध्वोयोधाङ्गनाः । ( गो० ) ४ अहतवाससः — नूतनवस्त्राः ( गो० )



बभ्रुः १ सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ।

नाशुकलवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा ॥ ६६ ॥

सब के सब मुनि के दिए हुए पदार्थों से अघाए हुए थे । किसी को अपनी आवश्यकता की कोई वस्तु स्वयं जुटानी न पड़ी । उस समय भरत की सेना में मैले कपड़े पहने अथवा भूखा अथवा मैला कुचैला ॥ ६६ ॥

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ।

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः ॥ ६७ ॥

अथवा धूलधूसरित केशों वाला एक भी आदमी नहीं देख पड़ता था । वहाँ बकरों और शूकरों के माँसों के तथा अन्य अच्छे अच्छे व्यञ्जनों के ढेरों से, ॥ ६७ ॥

फलनिर्व्यूहसंसिद्धैः स्रुपैर्गन्धरसान्वितैः ।

पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ॥ ६८ ॥

ददृशुर्विस्मितास्तत्र नगलौहीः सहस्रशः ।

बभ्रुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ॥ ६९ ॥

जो फलों के रसों में बनाए गए थे; हींग, लौंग, जीरा आदि सुगंधित मसालों से छोंकी हुई दालों से और अत्युत्तम प्रकार के भातों से भरीं, सहस्रों ऐसी कढ़ाइयों को, जिनमें शोभा के लिए फूलों की झंडियाँ लगाई गई थीं—देख देख कर, लोग चकित हो रहे थे । उस पाँच योजन घेरे में जितने कुएँ थे, वे सब गाढ़ी गाढ़ी खीर से भरे हुए थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

१ सुभृताः—सुवृत्ताः । ( गो० ) २ निष्ठानवरसंचयैः—व्यञ्जनश्रेष्ठ समूहैः । ( गो० )

ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुसूतः ।  
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ॥ ७० ॥

प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ।

१ पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ॥ ७१ ॥

जितनी गौवं थी, वे कामधेनु के समान, जो मांगो सो देती थीं । जितने वृक्ष थे, वे सब शहद चुआ रहे थे । कुण्ड या बात्रली मैरेय नाम की शराब से भरी हुई थी । हिरन, मोर और मुर्गे के अच्छी तरह पकाए और साफ किए हुए मांस के ढेर लगे हुए थे । अन्न भरने के लिए हजारों बरतन थे और भोज्य पदार्थों को रखने के लिए लाखों थाल थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

[टिप्पणी—मांस मदिरा की भरमार देख. पाठक चौंके नहीं । यह राजसी पहुँचाई थी । राजसी भोजन में मांस मदिरा का आदर होता ही है]

न्यबुद्धानि च पत्राणि ४ शातकुम्भमयानि च ।

स्थाल्यः कुम्भ्यः कार्मभ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः ॥ ७२ ॥

दस करोड़ सोने के थाल और कलसे थे तथा थाली, लुटियाँ दही रखने के (कलई किए) बरतन जिनमें दही भरा हुआ था- वहाँ मौजूद थे ॥ ७२ ॥

५ यौवनस्थस्य गौरस्य ६ कपित्थस्य ७ सुगन्धिनः ।

हृदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ॥ ७३ ॥

१ पात्रीणां—अन्नधानकुम्भीनां । (गो०) २ स्थालीनां—व्यञ्जन-पात्राणां । (गो०) ३ नियुतानि—लक्षाणि । ४ पात्राणि—भोजनपात्राणि ५ यौवनस्थस्य—नातिनूतनस्य नातिपुराणस्येत्यर्थः । (गो०) ६ गौरस्व-शुभ्रस्य । (गो०) ७ कपित्थस्य—तक्रस्य । (रा०) ।



बभूवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च सञ्चयाः ।

कल्कांश्चूर्णकषायाश्च स्नानानि विविधानि च ॥ ७४ ॥

बहुत से बरतनों में कुछ देर का तैयार किया हुआ सफेद (सादा) मट्ठा भरा हुआ था, बहुत में जीरा लौंग सोंठ आदि सुगन्धित मसालों से युक्त मट्ठा भरा हुआ था । वहाँ के अनेक-कुण्डों में शिखरन, दही दूध भरा हुआ था । चीनी की ढेरियाँ देख पड़ती थीं । स्नानोपयोगी विविध प्रकार के सूखे उबले तथा मसालों के काथ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ।

१ शुक्लान्शुमतश्चापि दन्तधावनसञ्चयान् ॥ ७५ ॥

नदियों के घाटों पर बरतनों में भरे हुए लोगों ने देखे । (घाटों पर) साफ और कूची बनी हुई, दंतों के ढेर लगे थे ॥ ७५ ॥

शुक्लाश्चन्दनकल्कांश्च २ ४ समुद्गोष्ववतिष्ठतः ।

दर्पणान्परिमृष्टांश्च वाससां चापि सञ्चयान् ॥ ७६ ॥

घिसा हुआ सफेद चन्दन कटोरों में भरा हुआ रखा था । साफ दर्पणों और कपड़ों के ढेर लगे थे ॥ ७६ ॥

पादुकोपानहां चैव युग्मानि च सहस्रशः ।

५ आञ्जनीः ६ कङ्कतान्कूर्वांश्चाणि च धनूषि च ॥ ७७ ॥

खड़ाउओं और जूतों की हजारों जोड़ियाँ रखी थीं । सुरमा दानियाँ, कंधे, ब्रुश, छत्र, धनुष ॥ ७७ ॥

१ शुक्लान्—निर्मलान् । (गो०) २ अंशुमतः—कूर्चवतः । (गो०)

३ चन्दनकल्कान्—चन्दनपट्टान् । (गो०) ४ समुद्गोषु—संपुटकेषु )

(गो०) ५ आञ्जनीः—अञ्जनयुक्ताः वररिडकाः । (गो०) ६ कङ्कतान्—केश-

मार्जनान् । (गो०)

१ मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ।

प्रतिपानहृदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम् ॥ ७८ ॥

कवच तथा तरह तरह की बैचें और स्टूल कुर्सीयाँ यथास्थान सजा कर रखी हुई थीं । खाए हुए अन्न को पचाने के लिए औषधि रूपी जल (सोडावाटर, लेमेनेड आदि) से भरे हुए कुण्ड भी थे । गधे, ऊँट हाथी और घोड़े ॥ ७८ ॥

अवगाह्य सुतीर्थाश्च हृदान सोत्पलपुष्करान् ।

आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखस्रवान् ॥ ७९ ॥

जहाँ सुख से उतर कर स्नान कर सकें अथवा जल पी सकें ऐसे घाटों वाले तथा फूले हुए कमल के फूलों से भरे आकाश की तरह निर्मल जल से पूर्ण अनेक तालाव भी थे ॥ ७९ ॥

नीलवैडूर्यवर्णाश्च मृदून्यवससश्चयान् ।

निर्वापार्थान्पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ८० ॥

नील और वैडूर्य मणियों के रंग जैसे रंग की कोमल घास की ढेरियाँ लगी थीं और जगह जगह पशुओं के विश्राम के लिए स्थान देख पड़ते थे ॥ ८० ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।

दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तादृग्भरतस्य महर्षिणा ॥ ८१ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने भरत जी की पहनाई के लिए जो ये सब स्वप्न सदृश चमत्कार-पूर्ण तैयारियाँ की थीं, इनको देख देख भरत के साथ वाले लोग विस्मित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

१ मर्मत्राणानि — कवचादीनि । (गो०)



इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तते ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह, भरद्वाज के रमणीय आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना ने वह रात बिताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।

भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होते ही सब नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि से विदा हो, अपने अपने स्थानों को चली गई ॥ ८३ ॥

तथैव सत्ता मदिरोत्कटा नराः

तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः

तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः

पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः प्रमदिताः ॥ ८४ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी वे सब मतवाले लोग वैसे ही गर्बीले और मदमत्त थे और उसी प्रकार शरीर में चन्दन लगाए हुए थे । तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प, जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देख पड़ते थे अर्थात् न तो कुम्हलाए थे और न तो उनकी शोभा नष्ट हुई थी ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक्यानबेबाँ सर्ग समाप्त हुआ

## द्विनवतितमः सर्गः

—:८:—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।

कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम<sup>१</sup> ह ॥ ॥

अपने परिवार के लोगों और साथियोंसहित भरत जी, भरद्वाज जी की ऐसी राजसी ठाठ की पहुँचाई में वह रात बिता, सबेरा होते ही, राम दर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास विदा माँगने गए ॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम् ।

हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥ ॥

पुरुषसिंह भरत को हाथ जोड़े अपने सामने खड़ा देख, अग्निहोत्र सम्बन्धी नई विधि विधान को पूरा कर, भरद्वाज जी ने उनसे कहा ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।

समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! यह तो मुझे बतलाओ कि मेरे आश्रम में पिछली रात सुख से तो कटी ? तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आतिथ्य से भली भाँति मन्तुष्ट तो हैं ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।

आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जब आश्रम से बाहिर आए, तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया और बोले ॥ ४ ॥

१ कासात्—रसप्राप्तीच्छया । ( गो० )



इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तते ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह,  
भरद्वाज के रमणीय आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना  
ने वह रात बिताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।

भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होते ही सब नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि  
से बिदा हो, अपने अपने स्थानों को चली गई ॥ ८३ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नराः

तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः

तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः

पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः प्रमदिताः ॥ ८४ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी वे सब मतवाले लोग वैसे ही  
गर्बीले और मदमत्त थे और उसी प्रकार शरीर में चन्दन लगाए  
हुए थे । तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प,  
जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर  
भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देख पड़ते थे अर्थात् न तो कुम्हलाए थे  
और न तो उनकी शोभा नष्ट हुई थी ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का प्रक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ

## द्विनवतितमः सर्गः

—:८:—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।

कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम<sup>१</sup> ह ॥ ॥

अपने परिवार के लोगों और साथियोंसहित भरत जी, भरद्वाज जी की ऐसी राजसी ठाठ की पहुँचाई में वह रात बिता, सबेरा होते ही, राम दर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास विदा माँगने गए ॥ १ ॥

तमषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम् ।

हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥ ॥

पुरुषसिंह भरत को हाथ जोड़े अपने सामने खड़ा देख, अग्निहोत्र सम्बन्धी नई विधि विधान को पूरा कर, भरद्वाज जी ने उनसे कहा ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।

समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! यह तो मुझे बतलाओ कि मेरे आश्रम में पिछली रात सुख से तो कटी ? तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आतिथ्य से भली भाँति मन्तुष्ट तो हैं ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।

आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जब आश्रम से बाहिर आए, तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया और बोले ॥ ४ ॥

१ कामात्—रसप्राप्तीच्छया । ( गो० )



सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः ।

तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो बलवत्स्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! मैं अमात्यों और सेना सहित इस आश्रम में सुख से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय वृत्त किया ॥ ५ ॥

अपेतकलमसन्तापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।

अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अच्छे अच्छे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किए । रास्ते में जो थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम ।

समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । अब आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये अर्थात् मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।

आचक्ष्व कतमो मार्गः क्रियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! यह बतलाइए कि, उन महात्मा धार्मिक श्रीराम-चन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिए कौनसा मार्ग सीधा और सगल है ॥ ८ ॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् ।

प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

---

१ बलवत्तर्पितः - अतीवतर्पितः । ( गो० )

भरत जी का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा रखने वाले भरत से, महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज जी बोले ॥ ६ ॥

भरतार्धतृतीयेषु<sup>१</sup> योजनेष्वजने वने ।

चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत ! यहाँ से अढ़ाई योजन के अन्तर पर टूटेफूटे पत्थरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

[ टिप्पणी—५४ सर्ग के २८ वे श्लोक में राम को महर्षि ने अपने आश्रम से चित्रकूट 'दशक्रोश' बतलाया था—अब भरत को अढ़ाई योजन । ]

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।

पुष्पितद्रुमसंलब्ध्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ मन्दाकिनी नदी बहती है । इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटञ्च पर्वतः ।

तयो पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तात ! उसी से मिला हुआ, चित्रकूट पर्वत है । उसी पर्वत पर तुम एक पर्णकुटी में दोनों भाइयों को निश्चय ही बास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव व ।

गजवाजिरथाकीर्णा वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥

१ आर्यतृतीययोजनेषु—साप्य<sup>१</sup> मोजनद्वयेतीने इत्यर्थः । ( गो० )



सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः ।

तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो बलवत्स्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! मैं अमात्यों और सेना सहित इस आश्रम में सुख से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय वृत्त किया ॥ ५ ॥

अपेतकलमसन्तापाः सुभिन्नाः सुप्रतिश्रयाः ।

अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अच्छे अच्छे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किए । रास्ते में जो थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम ।

समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । अब आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये अर्थात् मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।

आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! यह बतलाइए कि, उन महात्मा धार्मिक श्रीराम-चन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिए कौनसा मार्ग सीधा और सरल है ॥ ८ ॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् ।

प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

१ बलवत्तर्पितः - अतीवतर्पितः । ( गो० )

भरत जी का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा रखने वाले भरत से, महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज जी बोले ॥ ६ ॥

भरतार्धतृतीयेषु<sup>१</sup> योजनेष्वजने वने ।

चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत ! यहाँ से अढ़ाई योजन के अन्तर पर टूटेफूटे पथरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

[ टिप्पणी—५४ सर्ग के २८ वे श्लोक में राम को महर्षि ने अपने आश्रम से चित्रकूट 'दशकोश' बतलाया था—अब भरत को अढ़ाई योजन । ]

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।

पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ मन्दाकिनी नदी बहती है । इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः ।

तयो पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तात ! उसी से मिला हुआ, चित्रकूट पर्वत है । उसी पर्वत पर तुम एक पर्णकुटी में दोनों भाइयों को निश्चय ही बास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव व ।

गजवाजिरथाकीर्णा वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥

१ आर्यतृतीययोजनेषु—सायण<sup>१</sup> मोजनद्वयेतीने इत्यर्थः । ( गो० )



वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।

प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! हे वाहिनीपते ! यमुना के दक्षिण वाले मार्ग से कुछ दूर जाने वाले दो मार्ग मिलेंगे । आप दहिनी ओर वाले मार्ग से हाथी, घोड़ों से युक्त अपनी सेना को यदि ले जाओगे तो तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन हो जायगा । प्रस्थान करने का विचार सुन महाराज दशरथ की रानियों ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

हित्वा धानानि यानार्हा ब्राह्मणपर्यवारयन् ।

वेषमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गहिता ॥ १६ ॥

अपनी अपनी सवारियाँ छोड़ दीं और जो रानियाँ सदा सवारी पर ही चला करती थीं, वे पैदल चल कर आईं और भरद्वाज को घेर कर खड़ी हो गई । उनमें से थरथर काँपती हुई दीन और दुर्बल महारानी कौसल्या ने सुमित्रा सहित, भरद्वाज जी के पैर छुए । तदनन्तर असफल मनोरथ और लोक-निन्दिता ॥ १५ ॥ १६ ॥

कैकेयी तस्य जग्राह चरणौ सव्यपत्रपाः ।

त प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने लज्जित हो, महर्षि के चरण छुए और उन ऐश्वर्यवान् महर्षि की परिक्रमा कर ॥ १७ ॥

अद्राद्भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।

ततः पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः ॥ १८ ॥

दुःखित चित्त हो, भरत जी के निकट जा खड़ी हुई। तब  
 दृढभ्रतधारी भरद्वाज ने भरत से पूँछा ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातृणां तव राघव ।

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

हे भरत ! मैं तुम्हारी माताओं का परिचय जानता हूँ। जब  
 धार्मिक भरद्वाज ने यह पूँछा ॥ १९ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्य वचनकोविदः ।

यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकशिताम् ॥ २० ॥

तब बात कहने में चतुर भरत जी ने हाथ जोड़ कर कहा—  
 हे भगवन् ! जो यह दीन, शोक और उपवास के कारण  
 दुर्बल ॥ २० ॥

पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।

एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

मेरे पिता की पटरानी तथा देवता के समान देख पड़ती  
 हैं, यही उन पुरुषसिंह एवं विक्रमयुक्त सिंह की तरह चलने  
 वाले ॥ २१ ॥

कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिय था ।

अस्या वामभुजं श्लिष्टा यैषा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥

राम को प्रसव करने वाली कौसल्या हैं। जैसे अदिति  
 ने प्रजापति को उत्पन्न किया था वैसे ही इन्होंने नरश्रेष्ठ श्रीराम  
 को उत्पन्न किया है और इनकी बाईं भुजा से लपटी हुई (अर्थात्  
 सहस्र लिये हुए) जो उदास खड़ी हैं ॥ २२ ॥



कणिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ।

एतस्यास्तु सुता देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ॥ २३ ॥

उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ।

और जो कनेर वृक्ष की पुष्पहीन शाला की तरह देख पड़ती हैं, देवताओं के समान दोनों वीर एवं सत्यपराक्रमी राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी (सुमित्रा) हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीनवाशमितो गतौ ॥ २४ ॥

राजापुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ।

क्रोधनामकृतप्रज्ञां हृतां १ सुभगमानिनीम् ॥ २५ ॥

हे मुनि ! जिसकी करतूत से उन दोनों पुरुषसिंहों का जीवन सङ्कट में पड़ा हुआ है तथा महाराज दशरथ पुत्रवियोग जनित शोकके कारण स्वर्गवासी हुए हैं; वह यही क्रोधना स्वभाव वाली, बुद्धिहीन गर्वीली अपने को सुभगा मानने वाली ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् २ ।

ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य प्राप्ति की चाह रखने वाली और असती हो कर भी अपने को सती समझने वाली, इस निष्ठुरा और पापिन कैकेयी को आप मेरी माता जानिए ॥ २६ ॥

१ सुभगमानिनीम्—सुभगासुन्दरीमात्मानमन्यत इति । २ आर्य-रूपिणी—सतीमिव प्रतिभासमानां । ( रा० )

यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महात्मनः ।

इत्युक्त्वा नरशादूलो वाष्पगद्गदया गिरा ॥ २७ ॥

स निशश्वास ताम्राक्षो नागः क्रुद्ध इव श्वसन् ॥ २८ ॥

इसीके कारण मुझको इस महादुःख में पड़ना पड़ा है । यह कह पुरुषसिंह भरत जी गद्गद वाणी हो और लाल नेत्र कर, क्रुद्ध हुए नाग की तरह जोर से साँसे लेने लगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा ॥

प्रत्युवाच १महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवत् ॥

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ॥ २९ ॥

तब भावी को जानने वाले महर्षि भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख, भरत जी से यह युक्तियुक्त वचन कहे—हे भरत ! तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ ॥ २९ ॥

[ टिप्पणी भरत जी ने बड़े कड़े शब्दों में अपनी जननी कैकेयी की भर्त्सना करते हुए उसका परिचय दिया है । भरत जैसे सुशील एवं धार्मिक व्यक्ति को सब लोगों की दृष्टि से गिराने वाली कैकेयी के पापकर्म को देखते हुए भरतजी के ये उद्गार अनुचित नहीं कहे जा सकते । तथापि भरद्वाज जी को इन वचनों को सुन जोश हुआ था । इसी से उन्होंने भरत को ऐसे शब्द कहने को मना किया है ! ]

रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदकं २ भविष्यति ।

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥ ३० ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चल कर सुख-प्रद होगा । देखो, देव, दानव और बड़े बड़े महर्षियों की ॥ ३० ॥

महाबुद्धिः—भाविः । (गो० ) २ सुखोदकम्—सुखोत्तरं । (गो०)



हितमेव भविष्यद्वि रामप्रव्राजनादिह ।

अभिवाद्य तु संसिद्धः<sup>३</sup> कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र के वनगमन से भलाई ही होगी । यह सुन, भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर, उनकी परिक्रमा की ॥ ३१ ॥

आमन्त्र्य<sup>१</sup> भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत् ।

ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान् ॥ ३२ ॥

अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून् बहुविधो जनः ।

गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः<sup>३</sup> पताकिनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर भरत जी ने महर्षि से विदा माँग प्रस्थान करने के लिए तैयारी करने की सेना को आज्ञा दी । भरत जी की आज्ञा पा कर सब सैनिक घोड़ों पर तथा सुनहले रथों पर सवार हो, यात्रा करने लगे । सोने की जंजीरों से कसी हुई अंवारियों से तथा पताकाओं युक्त हथिनियों और हाथियों पर, वे लोग सवार हुए ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः<sup>४</sup> सम्प्रतस्थिरे ।

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ॥ ३४ ॥

प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरेव पदातयः ।

अथ<sup>५</sup> यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३५ ॥

३ संसिद्धः—लब्धाशीर्वादः । ( गो० )

१ आमन्त्र्य—आप्रच्छय । (गो०) २ गजकन्याः—करेणवः । (गो०) ३ हेमकक्ष्याः—हेममयवन्धनरज्जवः । (गो०) ४ सघोषाः—घण्टाघोषयुक्ताः । (गो०) ५ यानप्रवेकैः—यानोत्तमैः । (गो०)

जिस प्रकार वर्षा के अन्त में बादलों की गड़गड़ाहट होती है, उसी प्रकार हाथियों और हथिनियों के चलते समय, उनकी पीठ पर लटकते हुए घंटों का शब्द हो रहा था। इनके अतिरिक्त बड़ी छोटी तथा बहुमूल्य और भी बहुत सों अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं जिन पर सवार हो लोग चले जाते थे। जो पैदल चला करते थे, वे पैदल ही खाना हो गए थे। तदनन्तर कौसल्यादि रानियाँ उत्तम उत्तम सवारियों में बैठ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ।

चन्द्रार्कतरुणाभार्सा नियुक्तां शिविकां शुभाम् ॥ ३६ ॥

आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ।

सा प्रयाता महासेना गजवाजिरथाकुला ।

दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जो का देखने को इच्छा से प्रसन्न होती हुई चली जाती थीं। सूर्य अथवा चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त पालकी में बैठ सपरिवार भरत जी चले जाते थे। हाथी घोड़ों से युक्त वह महासेना वहाँ से दक्षिण दिशा को, मेघ की घटा की तरह ढकती हुई, वहाँ से आगे चली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।

गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥ ३८ ॥

उस समय वह सेना हिरनों और पक्षियों से भरे हुए वनों को तथा भागीरथी गङ्गा के पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और नदियों को मक्काती हुई, चली जाती थी ॥ ३८ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियोधा

वित्रासयन्ती मृगपक्षिसङ्गान् ।



महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना

रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ३६ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

उस सेना के हाथी और घोड़े बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे, किन्तु वनवासी मृग पक्षीगण इस सेना को देख कर भयभीत हो रहे थे । उस समय भरत जी की वह सेना, वन में प्रवेश कर, बड़ी शोभित हुई ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का बानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

तथा महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।

अर्दिता यूथरा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

जब उस महासेना ने वन में होकर, प्रस्थान किया ; तब वनवासी मतवाले यूथपति हाथी पीड़ित हो, अपने अपने यूथे (मुँडो) को साथ ले, चारों ओर भागने लगे ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च रुरवश्च समन्ततः ।

दृश्यन्ते वनराजीषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

नदियों के तटों पर, पर्वतों के शिखरों पर तथा वनों में रीछ, चित्तल आदि वनवासी जन्तु विकल होकर इधर उधर भागते हुए देख पड़े ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः ।

वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन महात्मा भरत जी गर्जन करती हुई विशाल  
चतुरंगिणी सेना के साथ प्रसन्न मन हो चलने लगे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्यु महात्मनः ।

महीं संच्छादयामास प्रावृषि धामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु में मेघमण्डल आकाश को ढक लेता है,  
उसी प्रकार महात्मा भरत जी की सागरोपम सेना, लहरों की तरह  
छमड़ती हुई, पृथिवी को आच्छादित करती चली जाती थी ॥ ४ ॥

तुरङ्गौघैरवतता वारणैश्च महजवैः ।

अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन् काले बभूव भूः ॥ ५ ॥

वहाँ की भूमि उन घोड़ों और बड़े बड़े हाथियों से ऐसी ढक  
गई थी कि, बहुत देर तक दिखलाई ही नहीं पड़ी ॥ ५ ॥

स यात्वा दूरमध्वानं सुपरिश्रान्तवाहनः ।

उवाच भरतः श्रीमान्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

भरत जी जब बहुत दूर निकल गए, तब वाहनों को थके हुए  
देख वे मन्त्रिश्रेष्ठ वसिष्ठ जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया ।

व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

इस स्थान का जैसा रूप रंग देख पड़ता है और जैसा कि  
इसके विषय में, मैंने सुन रखा है, इससे तो यही जान पड़ता है  
कि, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गए, जो भरद्वाज जी ने  
बतलाया था ॥ ७ ॥

अयं गिरिशिचक्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी ।

एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥



देखिये यह तो चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है और यही वन है जो दूर से नील मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति ।

वारणैरवमृद्यन्ते<sup>१</sup> मामकैः पवतोपमैः ॥ ९ ॥

यही चित्रकूट पर्वत के रमणीय शिखर हैं, जो मेरे पर्वत-सदृश ऊँचे हाथियों द्वारा मर्दित हो रहे हैं (अर्थात् साथ के हाथी उस रमणीयता को नष्ट कर रहे हैं) ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु ।

नीला इवातपापाये<sup>२</sup> तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

यह देखिए, जिस प्रकार वर्षाकाल में सजल श्यानल मेघ मण्डल जल बरसाता है, उसी प्रकार चित्रकूट के वृक्ष, हाथियों की सूँड़ों के आघात से हिल कर, पर्वत के शिखरों पर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १० ॥

किन्नराचरित देशं<sup>३</sup> पश्य शत्रुघ्न पर्वतम् ।

मग्नैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुघ्न ! किन्नरों से सेवित स्थान की तरह, इस चित्रकूट पर्वत को देखो । जिस प्रकार समुद्र में मगर घूमा करते हैं, उसी प्रकार इस पर्वत पर जिधर देखो उधर मृग समूह शोभायमान हो रहा है ॥ ११ ॥

१ अवमृद्यन्ते—भज्यन्ते । (गो०) २ आतपापाये—वर्षाकाले । (गो०) ३ किन्नराचरितदेशं—किन्नराचरितदेशरूपं पर्वतं । (गो०)  
\* पाठान्तरे—“किन्नराचरितोदेशः ।

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः ।

वायुप्रविद्धा शरदि मेघराजिरिवाम्बरे ॥ १२ ॥

शरत्काल में जिस प्रकार वायु के वेग से प्रेरित मेघसमूह आकाश में सुशोभित होता है उसी प्रकार हमारी सेना से प्रेरित हो यह मृगसमूह शोभायमान हो रहा है ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति १कुसुमापीडाञ्जिरःसु सुरमी नमी २ ।

मेघप्रकाशैः ३फलकैर्दक्षिणात्या यथा नराः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दक्षिणी लोग अपने मस्तकों को फूल की मालाओं से सजाया करते हैं—उसी प्रकार हमारे सैनिकों ने कुसुम के गुच्छों से अपने मस्तक सजा लिए हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम् ।

अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

हे शत्रुत्र ! देखो यह भयानक वन पहले कैसा साँय साँय करता था किन्तु इस समय मेरी सेना की भोड़भाड़ से यह अयोध्या जैसा मालूम पड़ता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुदिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।

तं बह्वयनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

घोड़ों के सुमों और बैजों के खुरों से उड़ाई हुई धूल आकाश में छा जाती है। किन्तु पवन उसे शीघ्र ही हटा देता है, मानों आँखों के सामने की स्कावट दूर कर, ( राम की पणशाला दिखा कर ) मुझे प्रसन्न करना चाहता है ॥ १५ ॥

१ कुसुमापीडान्—कुसुमशेखरान् कुर्वन्ति । ( गो० ) २ अभी—भटाः ( गो० ) ३ मेघप्रकाशैः—फलकैः केशवन्धविशेषैः । ( गो० )



स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्सूतमुख्यैरधिष्ठितान् ।

एतान् सम्पततः<sup>१</sup> शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, ये घोड़े सारथी सहित रथों को लिए हुए इस वन में कैसे तेजी से दौड़े चले जा रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् ।

एतमाविशतः शीघ्रमधिवासं पतत्रिणः<sup>२</sup> ॥ १७ ॥

यह देखो, सुन्दर और बड़े पर वाले मोर डर के मारे दौड़ कर इस पर्वत पर अपने निज स्थानों को कैसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मा ।

तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथो<sup>३</sup> यथा ॥ १८ ॥

हे अनघ ! तपस्वियों के रहने का यह स्वर्ग जैसा स्थान, मुझे बड़ा मनोहर जान पड़ता है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता<sup>४</sup> वने ।

मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

बहुत से चित्तीदार नरहिरन अपनी मादाओं के साथ घूमते हुए कैसे सुन्दर मालूम पड़ते हैं, मानों फूलों से इनकी चित्र विचित्र रचना की गई है ॥ १९ ॥

१ सम्पततः—सम्यग्गच्छतः । (गो०) २ पतत्रिणः प्रशस्तपक्षानि-  
तिवर्हिविशेषणं । (गो०) ३ स्वर्गपथोयथा—स्वर्गप्रदेश इव । (गो०)

४ पृषताः—विन्दुमृगाः । (गो०)

१ साधुसैन्याः प्रतिष्ठन्तां२ विचिन्वन्तु च कानने ।

यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

योग्य सैनिक वन में जा कर पता पावें जिससे वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम लक्ष्मण जिस जगह रहते हों वह स्थान मिल जाय ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।

विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं३ ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरत जी का ऐसा वचन सुन, अपने अपने शस्त्रों के हाथ में लिए हुए वीरों ने वन में प्रवेश किया और कुछ ही दूर जा कर, एक स्थान पर उन्होंने धूमशिखा देखी ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः ।

नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धूमशिखा को देख, उन लोगों ने लौट कर, भरत जी से कहा, इस स्थान में मनुष्य को छोड़ अग्नि कौन जला सकता है। अतः जान पड़ता है, वे दोनों भाई यहाँ रहते हैं ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परन्तपौ ।

अन्ये४ रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

यदि शत्रुदमनकारी पुरुषसिंह श्रीराम तथा बलवान् लक्ष्मण न भी हों, तो श्रीराम के समान कोई अन्य तपस्वी यहाँ रहते हैं ( अर्थात् यदि श्रीराम न भी हों तो वहाँ चलने से श्रीराम के रहने के स्थान का पता तो अवश्य ही चल जायगा ) ॥ २३ ॥

१ साधुसैन्यः—उचिताः सैनिकाः । (गो०) २ प्रतिष्ठन्तां—गच्छन्त्यत्यर्थः (गो०) ३ धूमाग्रं—धूमाशिखां । (गो०) \* पाठान्तरे—“मन्ये”



तच्छ त्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।

सैन्यानुवाच सर्वास्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

शत्रुओं के बल को मथन करने वाले भरत जी, उन सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुन, उन सब से कहने लगे ॥ २४ ॥

यत्ताः भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।

अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च ॥ २५ ॥

अच्छा तो अब आप लोग यहीं ठहरे रहिए । यहाँ से आगे न बढ़िए । सुमन्त्र और गुरु वसिष्ठ जी को साथ ले, मैं ही आगे जाऊँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे तत्र तस्थुः समन्ततः ॥

भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधे ॥ २६ ॥

जब भरत जी ने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे सब उसी पर इधर उधर ठहर गए । तदनन्तर भरत जी ने उस ओर देखा, जिस ओर धुआं उठता दिखलाई पड़ता था ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः

निरीक्षमाणाऽपि च धूममग्रतः ।

बभूव हृष्टा न चिरेण जानती ।

प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

उस समय भरत जी के कहने से वे सब सैनिक वहीं टिक रहे और उस धुएँ को उठते देख, वे जान गए कि, अब परम प्रीति

१ यत्ताः—निःशब्दाः । (गो०) \* पाठान्तरे—“समादधौ” “समादधात्” ।

चतुर्नवतितमः सर्गः

६२५

भाजन श्रीरामचन्द्र जी के साथ समागम होने पर बहुत विलम्ब नहीं है। यह विचार कर, वे हर्षित हो गए ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—❀—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:०:—

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवनप्रियः ।

वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥

अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् ।

भार्याममरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः ॥ २ ॥

उपर श्रीरामचन्द्र जी को उस पर्वत पर रहते बहुत दिन हो चुके थे। वे सीता का तथा अपना मन बहलाने के लिए, सीता को चित्रकूट की शोभा दिखला रहे थे। उस समय उन दोनों की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र और इन्द्राणी की होती है ॥ १ ॥ २ ॥

न राज्याद्भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।

मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे भद्रे ! इस रमणीय पर्वत की शोभा देखने से, राज्यनाश एवं सुहृद्वियोगजन्य दुःख मुझे अब नहीं सताता ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानोद्विजगणायुतम् ।

शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥



हे भद्रे ! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण, और गगनस्पर्शी एवं तरह तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत की शोभा तो देखो ॥ ४ ॥

केचिद्रजतसङ्काशाः केचित्क्षतजसन्निभाः ।

पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन् मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के कोई कोई शृङ्ग तो चाँदी जैसे सफेद और चमकीले हैं और कोई कोई रक्त की तरह लाल हैं, कोई कोई पील और मजीठ के रंग जैसे जान पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों की प्रभा जैसे चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पाकर्कशकेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।

विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

इस पर्वत के धातुओं से विभूषित शृङ्ग पुष्पराग, स्फटिक केतकी और पारे के समान रंगवाले और नक्षत्रों की तरह चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

नानामृगगणद्वीपितरक्षुक्षगणैर्वृतः ।

द्व्यद्रुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमायुतः ॥ ७ ॥

यद्यपि यह पर्वत अनेक प्रकार के छोटे बड़े व्याघ्रों और रीछों से परिपूर्ण है, तथापि तपस्वियों के तपःप्रभाव से इन भयङ्कर जन्तुओं ने अपना दुष्ट हिंसालु-स्वभाव त्याग दिया है । इस पर्वत पर तरह तरह के पक्षी अपने अपने घोंसले बना कर, निवास कर रहे हैं ॥ ७ ॥

१ क्षतज—रुधिर । ( गो० ) २ अर्कः—स्फटिकः । ( गो० ) ३ केतकाभाः - ईषत्पाण्डुराः । ( गो० ) ४ द्वीपी—महाव्याघ्रः । ( गो० ) ५ तरक्षुः—क्षुद्रव्याघ्रः । ६ द्व्यद्रुष्टैः—हिंसादिदोषरहितैः । ( गो० )

आम्रजम्बवसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।

अङ्गोलैर्मव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥

काश्मर्यरिष्टवरुणैर्मधूकैस्तिलकैस्तथा ।

बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनवीजकैः ॥ ९ ॥

पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।

एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

आम, जामुन, असना, लोध, चिरौजी, कटहर, ढाक, अंकोल, भज्ज, तिनिश, बिल्व, तिन्दुक ( तेंदुआ ) बाँस, काश्मीरी नीम, सखुआ, महुआ, तिलक, बैर, आँवला, कदम्ब, वेत, बिजौरां, नीबू आदि ले कर और अनेक प्रकार के फूल फलों वाले और छायायुक्त मनोहर वृक्षों के समूहों से भरा पुरा यह पर्वत शोभायमान है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् रोमहर्षणान् ।

किन्नरान् द्रुन्द्रशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! इस पर्वत के रमणीय शिखरों पर शरीर पुलकित करने वाले स्थानों को देखो । यहाँ मनस्वी किन्नर लोग अपनी अपनी किन्नरियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान् खड्गान्श्च प्रवराण्यम्बराणि च ।

पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

देखो उन्हींकी ये तलवारें और सुन्दर रंग विरंगे पहिनने के कपड़े वृक्षों की डालियों में लटक रहे हैं । इन विद्याधरों की स्त्रियों के मनोहर क्रीडास्थलों को देखो ॥ १२ ॥



जलप्रपातैरुद्धे दैन्येन्यन्दैश्च क्वचित्क्वचित् ।

स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

स्थान स्थान पर जल के भरने और जमीन से निकले हुए जल के सोते बह रहे हैं । इनसे यह पर्वत मद चुआने वाले गजेन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान् वहन् ।

प्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

पर्वत की कन्दराओं से निकला हुआ नाना पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पवन जो नासिका को तृप्त कर रहा है, वह किसके मन को हर्षित नहीं करेगा ? ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।

लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधक्ष्यति ॥ १५ ॥

हे अनिन्दिते ! यहि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ बहुत वर्षों तक भी मुझे यहाँ रहना पड़े तो भी मुझे जरा सा भी शोक सन्ताप नहीं सतावेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।

विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

हे भद्रे ! अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों से सम्पन्न, अनेक जाति के पक्षियों से परिपूर्ण और विचित्र शिखरों से युक्त यह रमणीय चित्रकूट मुझे बड़ा पसन्द है ( अर्थात् चित्रकूट में रहने से कभी मेरा जी नहीं ऊबेगा ) ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् ।

पितृश्चानृणता धर्मो भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

६१६

इस वनवास से मुझे दो फल मिले । एक तो धर्म सम्बन्धी फल अर्थात् पिता के ऋण से उच्छ्रित होना और दूसरा फल भरत जी को प्रसन्न करना ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह ।

पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्कायसंयतान् ॥ १८ ॥

हे वैदेही ! मेरे साथ चित्रकूट पर्वत पर मन, वचन और देह को वश में करालेने वाले इन विविध साधनों को देख, तेरा मन प्रसन्न होता है कि नहीं ? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं<sup>१</sup> प्राहु राज्ञि राजर्षयः परे ।

वनवासं भवार्थाय<sup>२</sup> प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

हे राज्ञि ! इस प्रकार नियमपूर्वक वनवास राजाओं के लिए मोक्ष का साधन कहा जाता है । यही नहीं बल्कि हमारे मन्वादि पूर्वपुरुषों ने देवादि की देह प्राप्ति के लिए भी, वनवास ही को उत्कृष्ट साधन माना है ॥ १९ ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः ।

बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥ २० ॥

देखो, इस पर्वत की सैकड़ों विशाल शिलाएँ, नीली, पीली, सफेद आदि विविध रंगों की हैं; चारों ओर कैसी शोभा दे रही हैं ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव ।

श्रोषध्यः स्वप्रभालक्ष्या भ्राजमानाः सहस्रशः । २१ ॥

---

<sup>१</sup> अमृतप्राहुः—मोक्षसाधनं प्राहुः । ( रा० ) <sup>२</sup> प्रेत्यभवार्थाय—  
देवादिदेहान्तरपरिग्रहरूपप्रयोजनाय च प्राहुः । ( गो० )



इस पर्वत पर उत्पन्न हजारों वृटियाँ, रात के समय अपनी प्रभा से दीप्त हो, अग्निशिखा की तरह प्रकाश कर, शोभायमान होती हैं ॥ २१ ॥

केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसन्निभाः ।

केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

हे भामिनि ! देखो इस पर्वत पर कोई स्थान तो घर जैसा, कोई फुलवाड़ी जैसा और कोई स्थान एक ही शिला का दिखलाई पड़ता है। ये सभी इस पर्वत की शोभा को बढ़ाने वाले हैं ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।

चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथिवी को फोड़ कर निकला हो। इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा सुहावना जान पड़ता है ॥ २३ ॥

कुष्ठपुन्नागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।

कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥ २४ ॥

हे भद्रे ! कामी लोगों के इन विछौनां को तो देखो। इनके नीचे तो कमलों के पत्ते विछे हैं और पत्तों के ऊपर कूट, पुत्रजीवक और भोजपत्र की छालें बिछी हुई हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः ।

कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

१ स्वास्तरान्—शयनानीत्यर्थः । (गो०)

यह देखो कामी जनों की पहनी हुई और कुम्हलाई तथा त्यागी हुई कमल के फूलों की मालाएँ, इधर उधर पड़ी हैं और उन लोगों के खाए हुए अनेक प्रकार के फल पड़े हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीमत्येतीवोत्तरान् कुरुन् ।

पर्वताश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

विविध प्रकार के कन्द फल और स्वच्छ जल सम्पन्न चित्रकूट पर्वत ने, रमणीयता में कुवेर की अलकापुरी, इन्द्र की अमरावती और उत्तरकुशदेश को मात कर दिया है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजह्मिन्-२

स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन च ।

३रतिं प्रपत्स्ये ४कुलधर्मवर्धनीं

सतां पथि स्वैनियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

हे सीते ! यदि मैं सज्जनों के मार्ग पर स्थित हो, अपने श्रेष्ठ नियमों का पालन करता हुआ, तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ, चौदह वर्षों तक यहाँ रह पाया, तो पीछे प्रजापालन रूपी धर्म को बढ़ाने वाला राज्यसुख मुझे अवश्य प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:~:—

१ अत्येतीव—रमणीयतया अतिक्रामतीव । (गो०) २ विजह्मिन्—विहृतवान् । (गो०) ३ रतिं—राज्यसुखं । ४ कुलधर्मः—प्रजापालनं । (गो०)



# पञ्चनवतितमः सर्गः

—०:०—

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।

अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर कोशलपति श्रीरामचन्द्र जी पर्वत की शोभा दिखाने से निवृत्त हो और पर्वत से निकल निर्मल जल वाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीच्च वरारोहां चारुचन्द्रनिभाननाम् ।

विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली स्त्रियों में श्रेष्ठ जनकतनया से बोले ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।

कमलैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

हे वैदेही ! इस विचित्र तट वाली, रमणीय और हंस सारसादि पक्षियों से सेवित मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।

राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

इस नदी के उभय तट फल फूल वाले अनेक जाति के वृक्षों से परिपूर्ण हैं । उनसे इस नदी की शोभा वैसी ही हो रही है जैसी कि कुवेर की सौगन्धिका नाम्नी नदी की ॥ ४ ॥

१ राजराजस्य—कुवेरस्य । ( गो० ) २ नलिनीं—सौगन्धिक सरसीं । ( गो० )

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।

तीर्थानि रमणीयानि रतिं? संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

इस नदी के सब घाटा बड़े रमणीय हैं। अतः वहाँ जा कर स्नान करने की मेरी इच्छा हो रही है। अभी मृगों के झुंड इन घाटों पर जल पी कर गए हैं। अतः वहाँ का जल गँदला हो रहा है ॥ ५ ॥

जटाजिनधराः काले? वल्कलोत्तरवाससः ।

ऋषयस्त्ववगाहन्ते? नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

हे प्रिये ! देखो, जटा और मृगचर्म धारण किए और वृद्धों की छाल पहिने हुए ऋषि लोग, इस नदी में यथासमय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्ववाहवः ।

एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ४ ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षि ! इस ओर ये सब तीक्ष्ण नियमों का पालन करने वाले मुनिगण नियमानुसार ऊपर को बाँह उठा कर सूर्य भगवान का उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

५मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।

पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

देखो पवन से कम्पित इन वृद्धों के हिलने से यह पर्वत नाचता हुआ सा मालूम पड़ता है। वृद्धों के हिलने से उनके जो

---

१ रतिः—अवगाहनविषयां प्रीतिः । ( गो० ) २ काले—स्वनियमोचितकाले । ( गो० ) ३ अवगाहन्ते—मज्जन्ति । ( गो० ) ४ संशितव्रताः—तीक्ष्णनियमाः । ( गो० ) ५ मारुतोद्धूत शिखरैः—वायुकम्पितशालैः । ( गो० )



पुष्प गिरते हैं उनसे चित्रकूट पर्वत मानों नदी को पुष्पाञ्जलि दे रहा है ॥ ८ ॥

क्वचिन्मणिनिकाशोर्दा क्वचित्पुलिनशालिनीम् ।

क्वचित्सिद्धजनाकीर्णा पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! देखो कहीं तो मन्दाकिनी का जल मणि की तरह उज्ज्वल है, कहीं कहीं रेत शोभा दे रहा है और कहीं कहीं सिद्ध लोगों की भीड़ लगी है ॥ ९ ॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान्पुष्पसञ्चयान् ।

पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥ १० ॥

हे भद्रे ! वायु के झोंकों में नदी के तट पर बिखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो । जो फूल जल में उड़ कर जा गिरे हैं, वे पानी पर कैसे उतरा रहे हैं, उन्हें भी तुम देखो ॥ १० ॥

१ तांश्चातिवल्गुवचसो२ रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।

अधिरोहन्ति कल्याणि विक्रजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

हे कल्याणि ! फूलों के ढेरों पर चढ़े हुए चक्रवाक रति के लिए अपनी मादाओं को बुलाने के हेतु कैसी मधुर बोली बोल रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।

अधिकं पुरवासाद्य मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

हे शोभने ! इस चित्रकूट पर्वत और मन्दाकिनी नदी के देखने से और तुम्हारे साथ रहने से मुझे अयोध्यापुरी में रहने से भी बढ़ कर, यहाँ सुख जान पड़ता है ॥ १२ ॥

१ तान्—पुष्पसंचयान् । ( गो० ) २ वल्गुवचसः—रत्यर्थाह्वानकालिकरम्यवचसः । ( गो० )

विधूतकलुषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।

नित्यविद्धोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

हे सीते ! अब तुम इस मन्दाकिनी नदी में, जिसमें शम, दम और तप से युक्त एवं पापरहित सिद्धलोग नित्य स्नान किया करते हैं, चल कर मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।

कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥ १४ ॥

हे सीते ! तुम जैसे अपनी सखियों के साथ निःशङ्क जलक्रीड़ा करती थीं, वैसे ही मेरे साथ भी इस मन्दाकिनी में लाल सफेद कमल के फूलों को डुवोती हुई जलक्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—लाल सफेद कमल के फूलों से भूषणटीकाकार ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है—

स्तनजघनाघातजनिततरङ्गैरितिभावः

किन्तु शिरोमण्टिकाकार का कथन है कि, क्रीड़ा के लिए लाल सफेद रंग के कमलों से मन्दाकिनी के जल को ढक दो ।

त्वं पौरजनवद्द्व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।

मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

१ नित्यविद्धोभितजलां—सदातत्स्नानेनतत्पादरेणुधन्यामन्दाकिनीं । ( गो० ) २ सखीवच्च—सख्यायथासलिलमवगाहसे तथा मया सह विगाहस्व । ( गो० ) ३ कमलानि—रक्ताब्जानि । ( गो० ) ४ पुष्कराणि—सिताम्भोजानि । ( गो० ) ५ व्यालान्—वनचरान् । ( शि० )



हे प्रिये ! तुम यहाँ के वनवासियों को अयोध्यावासी, इस पर्वत को अयोध्या और मंदाकिनी को सरयू समझो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।

त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥ १६ ॥

हे वैदेही ! यह धर्मात्मा लक्ष्मण मेरे आज्ञाकारी हैं और तुम भी सदा मेरी आज्ञा के अनुसार काम किया करती हो । इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

१ उपस्पृशस्त्रिषवणं २ मधुमूलफलाशनः ।

नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेद्य त्वया सह ॥ १७ ॥

त्रिकाल स्नान और तुम्हारे साथ मधु मूल और फल का भोजन करता हुआ, मैं, अयोध्या के वास की और राज्य की आकांक्षा नहीं करता ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां मृगयूथशालिनीं

निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।

सुपुष्पितैः पुष्पधरैरलंकृतां

न सोऽस्ति यः स्यादगतक्लमः सुखी ॥ १८ ॥

जो गजों के यूथों से युक्त है और जिसका जल हाथी, सिंह और बंदर पिया करते हैं, उस रमणीय एवं सुन्दर पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभित मंदाकिनी नदी का सेवन कर, वह कौन पुरुष है जो दुःखों से छट, सुखी न हो ? ॥ १८ ॥

१ उपस्पृशन्—स्नानं कुर्वन् । ( गो० ) २ त्रिषवणं—त्रिसन्ध्यम् । ( गो० )

षण्णवतितमः सर्गः

६२७

१ इतीव रामो बहुसंगतं२ वचः

प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।

चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं

स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १६ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

रघुवंशवर्द्धन श्रीरामचन्द्र ने सीता जी से मंदाकिनी नदी के सम्बन्ध में इस प्रकार की बहुत सी उत्तम बातें कहीं । तदनन्तर उस रमणीय और नील वर्ण चित्रकूट पर्वत पर सीता को साथ लिए हुए वे विचरने लगे ॥ १६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पञ्चानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षण्णवतितमः सर्गः

—:०:—

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।

निषसाद गिरिप्रस्थे४ सीतां मांसेन च्छन्दयन्५ ॥ १॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सीता को मंदाकिनी नदी की शोभा दिखाकर, पर्वत की एक शिला पर बैठ गए और सीता के बनाए या पकाए ) माँस को स्वादिष्ट बतला, सीता को प्रसन्न करने लगे ॥ १ ॥

१ इतीव—एतादृशं । ( शि० ) २ संगतं—समीचीनं । ( शि० ) ३ नयनाञ्जनप्रभं—नीलवर्णविशिष्टं । ( शि० ) ४ गिरिप्रस्थे—पर्वतैकशि-  
लायाम् । ( शि० ) ५ छन्दयन्—तत्प्रीतिमुत्पादयन् । ( शि० )



इदं मेवमिदं स्वादु निष्टमिदमग्निना ।

एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सीता से कहा—देखो, यह मांस पवित्र है और अग्नि में भूजने से यह स्वादिष्ट हो गया है श्रीरामचन्द्र जी सीतासहित वहाँ बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयागिनः ।

सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभःस्पृशौ ॥ ३ ॥

इतने में उनके पास आती हुई भरत जी की सेना के चलने से उड़ी हुई आकाश को छूती हुई धूल देख पड़ी और कोलाहल सुनाई दिया ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।

अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

उस महाकोलाहल से त्रस्त हो, बड़े बड़े यूथपति गजेन्द्र विकल हो अपने अपने यूथों को ले इधर उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।

तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस सेना के कोलाहल को सुना और हाथियों को भगते हुए देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम् ।

उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन हाथियों को भागते देख और सेना का कोलाहल सुन श्रीरामचन्द्र जी ने तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।

भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमसे पुत्र को पा कर सुमित्रा देवी सुपुत्रवती है । देखो तो, यह भयङ्कर बादल की गड़गड़ाहट जैसे गम्भीर एवं तुमुल शब्द कहाँ सुन पड़ता है ॥ ७ ॥

गजयूथानि वाऽरण्ये महिषा वा महावने ।

वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥

जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के झुंड, जंगली भैंसे और मृगों के झुंड सिंहों सहित भयभीत हो बड़ी तेजी से इधर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा वा राजमात्रो वा मृगयामटते वने ।

अन्यद्वा श्वापदं किञ्चित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है ? अथवा कोई महाभयङ्कर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है ? हे लक्ष्मण ! ज़रा इस बात का पता तो लगाओ ॥ ९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्रायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।

सर्वमेतद्यथातत्त्वमचिराज्ज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत पर अब पक्षी भी तो भली माँति नहीं घूम सकते । अतएव तुम शीघ्र इस बात का ठीक ठीक पता लगाओ ॥ १० ॥



स लक्ष्मणः सन्त्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।

प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वा दिशमुदैक्षत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन लक्ष्मण जी तुरन्त एक फूले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गए और चारों ओर देखते हुए उन्होंने प्रथम पूर्व दिशा की ओर देखा ॥ ११ ॥

तदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।

रथाश्वगजसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर, उन्हें उस ओर एक बड़ी सेना, जिसमें हाथियों घोड़ों, रथों और सजे सजाए पैदल सिपाहियों की भीड़ देख पड़ी ॥ १२ ॥

तामश्वगजसम्पूर्णा रथध्वजविभूषिताम् ।

शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हाथियों घोड़ों से युक्त, रथ की पताकाओं से भूषित, उस सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए, लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।

सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

आप अग्नि बुझा दीजिए, सीता जी से कहिए कि वे गुफा के भीतर जा बैठें और आप कवच पहिन लीजिये तथा धनुष बाणों को सम्हालिए ॥ १४ ॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।

अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुन पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा,  
हे बत्स सौमित्र ! ध्वज चिह्नों को देख यह वो निश्चय करो कि,  
यह सेना है किसकी ? ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।

दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी क्रोध के  
मारे अग्नि के समान हो, उस सेना को मानों भस्म कर डालने  
के लिए यह बोले, ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्त प्राप्याभिषेचनम् ।

आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥

साफ देख पड़ता है कि, कैकेयी का पुत्र भरत राज्याभिषेक  
पा कर भी, अकण्टक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का  
वध करने के लिए आ रहा है ॥ १७ ॥

एष वै सुमहाश्रीमान् वटपी सम्प्रकाशते ।

विराजत्युद्गतस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

देखिए, वह जो बड़ा और खूब हराभरा सुन्दर वृक्ष देख  
पड़ता है, उसके पास जो रथ है, उस पर कचनार वृक्ष के  
आकार की ध्वजा फहरा रही है ॥ १८ ॥

भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।

एते आजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः २ ॥ १९ ॥

---

१ भजन्ति—इमं देशं प्राप्नुवन्ति । ( गो० ) २ सादिनः—गजा-  
रोहाः ( गो० )



बड़े तेज चलने वाले घोड़ों पर चढ़े हुए सवार इधर ही आ रहे हैं और हाथियों के सवार भी हाथियों पर हर्षित हो बैठे हुए हैं ॥ १६ ॥

गृहीतधनुषौ चावां गिरिं वीर श्रयावहै ।

अथ वेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

अब हे वीर ! हम दोनों धनुष बाण ले इस पर्वत पर चढ़ चलें अथवा दोनों जन, कवच पहिन और हथियार ले यहीं खड़े हो जाय ॥ २० ॥

अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे ।

अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥

कोविदार ध्वजा वाले भरत को निश्चय ही हम लोग युद्ध में अपने वश में कर लेंगे । भरत के कारण ही तो यह विपत्ति आई है । आज हम उसे समझ लेंगे ॥ २१ ॥

त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।

यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥

हे रघुनन्दन ! जिसके लिए तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है और जिसके कारण तुम सनातन राज्य से च्युत किए गए हो ॥ २२ ॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे ।

भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

वही भरत शत्रुभाव से आया है । अतः वह मार डालने योग्य है । हे राघव ! भरत के मार डालने में मुझे तो कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणां १ त्यागे न ह्यभर्मो विधीयते ।

पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

क्योंकि पूर्व अपकारी को मार डालने में कुछ भी पाप नहीं लगता । हे राघव ! यह भरत पूर्व में अपकार कर चुका है । अतः इसको मार डालने ही में पुण्य है ॥ २४ ॥

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम् ।

अथ पुत्रं हतं संख्ये २ कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

इसको मार कर आप सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य का उपभोग कीजिए । आश वह कैकेयी जो राज्य पाने की कामना किए हुए है अपने पुत्र को युद्ध में मरा हुआ देखेगी ॥ २५ ॥

मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम् ।

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां ३ सवान्धवाम् ॥ २६ ॥

हाथी के तोड़े हुए वृक्ष की तरह मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख, कैकेयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं उस कैकेयी को भी उसके भावईन्दों और मंथरादि सहित मार डालूँगा ॥ २६ ॥

कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।

अद्येमं संयतं ४ क्रोधमसत्कारं ५ च मानद ॥ २७ ॥

जिससे कि यह पृथिवी उस कैकेयी रूपी महापाप से छुटकारा पा जाय । हे मान के देने वाले ! आज बहुत दिनों के रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किए हुए तिरस्कार को ॥ २७ ॥

१ त्यागे—वधे । ( गो० ) २ संख्ये—युद्धे । ( गो० ) ३ सानुबन्धां—मंथराद्यनुबंधसहितां । ( गो० ) ४ संयतं—स्तम्भितं । ( गो० ) ५ असत्कारं—तिरस्कारं । ( गो० )



मोक्षयामि शत्रुसैन्येषु १ कक्षेष्विव हुताशनम् ।

अद्यैतच्चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

शत्रु की सेना के ऊपर वैसे ही छोड़ूँगा जैसे सुखे तृणों के ढेर पर आग छोड़ी जाती है । आज ही मैं चित्रकूट के वन को अपने तीखे बाणों से ॥ २८ ॥

भिन्दञ्शत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।

शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ।

श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ॥ २९ ॥

शत्रुओं के शरीरों को काट काट कर, उनके शरीरों से निकले हुए रक्त से सींचूँगा । बाण से चीरे हुए हृदय वाले हाथियों, घोड़ों, तथा मेरे मारे हुए मनुष्यों को जंगली जानवर घसीटेंगे ॥ २९ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे ।

ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

इति षण्णवतितमः सर्गः ॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेनासहित भरत का वध कर अपने धनुष और बाणों के ऋण से निस्सन्देह उच्छ्रित हो जाऊँगा ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का छियात्तवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



## सप्तनवतितमः सर्गः

—:००:—

सुसरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्छितम् ।

रामस्तु परिसान्त्वयाथ वचनं चैदमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुपित और लड़ने के लिए उद्यत लक्ष्मण को देख, उन्हें शान्त करने के लिए श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥१॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।

महेष्वासे महाप्राज्ञे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! बड़ा धनुष धारण करने वाले और बड़े पण्डित भरत जब स्वयं आए हैं, तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल तलवार की जरूरत ही क्या है ? ( अर्थात् उनसे तुम जीत नहीं सकते ) ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमागतम् ।

किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

मैं पिता की उस सत्यवाणी को मान कर भी, यदि भरत जी का वध कर, मैं राज्य प्राप्त करूँ भी, तो ऐसे अपवादयुक्त राज्य को ले मैं करूँगा ही क्या ? ॥ ३ ॥

यद्द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।

नाहं तत्प्रतिगृहीयां भक्षान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥

जो धन, बन्धुबान्धवों और इष्टमित्रों का वध करने से प्राप्त हो, उसे मैं तो ग्रहण नहीं कर सकता । क्योंकि मैं तो उसे विष मिले हुए भोजन की तरह त्याज्य समझता हूँ ॥ ४ ॥



धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण !

इच्छामि भवतामर्थ एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुमसे यह बात दावे के साथ कहता हूँ कि, मैं तो केवल अपने भाइयों ही के लिए धर्म, अर्थ, काम अथवा पृथिवी का राज्य चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।

राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य सत्य अपने हथियारों को छू कर, तुमसे कहता हूँ कि, मैं जो राज्य की कामना करता हूँ वह अपने भाइयों के पालन और सुख के लिए ही करता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।

न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! ससागरा पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिए दुर्लभ नहीं, पृथिवी तो है ही क्या ? मैं अधर्मपूर्वक तो इन्द्रपद को भी लेना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।

भवेन् मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

हे मान देने वाले ! तुम्हारे बिना, भरत के बिना और शत्रुघ्न के बिना, मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता हो, उसे अग्निदेव भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।

मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रवाजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।

जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।

द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

मुझे तो यह जान पड़ता है कि, मेरा प्राणप्रिय और भ्रातृ, वत्सल भाई, जब ननिहाल से अयोध्या में आया और हम तीनों का जटा वल्कल धारण कर वन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा इस कुल के धर्म को ( कि बड़े का राज्याभिषेक इस कुल में सदा से होता आया है ) स्मरण कर, हम लोगों से मिलने आया है । उसके यहाँ आने का अन्य कोई अभिप्राय मुझे तो नहीं जान पड़ता है ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

अस्मां च कैकेयीं रुष्य पुरुषं चाप्रियं वदन् ।

प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

( बहुत सम्भव है कि ) अस्मा कैकेयी के ऊपर क्रुद्ध हो और उसको कुछ कठोर वचन कह तथा पिता को मना कर मुझे मनाने को वह आया हो ॥ १२ ॥

१ प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमिच्छति ।

अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

यह उचित ही है कि, भरत आ कर हमसे मिले, परन्तु यह सम्भव नहीं कि भरत हमारे अनिष्ट की कभी कल्पना भी करे ॥ १३ ॥



विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।

ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं योऽत्र शङ्कसे ॥ १४ ॥

क्या भरत ने इससे पूर्व कभी तुम्हारा कुछ अहित किया था जो तुम उसकी ओर से भय की शङ्का कर रहे हो ॥ १४ ॥

न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।

अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

भरत के विषय में ऐसे कठोर और अप्रिय वचन तुम्हें न कहना चाहिए क्योंकि भरत के बारे में जो कुछ तुम खरी खांटी बातें कहोगे या उसका कुछ अहित करोगे तो मानों वह तुमने मुझसे कठोर वचन कहे और मेरा ही अहित किया ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।

आता वा आतरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

हे लक्ष्मण ! जरा सोचो तो । चाहे कैसी भारी विपत्ति क्यों न आन पड़े पिता किसी भी दशा में अपने पुत्र का या भाई प्राण के समान अपने भाई का वध नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।

वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

और यदि तुमने ये सब बातें राज्यप्राप्ति के लिए ही कहीं हों तो मैं भरत से कहकर राज्य तुमको दिलवा दूँगा ॥ १७ ॥

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः ।

राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य कहता हूँ कि, मेरे यह कहते ही कि  
“राज्य इसे दे दो” भरत सिवाय “बहुत अच्छा” कहने के, ना  
तो कभी कहेगा ही नहीं ॥ १८ ॥

ततोक्तो धर्मशीलेन आता तस्य हिते रतः ।

लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने ऐसा कहा, तब उनके हितैषी  
लक्ष्मण जी बहुत लज्जित हुए और सिकुड़ कर ऐसे हो गए, मानों  
शरीर के अंगों में घुसे जाते हों ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।

त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी ने लज्जित हा, यह उतर दिया कि, मुझे  
तो यह जान पड़ता है कि, महाराज दशरथ स्वयं ही तुमको  
देखने आए हैं ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।

एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण को लज्जित देख ( उनकी बात को पुष्ट करते हुए )  
श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मैं भी यही समझता हूँ कि, मेरे पिता  
ही मुझको देखने को यहाँ आए हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।

वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा हम दोनों को सुख में रहने योग्य मान और वन-  
वास के दुःख को स्मरण कर, निश्चय ही वे हमें घर लौटा ले  
जायेंगे ॥ २२ ॥



इमां वाऽप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।

पितामे-राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्याति ॥ २३ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि इस सीता को, जो अत्यन्त सुख पाने के योग्य है, मेरे पिता महाराज दशरथ वन से लौटा कर अपने साथ ले जाँय ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ१ मनोरमौ ।

वायुवेगसमौ वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

यह देखो उत्तम नस्ल के और सुन्दर तथा वायु के समान शीघ्रगामी उनके दोनों घोड़े अब साफ साफ देख पड़ते हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते बाहिनीमुखे ।

नागः शत्रुञ्जयो नाम बृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

देखो, बुद्धिमान पिता जी के चढ़ने का वह बड़े डीलडौल वाला और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी, सेना के आगे आगे भूमता हुआ चला आता है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्र पाण्डुरं ३लोकसत्कृतम् ।

पितुर्दिव्यं महाबाहो संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

किन्तु हे महाबाहो ! पिता जी का लोकोत्तर, दिव्य एवं श्वेत छत्र न देखने से मेरे मन में सन्देह होता है ॥ २६ ॥

१ गोत्रवन्तौ—प्रशन्तनामानौ । यद्वाप्रशस्तकुलप्रसूतौ । ( गो० )

२ वृद्धः—उन्नतः । ( गो० ) ३ लोकसत्कृतं—लोकोत्तरं । ( ग.० )

वृत्ताग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।

इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम मेरा कहा मान वृत्त से उतर आओ ।  
जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस प्रकार  
कहा ॥ २७ ॥

अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स भ्रमितिञ्जयः ।

लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

तब युद्धविजयी लक्ष्मण उस शाल के पेड़ से उतर और  
हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी के निकट एक ओर आ खड़े  
हुए ॥ २८ ॥

भरतेनापि संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति ।

समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

बधर भरत जी ने सेना वालों को यह आज्ञा दी कि यहाँ  
श्रीरामाश्रम में किसी प्रकार की गड़बड़ या भीड़ भाड़ न होने  
पावे । यह कह उन्होंने ने उस पर्वत के चारों ओर सेना टिका  
॥ २९ ॥

अध्यर्धमिदवाकुचमूर्धोर्जनं पर्वतस्य सा ।

पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिरथाकुला ॥ ३० ॥

हाथियों घोड़ों से पूरा वह सेना पहाड़ के चारों ओर छः  
कोस के घेरे में टिक रही ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटेः भरतेन सेना

धर्म पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।

---

१ चित्रकूटे—चित्रकूट समीपे । ( गो० )



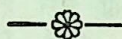
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य

विराजते नीतिमता प्रणीता? ॥ ३१ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

नीतिमान् भरत ने धर्ममार्ग से श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिए अपना अहङ्कार त्यागा और चित्रकूट पर्वत के पास सेना ला कर टहरा दी ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां? वरः ।

अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तिनम्❀ ॥ १ ॥

प्राणधारियों मैं श्रेष्ठ और गुरु की शुश्रूषा करने वाले भरत जी सेना को इस भाँति टिका कर श्रीरामचन्द्र से मिलने के लिए पैदल चले ॥ १ ॥

निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत् ।

भरतो भ्रातर वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

भरत जी के आज्ञानुसार जब सेना ठहर गई तब भरत जी ने शत्रुघ्न से कहा, ॥ २ ॥

१ प्रणीता—आनीता । ( गो० ) २ पादवतांवरः—चग्राणिनां-श्रेष्ठः । ( रा० ) ३ गुरुवर्तिनं—गुरुशुश्रूषापरम् । ( रा० ) ❀ पाठान्तरे—“गुरुवर्तकम् ।”

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसङ्घैः समन्ततः ।

लुब्धैश्च<sup>१</sup> सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम शीघ्र इन सब लोगों को और इन वहेलियों को साथ ले, इस वन में चारों ओर घूम फिर कर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम का पता लगाओ ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिधारिणा ।

समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

गुह भी अपने सहस्रों जाति वालों को साथ ले और तीर कमान एवं तलवार धारण कर (वन के जानवरों से आत्म-रक्षार्थ) स्वयं भी उन दोनों को खोजें ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।

वन सर्वं चरिष्यामि पट्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं स्वयं भी इन मंत्रियों, पुरवासियों गुरुओं और ब्राह्मणों को साथ ले पैदल ही सारे वन को मक्काऊंगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।

वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

मैं जब तक श्रीरामचन्द्र जी को, महाबली लक्ष्मण को और महासौभाग्यवती सीता की न देख लूंगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसङ्काशं द्रक्ष्यामिशुभमाननम्<sup>२</sup> ।

भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> लुब्धैः--व्याधैः । (गो०) \* पाठान्तरे—“यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।”



जब तक मैं चन्द्रमा के समान और कमलनयन बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के प्रसन्नमुख के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ७ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।

शिरसा धारयिष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जब तक मैं भाई के राजचिह्नों से युक्त चरणयुगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा, तब तक मेरा मन शान्त न होगा ॥ ८ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।

अभिषेकजलक्विल्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

जब तक राज्य करने योग्य राम के उस पितृपितामह के राज्य पर अभिषेक के जल से आर्द्र ( भीगे ) न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।

मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षे महाद्युति १० ॥

धन्य है लक्ष्मण, जो राम के उस निर्मल चन्द्रोपम महाद्युति युक्त एवं कमल सदृश नेत्र वाले मुख को, देखा करता है ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।

भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या याऽनुगच्छति ॥ ११ ॥

महाभाग्यवती जानकी जी धन्य हैं, जो ससागरा पृथिवी के स्वामी अपने पति की अनुगामिनी हैं ॥ ११ ॥

सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः ।

यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुवेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

हिमालय पर्वत के समान यह चित्रकूट पर्वत भी धन्य है । क्योंकि इस पर राम उसी प्रकार वास करते हैं, जिस प्रकार कुवेर चैत्ररथ वन में ॥ १२ ॥

कृतकर्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम् ।

यदध्यास्ते महातेजा रामः शस्त्रभृतांवरः ॥ १३ ॥

यह वन जो सर्पों से भगा होने के कारण, दुर्गम है, कृतार्थ हुआ क्योंकि इसमें शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ, राम रहते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरुषर्षभः ।

पद्भ्यामेव महाबाहुः प्रविवेश महद्वनम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते कहते, महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ भरत ने उस वन में पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।

पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतांवरः ॥ ५ ॥

ढोलने वालों में श्रेष्ठ महात्मा भरत जी पर्वत के शिखरों पर लगे हुए फूले फले वृक्षों के बीच में जा पहुँचे ॥ ५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमासाद्य पुष्पितम् ।

रामाश्रमगतस्याग्नेनर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥



भरत ने वहाँ एक साखू के वृक्ष के ऊपर चढ़ कर श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जलती हुई अग्नि का बहुत ऊँचा उठता हुआ धुआँ देखा ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान्मुमोद ॥ सहबान्धवः ।

अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

तब तो भरत जी अपने बान्धवों सहित हर्षित हुए और वहीं रहते हैं—यह निश्चय कर, मानों समुद्र के पार हो गए ॥ १८ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य

रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ॥

गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम

पुनर्निवेश्यैव चमू महात्मा ॥ १८ ॥

इति अष्टनवतितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उस गिरिराज चित्रकूट पर तपस्त्रियों से सेवित, श्रीरामाश्रम को पा कर, महात्मा भरत जी, गुह को साथ ले और सेना को यथास्थान फिर ठहरा, शीघ्रता से आश्रम की ओर गए ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अष्टानवैवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## एकोनशततमः सर्गः

—:❀:—

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्तदा ।

जगाम आतरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

\* पाठान्तरे—“मुमोह” ।

एकोनशततमः सर्गः

२५७

सेना के टिक जाने पर, भरत जी उत्सुक हो, शत्रुघ्न जी को श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम के चिह्नादि दिखाते हुए, भाई के दर्शन की कामना से चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं सन्दिश्य मातृर्मे शीघ्रमानय ।

इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

भरत ने वसिष्ठ जी से कहा कि आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आइए, ( मैं आगे चलता हूँ ) यह कह गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।

रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

इतने में सुमन्त्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाते देख, स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिए । क्योंकि भरत की तरह सुमन्त्र को भी राम के दर्शन की उत्कण्ठा थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।

आतुः पर्णकुटीं श्रीमानुत्तमं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

भरत जी ने जाते जाते देखा कि, तपस्वियों के आश्रमों के बीच भाई की पर्णकुटी बनी हुई है ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।

१काष्ठानि चावभग्नानि २पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

---

१ काष्ठानि— रात्रौप्रकाशयज्वलनीयानि । ( गो० ) २ पुष्पाणि पूजार्थानि । ( गो० )



भरत जी ने यह भी देखा कि, उम पर्णशाला के सामने ही ( रात में प्रकाश करने के लिए ) दूरी लकड़ियाँ और पूजन के लिए फूल चुन चुन कर रखे हुए हैं ॥ ५ ॥

सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शश्रममीयुषः ।

कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

और आश्रम की पहिचान के लिए आश्रमवासी श्रीराम लक्ष्मण ने कहीं कहीं वृक्षों में कुरा और चोर बाँध कर चिह्न बना दिए हैं ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तमिस्त्वं महतः सञ्चयान् कृतान् ।

मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

भरत जी ने देखा कि, शीत से बचने के लिए अथवा तापने के लिये, मृगों और भैंसों के गोबर के सूखे कंडों का ढेर लगा है ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्धृतिमान् भरतस्तदा ।

शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।

नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

महाबाहु धृतिवान् भरत जी ने च जते चलते प्रसन्न हो अपने सब मंत्रियों और शत्रुघ्न से कहा—जान पड़ता है, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गए हैं जिसे भरद्वाज जी ने बतलाया था । मैं समझता हूँ कि, यहाँ से मन्दाकिनी नदी भी समीप ही है ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।

अभिज्ञानकृतः पन्था १ विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

यहाँ इतनी ऊँचाई पर लक्ष्मण ने चीरों को बाँधा है । यह इस लिए कि, रातविरात में जब लक्ष्मण को पानी लाने के लिए जाना पड़ता होगा, तब इन चीरचिह्नों को देख, वे आश्रम में बिना इधर उधर भटके आ जाते होंगे ॥ १० ॥

इदं चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् २ ।

शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

वेगवान एवं बड़े बड़े दाँतों वाले हाथी जो बड़ा नाद किआ करते हैं, पर्वत के पास यह उन्हींके आने जाने का रास्ता जान पड़ता है ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने ।

तस्यासौ दृश्यते धूमः सङ्कुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

तपस्वी लोग सायंप्रातः होम करने के लिए सदा जिस अग्नि को स्थापित रखा करते हैं, उसी का यह काला काला धुआँ देख पड़ता है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसंस्कारकारिणम् ।

आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टो महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

अतः इसी स्थान पर उस पुरुषसिंह एवं श्रेष्ठ संस्कार करने वाले श्रीराम को, एक हृषयुक्त महर्षि के समान बैठा हुआ, मैं देखूँगा ॥ १३ ॥

१ विकाले—अकाले सायंकालादौ । ( गो० ) २ तरस्विनां—वेगवतां । ( गो० ) ३ गुरुसंस्कारकारिणम्—गुरुसंस्कारः श्रेष्ठसंस्कारः मन्त्रोपदेशादिः तत्कारिणम् ( गो० )



अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।

मन्दाकिनीमनुप्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भरत जी कुछ समय तक आगे चल, मन्दाकिनी नदी के समीप चित्रकूट पर्वत पर जा पहुँचे और शत्रुघ्न आदि अपने साथियों से कहने लगे ॥ १४ ॥

रजगत्यां पुरुषव्याघ्र आसने वीरासने रतः ।

जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

देखो वह पुरुष सिंह और नरेन्द्र हो कर भूमि पर वीरासन से बैठे हैं और इस निर्जनस्थान में रहते हैं। हा ! मेरे जीवन और जन्म को धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।

सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, सब के स्वामी और महाद्युतिमान् राम दारुण दुरवस्था में पड़े हैं और सब प्रकार के सुखयोगों से वञ्चित हो, वन में वास कर रहे हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।

रामस्य निपतिष्यामि सीतायाश्च पुनः पुनः ॥ १७ ॥

इससे मेरी सब में बड़ी बदनामी हुई है ( अतः उस बदनामी को दूर करने के लिए ) मैं बार बार राम और सीता के चरणों पर गिर, उनको प्रसन्न करूँगा ॥ १७ ॥

१ तत्रन — सहागत शत्रुघ्नादिकम् । ( गो० ) २ जगत्यां — भूमौ । ( गो० ) \* पाठान्तरे — “सीताया लक्ष्मणस्य ।”

एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।

ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार वन में विलाप करते हुए भरत जी ने, उस विशाल, पावत्र एवम् मनोहर पर्णकुटी को देखा, ॥ १८ ॥

सालतालाश्रयणीनां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।

विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

जो साखू, ताल और अश्वकण नाम के वृक्षों के बहुत से पत्तों से छाई गई थी और खूब लंबी चांडो और कोमल थी, देखने पर वह ऐसी जान पड़ती, मानों यज्ञवेदी कुशां से ढकी हुई है ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।

रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

उसमें जहाँ तहाँ, इन्द्र के वज्र के समान, युद्ध में बड़े बड़े काम करने वाले और सुवर्णरचित पीठ वाले, बड़े भारी भारी तथा शत्रु को बाधा देने वाले धनुष, टंगे हुए शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्वोरैस्तूणीगतैः शरैः ।

शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

उनके पास ही तरकसों में भरे सूर्य की किरणों के समान चमकीले एवं भयङ्कर वाण शोभा दे रहे थे। मानों चमकीले फलों वाले (मणियुक्त होने के कारण) सर्पों से भोगवती नाम्नी नगरी सुशोभित हो ॥ २१ ॥

१ भारसाधनैः—गुरुतरणकार्यसाधनभूतैः ( गो० )



महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।

रुक्मचिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥ २२ ॥

वहाँ पर दो तलवारें भी रखी थीं, जिनकी सोने की म्यानें थीं और उनके पास ही दो ढालें भी रखी थीं जिन पर सोने के फूल बने हुए थे ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रैः काञ्चनभूषितैः ।

अरिसङ्घैरेनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ कितन ही गोधा के चामक और काञ्चनभूषित तरह तरह के अंगुलित्राण (दस्ताने) भी थे । जिस पर्णशाला में इस प्रकार के शस्त्र रखे थे, वह शत्रुओं द्वारा उसी प्रकार अभेद्य थी, जिस प्रकार सिंह की गुफा, जहरनों के झुंडों के लिए अभेद्य होती है ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।

ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

तदनन्तर भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी के वासस्थान में प्रज्ज्वलित अग्नियुक्त ईशानकोण में अति विशाल एवं पवित्र वेदी देखी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।

उटजे राममासीन जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

भरत जी एक मुहूर्त तक ता पर्णशाला की बनावट और सजावट देखते रहे, तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए और जटाजूट धारण किए हुए बड़े भाई को देखा ॥ २५ ॥

१ महारजतवासोभ्यां—स्वर्णमयकोशाभ्याम् । (गो०) सिंहगुहामिवपर्णशालाददर्शेत्यन्वयः । (रा०)

तं तु कृष्णाजिनधरं चीरवल्कलवाससम् ।

ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

भरत जी ने अग्नि की तरह (दुर्दर्श) श्रीराम को ऊपर से काले हिरन का चाम ओढ़े और कमर पर (धोती की जगह) चीर बल्कल पहिने हुए, कुटी के पास ही बैठा देखा ॥ २६ ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।

पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥

उनकी भुजाएँ घुटनों तक लंबी, उनके कंधे सिंह के कंधों के समान ऊँचे और नेत्र कमल के समान थे। वे ससागरा पृथिवी के स्वामी और साथ ही धर्मचारी भी थे ॥ २७ ॥

उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।

स्थण्डिले दभसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

उनको भरत ने सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर, कुश के आसन के ऊपर, शाश्वत ब्रह्म की तरह, बैठा हुआ देखा ॥ २८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् दुःखशोकपरिप्लुतः ।

अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥

श्रीराम को ( इस प्रकार ) बैठा हुआ देख कैकेयीतन्दन धर्मात्मा भरत, दुःख से विकल हो, उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

---

अभितः—समीपे । ( रा० )



दृष्ट्वैव विललापातों वाष्पसन्दिग्धया गिरा ।

अशक्नुवन्धारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र को देखते ही भरत जी का कण्ठ अति दुःखित होने के कारण गद्गद हो गया और वे विलाप करने लगे । उस दुःख के वेग को रोकना यद्यपि उस समय उनके लिए कठिन था तथापि किसी प्रकार धैर्य धारण कर, वे बोले ॥ ३० ॥

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्तः उपासितुम् ।

वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हाय ! जो राजसभा में बैठ मंत्रियों द्वारा उपासना किए जाने योग्य हैं वह मेरा बड़ा भाई, आज वन्यमृगों द्वारा उपासित हो, बैठा है । अर्थात् जो श्रीरामचन्द्र राजसभा में मंत्रियों के बीच बैठने योग्य हैं, वे वनजन्तुओं के बीच बैठे हुए हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।

मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

जो कितने ही हजारों के मूल्य वाले वस्त्र धारण करने योग्य हैं, वे महात्मा मेरे ज्येष्ठ भ्राता धर्माचरण के लिए हिरन का चाम ओढ़े हुए ( यहाँ ) रह रहे हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद्यो विविधाश्विन्नाः सुमनसस्तदा ।

सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

१ संसदि—सभायां । ( गो० ) २ युक्तः—अर्हः । ( गो० ) ३ बहुसाहस्रैः—बहुसहस्रमूल्यैः । ( गो० )

जो सदा तरह तरह के चित्र विचित्र पुष्पों की मालाएँ धारण करत थे, वही श्रीराम आज इस जटाभार को किस-प्रकार सहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथोद्दिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।

शरीरक्लेशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

जिसको ऋषि द्वारा यथाविधि किए गए यज्ञों से पुण्यसञ्चय करना उचित था वह श्रीराम अपने ही शरीर को कष्ट दे कर पुण्यसञ्चय कर रहा है ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्योद्गुणसेवितम् ।

मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

जिसके शरीर में बाँढ़या चन्दन का लेप किया जाता था, उस मेरे ल्येष्ट भ्राता का शरीर देखो तो कैसा मैला हो रहा है ॥ ३५ ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।

धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, सुखों का उपभोग करने वाले श्रीराम यह कष्ट भोग रहे हैं ! हा ! मुझ नृशंस और लोकनिन्दित मेरे इस जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।

पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत, दुःखी थे । उनका मुख-कमल पसीने से तर था । उन्होंने चाहा कि, दौड़ कर श्रीराम



चरणों में गिरें, किन्तु वहाँ तक न पहुँच, वे रो कर बीच ही में मूर्छित हो गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःस्वाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।

उक्तवार्येऽति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ ३८ ॥

उस समय दुःखसन्तप्त और कातर होने के कारण, महाबली राजकुमार भरत केवल एक बार “आर्य” शब्द का उच्चारण कर, फिर और कुछ न बोल सके ॥ ३८ ॥

बाष्पापिहितकण्ठश्च प्रक्षय रामं यशस्विनम् ।

आर्येत्येवाथ संक्रुश्य व्याहत् नाशकत्ततः ॥ ३९ ॥

क्योंकि यशस्वी श्री राम को देख कर, भरत जी का कण्ठ रुद्ध हो गया था । वे केवल “आर्य;” कह कर ही वाक्शक्ति-रहित से हो गए ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।

तावुभौ स समालिङ्ग्य रामश्चाश्रूयवर्तयत् ॥ ४० ॥

रोते हुए शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को प्रणाम किया । तब श्रीरामचन्द्र जी इन दोनों भाइयों को छाती से लगा, स्वयं रोने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव

समीयतू राजसुतावरण्ये ।

दिवाकरश्चैव निशाकरश्च

यथाऽम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

\* पाठान्तरे—“त्तदा” ।

तदनन्तर सुमित्र और गुह भी श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी से मिले। मानों आकाश में सूर्य और चन्द्र, शुक और बृहस्पति से मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान्पार्थिवान् वारणयूथपाभान्

समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।

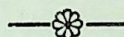
वनौकसस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वे-

ऽप्यश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

उस समय हाथियों पर सवारी करने योग्य, इन राजकुमारों ( श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ) को उस महावन में पैदल आए हुए देख वहाँ के वनवासी भी दुःखी हो, रोने लगे ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का निन्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



शततमः सर्गः

—:o:—

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।

ददर्श रामो दुर्दृशं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

जटाजूट धारण किए और चीर पहिने श्रीराम ने, भरत जी को हाथ जोड़, पृथिवी पर पड़ा हुआ देखा। मानों प्रलय कालीन दुर्दर्श सूर्य तेजहीन हो पृथिवी पर पड़ा हुआ हो ॥ १ ॥



कथञ्चिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।

आतरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना ॥ २ ॥

बड़ी कठनाई से विवर्ण मुख और अत्यन्त दुबले पतले भाई भरत को पहिचान, श्रीराम ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठाया ॥ २ ॥

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः ।

अङ्गे भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीराम ने उनके मस्तक को सूँघ, उनको छाती से लगाया और उनको अपनी गोदी में बिठा, सावधानतापूर्वक उनसे ये बातें पूँछी ॥ ३ ॥

क नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।

न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आए हो ? ( क्योंकि ) उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य वत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।

ऽदुष्प्रतीकमरणेऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

बड़े खेद की बात है कि, बहुत दिनों बाद और बहुत दूर से चल कर आने के कारण विवर्ण मुख एवं कृश भरत को मैं कठिनाई से पहिचान पाया । हे भाई ! तुम इस वन में किस लिए आए हो ? ॥ ५ ॥

कञ्चिद्धारयते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।

कञ्चिद् दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

१ दुष्प्रतीक—वैवर्ण्यादिनादुर्ज्ञेयावयवं । ( गो० )

शततमः सर्गः

६५६

हे भाई ! तुम जो यहाँ आए हो सो यह तो कहो कि, पिता जी तो सज्ज में हैं । कहीं शोक से विकल हो, महाराज अचानक लोकान्तरित तो नहीं हुए ॥ ६ ॥

कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।

कच्चिच्छुभ्रूपसे तात पितरं सत्यविक्रमम् ॥ ७ ॥

हे सौम्य तुम अभी बालक हो, सो कहीं उस सनातन राज्य में तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई ? हे सत्याविक्रम ! तुम पिता की सेवा तो भली भाँति करते हो ॥ ७ ॥

कच्चिदशरथो राजा कुशली ? सत्यसङ्गरः ।

राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चयः ॥ ८ ॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने वाले, धर्म में निश्चित बुद्धि रखने वाले, एवं सत्यप्रतिज्ञ महाराज तो स्वस्थ हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।

इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥

क्या उस विद्वान् एवं महातेजस्वी ब्राह्मण का, जो नित्य धर्मकार्यों में तत्पर रहता है और इक्ष्वाकुकुल का उपाध्याय है, यथावत् मत्कार किया जाता है ॥ ९ ॥

सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।

सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

हे तात ! माता कौसल्या और सुपुत्रवती माता सुमित्रा तो प्रसन्न हैं ? और परमश्रेष्ठा देवी कैकेयी तो आनन्द से हैं ? ॥ १० ॥

१ कुशली—अनामयः । ( गो० )



कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो<sup>१</sup> बहुश्रुतः ।

अनसूयुरनुद्रष्टा<sup>२</sup> सत्कृतस्ते<sup>३</sup> पुरोहितः<sup>४</sup> ॥ ११ ॥

हे तात ! विनम्र अनुभवी, सत्कुलोत्पन्न एवं असूयारहित और समस्त सत्कर्मानुष्ठानों में निपुण हमारे हमजोली और पुरोहित वसिष्ठ जी के पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न ? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।

हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते<sup>५</sup> सदा ॥ १२ ॥

अग्निहोत्र के कार्य में नियुक्त, हवन की विधियों को साङ्गोपाङ्ग जानने वाला, मतिमान् और सरल स्वभाव पुरोहित, हवनकाल उपस्थित होते पर, तुमको सदा सूचना देता रहता है कि नहीं ? ॥ १२ ॥

कच्चिद्देवान् पितृ भूमातृ गुरुन् पितृसमानपि ।

वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

हे तात ! देवताओं, पितरों, माताओं, गुरुओं, और पिता के समान पूज्य बड़े बूढ़ों, वैद्यों और ब्राह्मणों को सब तरह से तुम मानते हो न ? ॥ १३ ॥

द्विषस्त्रैवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।

सुधन्वानमुपाध्यायं<sup>६</sup> कच्चिच्चं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

१ कुलपुत्रः—सत्कुलप्रसूतः । ( गो० ) २ अनुद्रष्टा—सकल सत्कर्म निपुणः । ( शि० ) ३ ते तव सवयस्कः । ( शि० ) ४ पुरोहितः—वसिष्ठपुत्रः । ( शि० ) ५ वेदयते—तुभ्यंज्ञापयति क्वचित् । ( गो० ) ६ द्विषवः—अमंत्रकावाणः । ( गो० ) ७ अस्त्राणि—समंत्रक । ८ अर्थ-शास्त्रं—नीति-शास्त्रं । ( गो० ) ९ उपाध्यायम्—धनुर्वेदाचार्यं । ( गो० )

हे तात ! अस्त्र ( जो मंत्रवल से चलाये जाँय ) शस्त्र ( जो बिना मंत्र के चलाये जाँय ) से सम्पन्न, नीति-शास्त्र-विशारद, सुधन्वा नाम के धनुर्वेदाचार्य का तो यथोचित मान तुम करते हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमा<sup>१</sup> शूराः<sup>२</sup> श्रुतवन्तो<sup>३</sup> जितेन्द्रियाः<sup>४</sup> ।

५कुलीनाश्चेद्भितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

हे तात विश्वसनीय, धीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लालच में न फँसने वाले और प्रामाणिक कुलोत्पन्न लोगों को, तुमने अपना मंत्री बनाया कि नहीं ? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।

६सुसंवृतो मन्त्रधरैरमात्यैः ७शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

क्योंकि हे राघव ! नीतिशास्त्रनिपुण सलाह करने योग्य मंत्रियों द्वारा रक्षित गुप्त परामर्श ही राजाओं के लिए विजय का मूल है ( अर्थात् जिन राजाओं के मंत्री परामर्शों को गुप्त रखने वाले होते हैं या जिन राजाओं के परामर्श गुप्त रहते हैं उन्हीं राजाओं की जीत होनी है ) ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषीः कच्चित्काले प्रबुध्यसे ।

कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥

१ आत्मसमाः—विश्वसनीया इति । ( गो० ) २ शूराः—धीराः । ( गो० ) ३ श्रुतवन्तः—नीतिशास्त्रज्ञाः । ४ जितेन्द्रियाः—परैरलोभनीया इति । ( गो० ) ५ कुलीनाः—प्रामाणिककुलोत्पन्नाः । ( गो० ) ६ सुसंवृतः—सुतरांगुप्तः । ( गो० ) ७ शास्त्रकोविदैः—नीतिशास्त्रनिपुणैः । ( गो० ) ८ अर्थनैपुणम्—अर्थसम्पादन रीतिम् । ( शि० )



तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते ? यथासमय जाग तो जाते हो ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय तो विचारा करते हो ? ॥ १७ ॥

कच्चिन् मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।

कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

अकेले तो किसी विषय पर विचार नहीं करते अथवा बहुत से लोगों के बीच बैठ कर तो सलाह नहीं करते ? तुम्हारा विचार कार्य रूप में परिणत होने के पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

[ टिप्पणी—राजा को अकेला अथवा बहुत से लोगों में बैठे कोई सलाह न करनी चाहिए और न उसके विचार उपयुक्त समय के पूर्व प्रकट ही होने चाहिए ]

कच्चिदर्थः विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् २ ।

क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले और बड़ा फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर, उसका करना तुम तुरन्त आरम्भ कर देते हो कि नहीं ? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते ॥ १९ ॥

कच्चित्ते सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।

विदुस्ते सर्वकार्याणि न कतव्यानि पार्थिवाः ३ ॥ २० ॥

१ अर्थ—कार्य । ( गो० ) २ महोदय—महाफल । ( गो० ) ३ पार्थिवाः—सामतनुषाः । ( गो० )

तुम्हारे निश्चित किए हुए सब कार्य भली भाँति पूरे हो जाने पर अथवा पूरे होने ही पर छोटे राजा जान पाते हैं न ? कार्य पूरे होने के पूर्व तो उनको वे कहीं नहीं जान लेते ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः १ ।

त्वया वा तव वाऽमात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

मंत्रियों के साथ की हुई तुम्हारी अप्रकाशित सलाह को, दूसरे लोग, तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं ताड़ लेते ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रान् मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।

पण्डितो रथैर्यकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं ४ महत् ॥ २२ ॥

तुम हजार मूर्खों को त्याग कर, एक पण्डित ( सलाहकार ) का आश्रय ग्रहण करते हो न ? क्योंकि यदि सङ्कट के समय एक भी पण्डित पास हो, तो बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । अर्थात् बड़ा लाभ होता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।

अथवाऽप्ययुतान्येव नारित तेषु सहायता ॥ २३ ॥

राजा भले ही हजार या दस हजार मूर्खों को अपने पास रखे, परन्तु उन मूर्खों से उस राजा को कुछ भी साहाय्य नहीं मिल सकता ॥ २३ ॥

१ युक्त्यावा—अनुमानेनवा । (गो०) २ अपरिकीर्तिताः—अनुकाः इज्जितादयः । (गो०) ३ अर्थकृच्छ्रेषु—कार्यसङ्कटेषु । (गो०) ४ महत्—निःश्रेयसं महदैश्वर्यं । (गो०)



एकोऽप्यमात्यो मेधावी १ शूरो दक्षो २ विचक्षणः ३ ।

राजानं राजपुत्रं \* वा प्रापयेन् महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

किन्तु यदि एक भी बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचारकुशल और नीतिशास्त्र में अभ्यस्त मंत्री हो, तो राजा को वा राजकुमार को बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है ॥ २४ ॥

कच्चिन् मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।

जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ २५ ॥

हे तात ! तुम, उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में और छोटी जाति के नौकरों को छोटे कामों में लगाते हो न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।

श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

तुम उन मंत्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो कुलपरंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ स्वभाव के हैं, श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वजितप्रजम् ।

राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकेयीसुत ॥ २७ ॥

हे कैकेयीनन्दन ! तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मंत्रियों का अपमान तो नहीं करती ॥ २७ ॥

१ शूरः—स्थिरबुद्धिः । (गो०) २ दक्षः—विचारसमर्थः । (गो०) ;

३ विचक्षणः—अभ्यस्तनीतिशास्त्रः । ४ पितृपैतामहान्—कुलक्रमागतान् । (गो०) \* पाठान्तरे—“राजमात्रं” ।

कच्चिच्छ्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं<sup>१</sup> यथा ।

उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्त्रियां परस्त्रीगमन करने वाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं, या जिस प्रकार यज्ञ करने वाले यज्ञ-कर्म से पतित का अनादर करते हैं, उसी प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं<sup>२</sup> भृत्यसंदूषणे रतम् ।

शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते<sup>४</sup> ॥ २९ ॥

जो राजा, विशेष धन के लालच में फँस, कूट नीति विशारद पुरुष को, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौकर को और राजा तक को मार डालने में भय न करने वाले पुरुष को नहीं मारता, वह स्वयं मारा जाता है। सो हे भाई ! तुम कहीं ऐसे लोगों को तो अपने पास नहीं रखते ? ॥ २९ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमान् शुचिः ।

कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

हे भरत ! तुमने किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि की रचनाओं में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, सत्कुलोद्भव, स्वामिभक्त और कार्यकुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं ? ॥ ३० ॥

१ पतितं—यष्टुकामपतित । (गो०) २ वैद्य—कारणकोक्तकुटिल-नीतिविद्याविदं । (गो०) ३ शूर—राजहिंसनेपिनिर्भयं । (गो०) ४ वध्यते—राज्याद्भूयो भवति । (गो०)



बलवन्तरच कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।

दृष्टापदानाः विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

अत्यन्त बलवान्, प्रसिद्ध, युद्धविद्या में निपुण और जिनके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी हैं, ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर, तुमने उत्साहित किया है कि नहीं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्वलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।

सम्प्राप्तकाल दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

तुम सेना के लोगों को कार्यान्तरूप भोजन और वेतन यथा-समय देने में विलम्ब तो नहीं करते ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः ।

भृतुः कुप्यन्ति दुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥३३॥

क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलन से, नौकर लोग कुपित होते हैं और मालिक को निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना, एक बड़े भारी अनर्थ की बात समझी जाती है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।

कच्चित्प्राणास्तत्रार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥३४॥

भला सब राजपूत और सरदार तो तुम्हारे प्रति अनुराग रखते हैं ? और क्या समय पर वे तुम्हारे लिए सावधानता पूर्वक अपने प्राण दे डालने को तैयार हो सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

१ दृष्टापदाना—अनुभूत पौरुष । ( रा० ) २ भक्तं—अन्न वेतन । ( रा० ) ३ कुलपुत्राः—क्षत्रियकुलप्रसूताः । ( गो० ) ४ प्रधानतः—प्रधानाः । ( गो० )

कच्चिज्जानपदो १ विद्वान् दक्षिणः २ प्रतिभानवान् ।

यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

हे भरत ! अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाज़िरजवाब, ( प्रत्युत्पन्नमति ) यथोक्त-वादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुषों को, तुमने अपना दूत बनाया है कि नहीं ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।

त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी और अपने राज्य के तीन ( मंत्री, पुरोहित, युवराज ) को छोड़ शेष, पन्द्रह राज्याधिकारियों का, हाल जानने के लिए प्रत्येक के पास तीन तीन ऐसे भेदिए जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों, नियुक्त कर, इन सब की कार्यवाहियों का हाल तुम जानते रहते हो न ? ॥ ३६ ॥

[नोट—अठारह पदाधिकारी ये हैं—

१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ अन्तःपुराधिकारी, ७ बंधनगृहाधिकारी, (दरोगा; जेल) ८ धनाध्यक्ष, ९ राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला, १० प्राड्विवाक. ( वकील ) ११ धर्माध्यक्ष, १२ सेना को वेतन बांटने वाला, ( खजानची ) १३ ठेकेदार, १४ नगराध्यक्ष ( कोतवाल ), १५ राष्ट्रांतपाल ( सीमान्त का अफसर ) १६ दुष्टों का दण्ड देने वाला ( मजिस्ट्रेट ) १७ जल, पर्वत, तथा वन का रक्षक और १८ दुर्गों का रक्षक । ]

१ विद्वान्—पराभिप्रायज्ञः । ( गो० ) २ दक्षिणः—समर्थः ।

( गो० )



कच्चिद्व्यपास्तान् हितान् प्रतियातांश्च<sup>२</sup> सर्वदा ।

दुबलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

हे रिपुसूदन ! उन शत्रुओं को जिनको तुमने अपने राज्य से निकाल दिया था और जो फिर किसी तरह लौट कर आ गए हैं, उनको दुर्बल समझ, उनकी ओर से तुम कहीं असावधान तो नहीं रहते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लौकायतिकान् ब्रह्मणांस्तात सेवसे ।

अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

तुम कहीं नास्तिक ब्राह्मणों को तो अपने पास नहीं रखते ? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित लगाते हैं, परन्तु वास्तव में मूर्ख या अनभिज्ञ होने के कारण वे यथावत् ज्ञानवन्त नहीं होते अथवा शास्त्र के तत्व को न जानने के कारण, धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटा कर, लोगों को नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः<sup>४</sup>

बुद्धिमान् वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

मुख्य मुख्य प्रामाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते भी, उनकी बुद्धि सदा वेदविरुद्ध तर्कों ही की ओर दौड़ा करती है और शुद्ध तर्क वितर्क तरने की आदत पड़ जाने से, वे सदा अनर्थकारी वचन ही बोला करते हैं ॥ ३९ ॥

[ टिप्पणी—अतः ऐसे नास्तिक दुर्बुद्धियों से सदा दूर रहना ही उचित है भले ही ये लोग ऊँचे पदाधिकारी क्यों न हों । ]

१ व्यपास्तान्—निष्कासितान् । ( गो० ) २ प्रतियातान्—पुनरागतान् । ( गो० ) ३ अनर्थकुशला—यथावज्ज्ञानवन्तः तेन भवन्तीत्यनर्थकुशलाः । ( गो० ) ४ दुर्बुधाः—वेदमार्गविपरीतबुद्धयः । ( गो० ) ५ आन्विक्षिकीबुद्धिं प्राप्य—शुक्ततर्कविषयांबुद्धिमास्थाय । ( गो० )

द्यौरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।  
 सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥४०॥  
 ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।  
 जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥४१॥  
 प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् ।  
 कच्चित्समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसि ॥४२॥

हे तात ! तुम उस अयोध्या की तो भली-भाँति रक्षा करते हो जो  
 हमारे पिता पितामहादि वीर पुरुषों की भोगी हुई, अपने नाम को चरि-  
 तार्थ करने वाली, दृढ़ द्वारों वाली, हाथियों, घोड़ों और रथों से भरी हुई,  
 वर्णानुरूप धर्मकार्यों में सदा तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों  
 से युक्त, जितेन्द्रिय और महाउत्साही हजारों आर्य जनों से सुशोभित, विविध  
 आकार-प्रकार के भवनों से पूर्ण, विद्वज्जनों से भरी हुई है और जो दिन  
 दिन उन्नत-वस्था को प्राप्त हो रही है ॥४०॥४१॥४२॥

कच्चिचचैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।  
 देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥४३॥  
 प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।  
 सुकृष्टसीमा पशुमान् हिंसाभिरभिर्वर्जितः\* ॥४४॥

१ वैद्यजनाकुलां—विद्वज्जनाः तैरावृतां । ( गो० ) २ समुदितां—  
 सुसन्तुष्टजनाः । ( गो० ) ३ सुनिविष्टजनाकुलः—सुप्रतिष्ठितजनव्याप्तः ।  
 ( गो० ) ४ प्रपाभिः—पानीयशालाभिः । ( गो० ) ५ सुकृष्टसीमा—  
 अकृष्टा ईषत्कृष्टा च भूमिर्न तत्रासीत् । ( गो० ) ६ हिंसाभिः ईतिभिः  
 षड्भिः । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“परिवर्जितः” ।



अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।

परित्यक्तो भयः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥४५॥

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।

कच्छिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥४६॥

हे राघव ! जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहाँ सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं, जो अनेक देवालयों पौसलों और तड़ागों से शोभित हैं, जो हर्षित स्त्री पुरुषों से और सामाजिक उत्सवों से शोभायमान हैं, जहाँ पर तिल बराबर भी जमीन बिना जुती नहीं है, जहाँ पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल, आदि पशु भरे पड़े हैं, जहाँ १ ईति का कभी भय नहीं होता, जहाँ के लोग मेघजल ही के ऊपर निर्भर नहीं हैं, (अर्थात् सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की सिंचाई के लिए वर्षाजल पर ही किसान निर्भर नहीं हैं), जो रमणीक है, जो हिसक पशुओं से रहित हैं, जो चोरी आदि सब भयों से रहित हैं, जो नाना खानों से शोभित हैं, जहाँ पापीजन एक भी नहीं हैं, जो उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्व-पुरुषों से सुरक्षित है, वह देश सो सुखी है ? ॥४३॥४४॥४५॥४६॥

[ १ ईति—अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः खगाः ।

प्रत्यासन्नाश्च राजानः पडेता ईतयः स्मृताः । (गो०) ]

कच्छित्ते दयिताः<sup>१</sup> सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः<sup>२</sup> ।

वात्तायां संश्रितस्तात लोको हि सुखमेधते ॥४७॥

हे तात ! जो लोग खेती कर और पशुओं को पाल, अपना गुजारा करते हैं, उन पर तुम प्रतन्न तो रहते हो ? क्योंकि ये लोग लेन देन के कार्य में नियुक्त रह कर धनधान्य युक्त होते हैं ॥४७॥

१ दयिताः--प्रियाः । ( शि० ) २ कृषिगोरक्षजीविनः--वैश्याः (गो०)

तेषां गुप्तपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।

रक्षया हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥४८॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु दे कर तथा उनका अरिष्ट दूर करके उनका भरण पोषण तो करते हो ? क्योंकि राजा को उचित है कि वह अपने राज्य में बसने वालों की धर्म से ( ईमानदारी से ) रक्षा करे ॥४८॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।

कच्चित्त्र श्रद्धास्थासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥४९॥

क्या तुम स्त्रियों को प्रसन्न रखते हो ? उनकी भली भाँति रक्षा करते हो कि नहीं ? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते ? कभी स्त्रियों को अपने गुप्त भेद तो नहीं बतला देते ? ॥४९॥

कच्चित्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः ।

कच्चित्त्र गणिकाश्वानां कुञ्जराणां विभूषितम्\* ॥५०॥

जिन वनों में हाथी हैं वे भली-भाँति रखाये तो जाते हैं ? जो हथिनियाँ हाथियों को पकड़वाती हैं, उनका पालन पोषण तो ठीक ठीक होता है ? तुम हाथियों हथिनियों और घोड़ों के लाभ से तृप्त तो नहीं होते ? ॥५०॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् ।

उत्थायोत्थाय पूर्वोल्ले राजपुत्र महापथे ॥५१॥

१ गुप्तपरीहारैः—इष्टप्रापणानिष्टनिवारणः । ( गो० ) २ सान्त्वयसि—अनुकूलतया वर्तसे । ( गो० ) ३ धेनुकाः—गजप्रहणसाधनभूताः करिण्यः । ( गो० ) ४ गणिकाः—करिण्यः । ( गो० ) ५ महापथे—सभायां । ( गो० )

\* पाठान्तरे—‘च तृप्यसि’ ।



हे राजपुत्र ! तुम अपने को सर्व प्रकार से भूषित कर दोपहर से पहले ही, सभा में जा, प्रजाजनों से मिलते हो कि नहीं ॥५१॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।

सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥५२॥

तुम्हारे यहाँ जो काम करने वाले लोग हैं, वे निर्भय हो तुम्हारे निकट तो सदा नहीं चले आया करते या मारे डर के तुमसे अति दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं । अतः काम करने वाले के साथ मध्यम व्यवहार करना उचित है । (अर्थात् इनका कभी-कभी तो तुम्हारे पास आना और कभी-कभी दूर रहना ही वाञ्छनीय है) ॥५२॥

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः ।

यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः<sup>१</sup> ॥५३॥

तुम्हारे सब किले तो धन, धान्य, हथियार, जल, कल, क्रियाकुशल तीर चलाने वाले योद्धाओं से परिपूर्ण हैं कि नहीं ? ॥५३॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।

<sup>२</sup>अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥५४॥

हे राघव ! तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और आमदनी से कम व्यय है कि नहीं, तुम्हारे कोश का धन कहीं नाचने-गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता ? ॥५४॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।

योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥५५॥

<sup>१</sup> शिल्पिधनुर्धरैः—क्रियाकुशलधनुर्धारिभिः । (शि०) <sup>२</sup> अपात्रेषु—नटविटगायकेषु । (गो०)

देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा और मित्रगण—इन सब के लिए तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि नहीं ? ॥५५॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्माऽऽक्षारितश्चोरकर्मणा ।

अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥५६॥

जब अच्छे चरित्र वाले साधु लोग, जो झूठे चोरी आदि अपवादों से दूषित हो, विचारार्थ, न्यायालय में उपस्थित किए जाते हैं, तुम्हारे नीति-शास्त्रकुशल लोग (सरकारी वकील) उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किए बिना ही, लालच में फँस, उनको कहीं दण्ड तो नहीं दे देते ? ॥५६॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।

कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥५७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! जो चोर चोरी करते समय पकड़ा गया और जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका, वह चोर, कहीं घूस के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥५७॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्गतस्य च राघव ।

अर्थ विरागाः पश्यन्ति तवामात्यां बहुश्रुताः ॥५८॥

धनी और गरीब का झगड़ा होने पर तुम्हारे बहुश्रुत (अनुभवों) सचिव, लोभरहित हो, दोनों का मुकद्दमा, न्यायपूर्वक निबटाते हैं कि नहीं ? ॥५८॥

यानि मिथ्याभिश्चस्तानां पतन्त्यस्त्राणि राघव ।

तानि पुत्रपशून् हनन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥५९॥



क्योंकि हे राघव ! झूठे बोधारोपण के लिए वण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए आँसू उस राजा के, जो केवल अपने शारीरिक सुख (पेसा आराम) के लिए राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता, पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं ॥१५॥

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुश्यांश्च राघव ।

'दानेन मनसा' वाचा' त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥६०॥

हे राघव ! तुम बूढ़ों, बालकों, बंधों और मुखिया लोगों को, (१) उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, (२) उनके साथ स्नेहपूर्वक व्यवहार करके और (३) उनसे आश्वासनसूचक वचन कह—(इन) तीन तरह से राजा तो रहते हो ? ॥६०॥

कच्चिदगुरुंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन् ।

चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

तुम गुरुओं, बूढ़ों तपस्वियों देवताओं, अतिथियों चौराहे के बड़े बूढ़ों और विद्या-तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को तो श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हो ? ॥६१॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न बाधसे ॥६२॥

कहीं धर्मानुष्ठान के सन्धय को अर्थोपार्जन में अथवा अर्थोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते ? अथवा सुखाभिलाषा के लिए विषयवासना में फँस, अर्थोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते ? ॥६२॥

१ दानेन—अभिमतवस्तुप्रदानेन । (गो०) २ मनसा—स्नेहेन । (गो०) ३ वाचा—सान्त्वयवचनेन । (गो०) ४ चैत्यान्—देवतावासभूत-चतुष्पथस्य महावृक्षान् । (गो०)

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।

विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् भरत सेवसे ॥६३॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! हे कालज्ञ भरत ! धर्म अर्थ और काम इन तीनों को समय विभाग कर किया करते हो कि नहीं ? (प्रातःकाल दानादिधर्म में, तदनन्तर राजकाज में और रात—काम के लिए) अर्थात् कहीं एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ? ॥६३॥

कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म<sup>१</sup> सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।

आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥६४॥

हे महाप्राज्ञ ! पुरजन, जनपदवासी और धर्मशास्त्र के सम्पूर्ण अर्थों को जानने वाले पण्डित तुम्हारे सुख के लिए प्रार्थना तो किया करते हैं ॥६४॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।

अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥६५॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।

निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥६६॥

मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।

कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषाश्चतुर्दश ॥६७॥

हे भरत ! १ नास्तिकता, २ असत्यभाषण, ३ क्रोध, ४ अनवधानता, ५ दीर्घसूत्रता, ६ ज्ञानियों से न मिलना, ७ आलस्य, ८ इन्द्रियों को

१ शर्म—मुख । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयन्ते ३ पञ्चवृत्तिताम्—पञ्चेन्द्रियपरवशतां । (गो०) ४ प्रत्युत्थानं च सर्वतः—नीचस्यानीचस्याप्यागमने प्रत्युत्थानमित्यर्थः । (गो०)



परबलता, ९ मन्त्रियों की अवहेला कर स्वयं अकेले ही राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना, १० अशुभ चिन्तकों अथवा उल्टी बात सुनाने वालों से सलाह करना, ११ निश्चित किए हुए कामों को आरम्भ न करना, १२ सलाह को न छिपाना, १३ मङ्गल कृत्यों का परित्याग और १४ नीच ऊँच सब को देख उठ खड़े होना या सब को अम्युत्थान देना अथवा चारों ओर युद्ध करते फिरना—इन चौदह राजदोषों को तो तुमने त्याग दिया है ? ॥६५॥६६॥६७॥

दश पञ्च चतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।

अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥६८॥

हे भरत ! १ शिकार, २ जुष्टा, ३ दिन का सोना, ४ पर-निन्दा ५ स्त्री, ६ मद, ७ नृत्य, ८ गीत, ९ वाद्य और १० वृषा इधर-उधर घूमना (ये दश कामज दोष हैं) इनको; १ जल सम्बन्धी २ पर्वत सम्बन्धी ३ वृक्ष सम्बन्धी ४ ऊसर भूमि सम्बन्धी और ५ निर्जल देश सम्बन्धी, इन पाँच प्रकार के बुर्गों को; १ साम २ दान ३ दण्ड और ४ भेद—इन चार नीतियों को; १ स्वामी २ मन्त्री ३ राष्ट्र ४ बुर्ग, ५ क्रोध ६ सेना ७ मित्र राज्य, इन सात अंगों को—तुम भली भाँति जानते हो और इन पर विचार किया करते हो कि नहीं ? १ चुगली २ दुःसाहस, ३ द्रोह, ४ डाह ॥६८॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।

कृत्यं विशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥६९॥

५ गुण में दोष दर्शन, ६ अर्थ में दोषारोपण, ७ कठोर वचन, ८ तीक्ष्ण-दण्ड दान (ये क्रोधज आठ दोष हैं)—इनको; १ धर्म २ अर्थ और ३ काम—इन तीनों को; तीन प्रकार की विद्याओं को (तीनों देवों का

पढ़ना); १ सन्धि, २ विग्रह, ३ बड़ाई, ४ समय की प्रतीक्षा, ५ शत्रुओं में फूट फैलाना, और ६ किसी बली को अपना सहायक बनाना—इन छाहों को; १ अग्नि, २ जल, ३ व्याधि ४ दुर्भिक्ष और महामारी इन पाँच तरह की दैविक विपत्तियों, को तुम भली भाँति जानते तो हो ? अधिकांशियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के लालच से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते और उन पर ध्यान तो देते हो ? १ बालक २ वृद्ध ३ दीर्घकालीन रोगी ४ जातिबहिष्कृत, ५ दरपोक, ६ दूसरों को डरपाने वाला, ७ लोभी ८ लोभी का सम्बन्धी, ९ प्रजा का विरहित भाजन १० इन्द्रियासक्त, ११ बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला १२ देव-ब्राह्मण-निन्दक १३ भाग्यहीन १४ भाग्य पर निर्भर रहने वाला १५ अकाल का मारा, १६ विदेश में मारामारा फिरने वाला, १७ बहुत शत्रुओं वाला १८ यथासमय काम न करने वाला १९ सत्य धर्म पर तत्पर न रहने वाला और २० सेना का सताया हुआ या बड़ा पहलवान—इन बीसों को; राज्य, स्त्री, स्यान, देश, जाति और धन जिनके छीन लिए गए हों (यह प्रकृति मंडल है)—इनको; शत्रु, मित्र, शत्रुका भली भाँति का शत्रु और परममित्र (ये राजमंडल हैं)—इनको; तुम मित्र का मित्र जानते और इन पर ध्यान देते हो ? ॥६६॥

यात्रादण्डविधानं च द्वियोनीं सन्धिविग्रहौ ।

कञ्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥७०॥

हे महाप्राज्ञ ! यात्राविधान, दण्डविधान सन्धि, विग्रह, करने न करने बातों को परख लेना—इन बातों को तुम भली भाँति जानते हो कि नहीं ? ॥७०॥

१ यात्रादण्ड विधानं—यात्रायां दण्डस्यसैन्यस्यविधानं संविधानं व्यूहगोद विधानं । (गो०) २ द्वियोनी—संधिविग्रहयानासनद्वेषीभावसमा-न्वयी संघेरूपं । (गो०)



मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टैश्चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।  
कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः ॥७१॥

हे मतिमान् ! तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मंत्रियों को एकत्र कर एक साथ, अथवा उनसे अलग गुप्त परामर्श करते हो ? ॥७१॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।  
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

क्या तुम अग्निहोत्रादि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो ? दान और भोग में लगा कर, क्या तुम अपने धन को सफल करते हो ? यथाविधि सन्तानोत्पत्ति कर स्त्रियों को तुम सफल करते हो ? तुमने जो शास्त्र श्रवण किया है उसके अनुसार आचरण कर तुम शास्त्र-श्रवण को चरितार्थ तो करते हो ? ॥७२॥

[महाभारत में लिखा है—

अग्निहोत्रफलावेदा, तद्यमुक्तफलं धनं ।

रतिपुत्रफलादाराः शीलवृत्तफलं श्रुतं ॥

७२वें श्लोक का आशय इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।]

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।  
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥

धर्म, अर्थ तथा काम के सम्बन्ध में जो बातें मैंने तुमसे अभी कही हैं और जिनके अनुसार चलने से यश और आयु बढ़ती हैं, वे तुम्हें पसन्द हैं कि नहीं ? ॥७३॥

१ मिथः—रहसि मंत्रं मन्त्रयसे कच्चित् । (गो०)

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहाः ।

तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिच्छा च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

सन्मार्गानुसारिणी और अनिविदा वृत्ति जिसके अनुसार हमारे पूर्वज पिता पितामहादि चलते थे, उसी वृत्ति को अवलंबन कर तुम भी चलते हो न ? ॥७४॥

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।

कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥७५॥

हे भरत ! तुम स्वादिष्ठ भोजन अकेले ही तो नहीं खा लेते ? यदि मित्र खाते समय उपस्थित हो उनको देकर खाते हो न ? ॥७५॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा

महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।

अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-

दितश्च्युतः' स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥७६॥

इति शततमः सर्गः ॥

देखो, जो नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है--वह ज्ञानी राजा पूर्व राजाओं की तरह सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो, मरने पर स्वर्ग में जा वास करता है ॥७६॥

अयोध्याकाण्ड का सौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

टिप्पणी--श्रीराम ने इस सर्ग में भरत को राजनीति एवं राजा का अनुष्ठेय आचरण का उपदेश बड़ी अच्छी तरह किया है । यह है हमारे भारत की प्राचीन राजनीति ।

---:००:---

१ च्युतः--प्रारब्धकर्मविशानो मृत इत्यर्थः । (गो०)



७१ का लक्ष्य है जाय है।

## ७१. एकोत्तरशततमः सर्गः

—:—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।  
किं मे 'धर्माविहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥१॥

श्रीराम के वचन सुन, भरत जी बोले कि, मैं तो स्वकुलोचित रीति से रहित हूँ—अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिए किस काम का ? ॥१॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।  
ज्येष्ठपुत्रे स्थिते राजन् न कनीयान्नृपो भवेत् ॥२॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हमारे कुल में तो सदा से यह रीति चली आती है कि बड़े पुत्र के सामने छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ? ॥२॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।  
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥३॥

अतः हे राघव ! आप मेरे साथ धनधान्यपूर्ण आयोध्यापुरी में चलिए और अपना राज्याभिषेक करवा कर, हमारे कुल का कल्याण कीजिए ॥३॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ।  
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥४॥

१ धर्मविहीनस्य—स्वकुलोचितरीतिः विहीनस्य । (शि०) २ भवाय भद्राय । (गो०)

लोग राजा को भले ही मनुष्य कहा करें, किन्तु मैं तो राजा को देवता समझता हूँ। क्योंकि उसके धर्म और अर्थ से अनुमोदित चरित लोकोत्तर होते हैं अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं ॥४॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।

दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥५॥

जब मैं अपनी ननिहाल केकयराज्य में था और तुम वन में चले आए थे, तब अनेक यज्ञ करने वाले तथा साधु सज्जन लोगों से प्रशंसित महाराज दशरथ स्वर्ग को सिधारे ॥५॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहस्रीते सलक्ष्मणे ।

दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥६॥

सीता और लक्ष्मण के साथ तुम्हारे अयोध्या छोड़ते ही, महाराज दुःख और शोक से ऐसे विकल हुए कि उन्हें स्वर्ग को जाना पड़ा ॥६॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।

अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥७॥

हे पुरुषसिंह ! अब इस समय उठ खड़े होइए और नदी तट पर चलकर पिता को जलाञ्जलि दीजिए। शत्रुघ्न और मैं तो पहिले ही जलाञ्जलि दे चुका हूँ ॥७॥

प्रियेण खलु दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।

अक्षय्यं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥८॥



१८२

## अयोध्याकाण्ड

हे राघव ! लोग कहा करते हैं कि प्रिय पुत्र का दिया हुआ पिण्ड और जल पितृलोक में अक्षय्य होकर बना रहता है, सो आप पिता जी के प्रिय पुत्र हैं ॥८॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेऽसु-

स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।

त्वयाविहीनस्तव शोकरुणः<sup>१</sup> ।

त्वां संस्मरन् स्वर्गमवाप\* राजा ॥९॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

क्योंकि तुम्हीं को सोचते, तुम्हें देखने की इच्छा करते, तुम्हीं को याद करते, तुम्हारे वियोगजनित दुःख से विकल और तुम्हारा नाम लेते पिता जी स्वर्ग पधारे हैं ॥९॥

अयोध्याकाण्ड का एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तां श्रुत्वा करुणां<sup>२</sup> वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।

राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥१॥

श्रीरामचन्द्र ने भरत के मुख से पिता के मरने का जब शोकप्रद समाचार सुना, तब वे मूर्छित हो गए ॥१॥

१ रुणः—पीडित इति यावत् । (गो०) २ करुणां—शोकावहां । (गो०) \*पाठान्तरे—“संस्मरन्स्तमितः” “संस्मरन्नेवगतः” ।

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।

बागवज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तप ॥२॥

जैसे दंत्यों के शत्रु इन्द्र दंत्यों पर युद्धकाल में वज्र का प्रहार करते हैं, वैसे ही भरत जी के वज्ररूपी वचन का भीषण प्रहार, श्रीरामचन्द्र पर हुआ ॥२॥

प्रगृह्य बाहू रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः ।

वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥३॥

राम (पछतावे से) दोनों हाथ मलते हुए कुल्हाड़े से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़े ॥३॥

तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।

कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥४॥

जगतपति राम पृथिवी पर मूर्छित पड़े ऐसे जान पड़ते थे, मानों कोई मतवाला हाथी, नदी का तट ढहाते ढहाते थक कर पड़ा हुआ सो रहा हो ॥४॥

आतरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम् ।

रुवन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥५॥

तब राम को मूर्छित हुआ देख जानकी सहित सब भाई शोक से विकल हो रोते रोते महाचनुषधारी राम के ऊपर जल छिड़क, उनकी मूर्छा भङ्ग करने का प्रयत्न करने लगे ॥५॥

१ बाहू प्रगृह्य—पाणिना पाणी निष्पीडय् उद्धृत्य वा । (गो०)



स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामलमुत्सृजन् ।  
उपाक्रमत\* काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥६॥

जब श्रीरामचन्द्र जी सचेत हुए, तब वे रोते रोते बहुत विलाप करने लगे ॥६॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।  
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥७॥

धर्मात्मा राम यह सुन कर कि, पिता जी स्वर्ग सिधारे हैं, भरत जी से धर्मसङ्गत यह वचन बोले ॥७॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।  
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥८॥

जब पिता जी ही स्वर्ग चले गए तब मैं अयोध्या जा कर ही क्या करूँगा ? उन राजश्रेष्ठ के बिना अयोध्या का शासन कौन करेगा ॥८॥

किञ्च तस्य मया कार्यं दुर्जतिन महात्मनः ।  
यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥९॥

मेरा जैसा व्यर्थ जन्म धारण करने वाला पुत्र, उन महात्मा पिता के लिए क्या कर सकता है ? मेरे वियोगजन्य शोक से तो उनका देहान्त हुआ और हाय मैं उनका अन्तिम संस्कार भी न कर पाया ॥९॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयाऽनघ ।  
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥१०॥

\* पाठान्तरे—“उपाक्रामत” ।

हे निष्पाप भरत ! तुम्हीं अच्छे रहें कि, तुमने और शत्रुघ्न ने पिता जी के सम्पूर्ण अन्त्येष्टिकर्म तो कर लिए ॥ १० ॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां१ नरेन्द्रेण विनाकृम् ।

निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अभी क्या, मैं तो वनवास से लौट कर भी, उन प्रधान पुरुषहीन स्वास्थ्यवर्जित अयोध्या में, जाना नहीं चाहता ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परन्तप ।

कोऽनु शासिष्यति२ पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

क्योंकि हे परन्तप ! मैं वनवास की अवधि पूरी कर यदि अयोध्या जाऊँ भी तो वहाँ अब मुझे हिताहित का उपदेश देने वाला है ही कौन ? ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।

वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥ १३ ॥

मेरे सद् आचरणों को देख, पिता जी मुझे स्नेहपूर्वक जो उपदेश देते थे, अब उन कर्णसुखद उपदेशों को, मैं वहाँ किससे सुनूँगा ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः ।

उवाच शोकसन्तप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १४ ॥

१ अनेकाग्रां—स्वास्थ्यरहितां । (शि०) २ अनुशासिष्यति—हिताहित विषय प्रवृत्ति निवृत्तिकारयिष्यति । (रा०)



शोकसन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से यह कह कर और सीता की ओर मुख कर, पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश मुख वाली जानकी से बोले ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण ।

भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥ १५ ॥

हे सीते ! तुम्हारे मसुर स्वर्ग सिधारे । हे लक्ष्मण ! तुम पिता-हीन हो गए । क्योंकि महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी संवाद मुझे भरत जी से अवगत हुआ है ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पो\* नेत्रेष्वजायत ।

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, सब बहुगुणी एवं यशस्वी राजकुमार रोने लगे ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य राघवम् ।

अब्रुवज्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन सब भाइयों ने शोक से विकल श्रीरामचन्द्र को बहुत समझाया और कहा, अब आप महाराज को जला-ब्जलि दीजिए ॥ १७ ॥

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशक्नोक्षितुं पतिम् ॥ १८ ॥

सीता जी के नेत्रों में, मसुर के देहान्तरित होने का संवाद सुनने से, इतने आंसू भर गए कि, वे अपने पति को न देख सकीं ॥ १८ ॥

\* पाठान्तरे—“बाष्पं ।”

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् ।

उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १६ ॥

तब रुदन करती हुई जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी ने समझा बुझाकर धीरज बंधाया । फिर शोक से विकल हो, श्री रामचन्द्रजी ने, दुःखित लक्ष्मण जी से कहा ॥ १६ ॥

आनयेद्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।

जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! तुम इस समय इंगुदी के बीजों (हिगोट) को पीस कर ले आओ और एक नया चीर मेरे पहिनने के लिए ले आओ । अब मैं पिता जी को जलाञ्जलि देने को चलता हूँ ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद्ब्रजतु त्वमेनामभितो ब्रज ।

अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥ २१ ॥

सीता आगे आगे चले और तुम इनके पीछे चलो और मैं सब के पीछे चलूँगा । क्योंकि इस दारुण समय में चलने का यही विधान है ॥ २१ ॥

[ टिप्पणी—ऐसे समय में चलने के लिये धर्मसूत्र का यह प्रमाण है—

“सर्वे कनिष्ठप्रथमा अनुपूर्वइतरे स्त्रियोग्रे ।” ]

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः ।

मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥

सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।

अवातारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥



तदनन्तर इक्ष्वाकु राजघराने के पुराने अनुचर, ह्वानी, महामति, कोमलहृदय, जितेन्द्र, शान्तस्वभाव और श्रीराम में दृढ़ भक्ति रखने वाले सुमंत्र, उन राजकुमारों को अनेक प्रकार से समझा कर, उन्हें निर्मल जलवाली अथवा पवित्र जलवाली मंदाकिनी नदी के तट पर ले गए ॥ २२ ॥ २३ ॥

ते सुतीर्था ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः ।

नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥ २४ ॥

रमणीय और सदा फूले हुए वन में होकर बहने वाली मन्दाकिनी के सुन्दर घाट पर, वे लोग अति कष्ट से गिरते पड़ते पहुँचे ॥ २४ ॥

शीघ्रस्रोतः समासाद्य तीर्थं<sup>१</sup> शिवमकर्मसम् ।

सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत्रैतत्ते<sup>२</sup> भवत्विति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस कीचड़रहित और तेज बहने वाली तथा पुण्यप्रद मन्दाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और "एतद्भवतु" (यह जल आप को मिले) कह कर, महाराज दशरथ को जलाञ्जलि देने लगे ॥ २५ ॥

प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् ।

दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस समय महाराज श्रीरामचन्द्रजी अंजली में जल भर औः दक्षिण की ओर मुख कर रुदन करते हुए बोले ॥ २६ ॥

१ शिवं—कल्याणप्रदं । ( शि० ) २ तत्रैतत्ते—हे तात पतञ्जलं भवतु त्वसन्निधौ तिष्ठतु । ( शि० ) ।

एतत्ते राजशार्दूल विमल तोयमक्षयम् ।

पितृलोकगतस्याद्य महत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

हे राजशार्दूल ! आज यह मेरा दिआ हुआ जल, पितृलोक में आप को अक्षय्य हो कर मिले ॥ २७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युत्तीर्य स राघवः ।

पितृश्चकार तेजस्वी निवापं\* भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥

तदनन्तर तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मन्दाकिनी के तट से ऊपर आ कर, पिता को पिण्डदान किया ॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।

न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने, बेर फलों को इङ्गुदी के चूर्ण में मिला, पिण्ड बनाए और कुश बिछा कर, पिण्डों को उन कुशों पर रख, दुःखी हो रोते हुए यह कहा ॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! आज कल हम लोग जो खाते हैं, वही इस समय आप भोजन कीजिए । क्योंकि मनुष्य जो स्वयं खाता है, उसीसे वह अपने देवताओं को भी सन्तुष्ट करता है ॥ ३० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य नदीतटात् ।

आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥

१ निवापं—पिण्डप्रदानं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“निर्वापं”



फिर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी जिस मार्ग से नदी के किनारे पर उतर कर आए थे, उसी मार्ग से नदी के तट को छोड़, उस मनोहर शिखर वाले पर्वत पर चढ़ गए ॥ ३१ ॥

ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।

परिजग्राह बाहुभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

वहाँ वे अपनी पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच भरत और लक्ष्मण दोनों को भुजाओं से थाम, रोने लगे ॥ ३२ ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिश्रुत्कोऽभवद्गिरौ ।

भ्रातृणां सह वैदेह्या सिंहानामिव नर्दताम् ॥ ३३ ॥

उस समय चारों राजकुमारों और सीता के, गर्जते हुए सिंहों की दहाड़ जैसे रोने के शब्द से पर्वत गूँज उठा ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।

विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥

पिता जी का जलदान कर चारों भाइयों के रोने का शब्द सुन, भरत की सेना के लोग डर गए ॥ ३४ ॥

अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः सङ्गतो ध्रुवम् ।

तेषामेव महाञ्जशब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

वे आपस में कहने लगे कि, श्रीरामचन्द्र से भरत की भेंट अवश्य हो गई । क्योंकि पिता के मरने का संवाद सुन वे अत्यन्त शोकाकुल हो विलाप कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

अथ वासान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।

अप्येकमनसोऽजगमुर्यथास्थानं प्रधावताः ॥ ३६ ॥

१ एकमनसः— समानहृदयाः । ( शि० )

वे सब सैनिक अपने डेरों को छोड़, जिस ओर से रोने का शब्द सुन पड़ता था, उस ओर मुख कर और एक मन हो दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

ह्यैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।

सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनमें से बहुत से लोग जो सुकुमार थे वे घोड़े, हाथियों और अच्छे अच्छे एवं सजे हुए रथों पर सवार हो और कितने पैदल ही उस शब्द की ओर बढ़े ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा ।

द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाऽऽश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि राम को अयोध्या छोड़े अभी बहुत दिन नहीं हुए थे, तथापि उन सब को ऐसा जान पड़ता था कि, मानों श्रीराम को अयोध्या छोड़े बहुत दिन बीत गए हैं । अतएव राम को देखने की उत्कण्ठा से प्रेरित हो वे सब उनके आश्रम में पहुँचे ॥ ३८ ॥

भ्रातॄणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् ।

ययुर्बहुविधैर्यानिः खुरनेमिस्वनाकुलैः ॥ ३९ ॥

चारों भाइयों का समागम देखने के लिए लोग अनेक प्रकार के बाहनों पर सवार होकर गए । उन बाहनों के पशुओं के खुरों का और पहियों का बड़ा शब्द हुआ ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानिः खुरनेमिसमाहता ।

मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥



उस समय उन वाहनों के पहियों के खुरों और पहियों की आहट से वह स्थान उसी प्रकार शब्दायमान हुआ, जिस प्रकार मेघों के समागम में, आकाश शब्दायमान होता है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।

आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस शब्द से डर कर हथिनियों सहित हाथी अपने मद की गन्धि से वन को सुवासित करते हुए, उस वन को छोड़ दूसरे वन में चले गए ॥ ४१ ॥

वराहवृकसङ्घाश्च महिषाः सर्पवानराः ।

व्याघ्रगोर्कर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

शूकर और भेड़ियों के झुंड, भैंसा, सर्प, व्याघ्र, गोकर्ण, नीलगाय और पृषत जाति के हिरन बहुत डर गए ॥ ४२ ॥

रथाङ्गसाहा नयूहा हंसाः कारण्डवाः स्रवाः ।

तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, जलमुर्ग, हंस, कारण्डव, स्रव नामक जलपक्षी, कोकिल, क्रौंच ये सब पक्षी उस शब्द से, संज्ञाहीन से हो इधर उधर भाग गए ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिवृत्तम् ।

मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्द से त्रस्त पक्षियों से ढका हुआ आकाश और मनुष्य से आच्छादित पृथ्वी दोनों ही अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्\* ।

आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उन सब लोगों ने अचानक वहाँ पहुँच कर देखा कि, यशस्वी, निर्दोष और पुरुषसिंह राम चबूतरे पर बैठे हुए हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्थरामपि ।

अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

उनको उस दशा में बैठा देख, सब लोग कैकेयी व मन्थरा की निन्दा करने लगे और राम के निकट जा, वे सब के सब रोने लगे ॥ ४६ ॥

तान्नरान् बाष्पपूर्णान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।

पर्येष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन लोगों को रुदन करते और दुःखी देख, धर्मज्ञ राम उठे और उनको छाती से लगा, उनसे ऐसे मिले, जैसे कोई माता पिता से मिलता हो ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित्परिष्वजे राजन्

नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।

चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान् ।

यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

समान वयस्कों से राम गले मिले; किमी किसी ने उनको प्रणाम किया । उस समय, राजकुमार श्रीरामचन्द्र ने

\* पाठान्तरे—“अरिन्दमम्” ।



६६४

अयोध्याकाण्डे

अपनी बराबर की उमर वाले और भाईबंदों से यथायोग्य  
व्यह्वार किया ॥ ४८ ॥

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां

भुवं च खं चानुनिनादयन् स्वनः ।

गुहा गिरीणां च दिशश्च सन्ततं

मृदङ्गघोषप्रतिमः प्रशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

इति द्वयुत्तरशततमः सर्गः ॥

मिलने के समय उन लोगों के रोने के शब्द से पृथिवी और  
आकाश शब्दायमान हो गये । पर्वत की कन्दराओं तथा सब  
दिशाओं में वह रोने का शब्द, मृदङ्ग के शब्द की तरह सुनाई  
पड़ने लगा ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥

— — —  
त्र्युत्तरशततमः सर्गः

—:—:—

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च ।

अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥

राम को देखने की अभिलाषा से, वसिष्ठ जी महाराज दशरथ  
की रानियों के आगे कर, राम की ओर गए ॥ १ ॥

१ रामदर्शनतर्षितः—रामदर्शनेसज्जाताभिलाषः । ( गो० )

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।

ददृशुस्तत्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

मन्दाकिनी के तट की ओर मंद मंद चाल से चलती हुई,  
कौसल्यादि रानियों ने राम और लक्ष्मण के स्नान करने का  
घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या वाष्पपूर्णैः मुखेन परिशुष्यता ।

सुमित्रामब्रवीद्दीना याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

उस घाट को देख कर देवी कौसल्या का मुख, मारे शोक  
के सूख गया। वे रो कर सुमित्रा तथा अन्य रानियों से कहने  
लगीं ॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।

वने प्राक्केवलं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

देखो, हमारे अनाथ, लोकोत्तर कर्म करने वाले तथा (कैकेयी  
द्वारा) राज्य से निर्वासित श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी के  
स्नानादि करने का यह घाट है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः ।

स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

हे सुमित्रा ! जान पड़ता है, इसी घाट से मेरे पुत्र के लिए,  
तेरा पुत्र लक्ष्मण, निरालस्य हो स्वयं जल भर कर ले जाता  
है ॥ ५ ॥

---

केवल—निश्चित ( गो० )



जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान्न तु गर्हितः ।

भ्रातुर्यदर्थं सहितं सर्वं तद्विहितं गुणैः ॥ ६ ॥

यद्यपि पानी भरना छोटा काम है, तथापि इस काम को करने से वह निन्द्य नहीं है । क्योंकि अपने बड़े भाई की सेवा करना प्रशंसा करने योग्य कार्य है ॥ ६ ॥

अघायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः ।

नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतुः ॥ ७ ॥

अब ( भरत के अनुरोध से ) राम के अयोध्या लौट चलने पर, सदा सुख भोगने योग्य अथवा कष्ट सहने के अयोग्य मेरे पुत्र लक्ष्मण को, ये सब हीन पुरुषों के करने योग्य कष्टदायी कार्य नहीं करने पड़ेंगे ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले ।

पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

तदनन्तर बड़े बड़े नेत्रवाली देवी कौसल्या ने दक्षिणाग्र कुशों पर रखा हुआ और पिता के लिए दिया हुआ इंगुदी का पिण्ड देखा ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य स ।

उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

जब कौसल्य जी ने देखा कि, राम ने दुःखी हो कर, पिता के लिए भूमि पर वह पिण्ड रखा है, तब वे अन्य सब रानियों से बोलीं ॥ ९ ॥

इदमिच्छाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।

राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥ १० ॥

त्र्युत्तरशततमः सर्गः

६१७

इक्ष्वाकुनाथ महाराज दशरथ के लिए राम ने यथाविधि जो यह पिण्ड दिय़ा है, इसे देखो ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।

नैतदौषयिक मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, देवताओं के समान भोग भोगने वाले महात्मा दशरथ जो के योग्य, यह भोजन तो नहीं है ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो विभुः ।

कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

चारों समुद्रों तक सारी वसुधा को इन्द्र के समान भोग करने वाले महाराज, किस तरह यह इंगुदी का पिण्ड खाँयगे ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किञ्चित्प्रतिभाति मा ।

यत्र रामः पितुर्दयादिङ्गुदीक्षोदःसृद्धिमान् ॥ १२ ॥

हे रानियों ! मुझे तो इससे बढ़ कर और कोई दुःख नहीं जान पड़ता कि, बुद्धिमान् राम ने अपने पिता के लिए इंगुदी की पिट्टी का पिण्ड दिय़ा ॥ १३ ॥

रामेणोङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीच्य मे ।

कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

राम के दिए हुए इस इंगुदी की पिट्टी के पिण्ड को देख, मेरा हृदय क्यों नहीं हजार खण्ड हो कर फट जाता ॥ १४ ॥

श्रुतिस्तु खन्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मा ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः २ ॥ १५ ॥

१ क्षोदं—पिष्टम् । ( रा० ) २ देवताः इतिश्रुतिः सत्येत्यन्वयः ।  
( गो० )



लोग यह कहावत ठीक ही कहा करते हैं कि, मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है, वही वह अपने देव और पितरों को अर्पण करता है ( अर्थात् इंगुदी पिण्ड को केवल पिता ही को नहीं दिया बल्कि राम स्वयं भी वही खाता है ) ॥ १५ ॥

एवमार्ता सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वस्य तां तदा ।

ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के कौसल्या जी के वचन सुनती, वे रानियाँ महारानी कौसल्या को धीरज बँधाती, रामाश्रम में पहुँचीं और वहाँ राम को स्वर्ग से नीचे आए हुए देवता की तरह, बैठे देखा ॥ १६ ॥

सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।

आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककशिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि, राम सब सुखोपयोगी भोग्य पादार्थों को त्यागे बैठे हुए हैं । तब तो वे सब की सब अत्यन्त दुःखी हो कर, उच्चस्वर से रोने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणान्शुभान् ।

मातृणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ और पुरुषसिंह राम ने माताओं को देखते ही उठ कर, उन सब के चरण छुए ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।

प्रममार्ज रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

तब बड़े बड़े नेत्रों वालीं सब रानियों ने, अपनी कोमल अतवय छत्र पर सुख देने वाली हथेलियों से श्रीरामचन्द्र जी की पीठ की धूल पोंछी ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृ : सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।

अभ्यधादयतासक्त १ शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी भी माताओं को देख, अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने राम के बाद, धीरे धीरे अविरत सब माताओं को प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः ।

वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

जिस प्रकार उन रानियों ने राम की पीठ की धूल पोंछी थी, उसी प्रकार उन सब ने शुभलक्षणों वाले लक्ष्मण जी की पीठ की भी धूल पोंछी, क्योंकि लक्ष्मण जी भी तो महाराज दशरथ ही के पुत्र थे ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।

श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर सीता जी ने भी दुःखित हो, आँखों में आँसू भर, साँसों के पैर पकड़े और उनके सामने वे जा खड़ी हुई ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।

वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कष्टों के कारण कृश एवं दीन सीता को, देवी कौसल्या ने अपनी छाती से उसी प्रकार चिपटाया जिस प्रकार माता अपनी बेटो को छाती से चिपटाती है। छाती से लगा कर, कौसल्या जी यह बात कहने लगी ॥ २३ ॥

१ आसक्त—अविरत । ( ग. ० )



१०००

## अयोध्याकाण्डे

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च ।

रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने ॥ २४ ॥

हा ! विदेहराज की बेटी, महाराज दशरथ की बहू और राम की धर्मपत्नी सीता—इस निर्जन वन में कैसे कैसे कष्ट मेल रही है ? ॥ २४ ॥

पद्ममातपसन्तप्तं परिकलिष्टमिवोत्पलम् ।

काञ्चनं रजसा घ्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

हे जानकी ! धूप से मुर्काये हुए कमल की तरह व भीजे हुए लाल कमल की तरह, अथवा धूलधूसरित सुवर्ण की तरह, अथवा बादल में छिपे चन्द्रमा की तरह ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम् ।

भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

तेरे मुख को देख, शोकाग्नि मुझे जलाए डालता है । जिस प्रकार काष्ठ को अग्नि दग्ध करता है उसी प्रकार दुःख रूपी अरणि से उत्पन्न अग्नि, मेरे मन को बिल्कुल भस्म किए डालता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्त्यां जनन्यां भरताग्रजः ।

पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

महारानी कौसल्या दुःखित हो इस प्रकार कह रही थीं कि भरत जी के बड़े भाई राम ने वसिष्ठ जी के पास जा, उनके चरणकमल स्पर्श किए ॥ २७ ॥

३ आश्रय—आश्रयभूत काष्ठादिक । ( गो० )

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा

वृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।

प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः

सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

इन्द्र जिस प्रकार अपने गुरु वृहस्पति के चरण छूते हैं, उसी प्रकार राम भी अग्निसम तेजस्वी पुरोहित वसिष्ठ के चरण स्पर्श कर, उनके साथ आसन पर बैठ गए ॥ २८ ॥

ततोऽजघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः

पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः ।

जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्

उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत जी अपने मंत्रियों, प्रजा के मुखियों और सेनापतियों के साथ राम के पास, उनके आसन से नीचे अपना आसन डाल उस पर बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यावां-

स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।

श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिः

यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

परा भी भरत तेजस्वी राम के समीप बैठ कर, मुनिवेषधारी राम की ओर वैसे ही हाथ जोड़ कर

१ ततोऽजघन्यं—वसिष्ठरामोपवेशादनन्तरं । (गो०)



१००२

एकोनशततमः सर्गः

देखते थे, जैसे देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा के पास हाथ जोड़ कर बैठते और उनकी ओर देखते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं

प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति ।

इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो

बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ जितने विशिष्टजन उपस्थित थे, वे अपने अपने मन में यही सोच रहे थे और उनको यह जानने के लिए बड़ा कौतुक हो रहा था कि, देखें भरत जी हाथ जोड़े हुए आदरपूर्वक श्री रामचन्द्र जी से कहते क्या हैं ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो

महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।

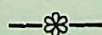
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजुरध्वरे

यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥ ३२ ॥

इति त्र्युत्तरशततमः सर्गः

उस समय सत्यवादी और धृतिवान श्रीरामचन्द्र महानुभाव लक्ष्मण जी और धर्मात्मा भरत जी, सब सुहृदों के साथ शोभित हो रहे थे, मानों यज्ञ में सभासदों के साथ तीनों अग्नि सुशोभित हों ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ



## चतुरुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तं तु रामः समाज्ञाय<sup>१</sup> भ्रातरं गुरुवत्सलम्<sup>२</sup> ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र भरत जी को अपने में अत्यन्त भक्तिमान जान,  
लक्ष्मण के साथ, भरत जी से पूछने लगे ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृत त्वया ।

यस्माच्चभागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम चीर जटा और मृगचर्म धारण कर, इस  
जन में आए हो, सो इसका जो कारण हो, वह मुझे सुनाओ ॥ २ ॥

\*यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।

हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

तुम राज्य छोड़, काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण  
कर जिस लिए यहाँ आए हो—सो सब मुझे बतलाओ ॥ ३ ॥

इत्युक्तः कैकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।

प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीराम न जब भरत से इस प्रकार पूछा, तब भरत  
जी अतिकष्ट से शोक वेग को रोक, हाथ जोड़ कर बोले, ॥ ४ ॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।

गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

---

१ समाज्ञाय—ज्ञात्वा । (गो०) २ गुरुवत्सलं—गुरौस्वस्मिन् भक्त ।  
(गो०) \* पाठान्तरे—“ किन्निमित्तमिमम् ।”



१००४

अयोध्याकाण्डे

हे आर्य ! महाराज पिता जी मेरी माता। कैकेयी के कहने में  
। आ, दुष्कर कर्म कर और पुत्रशोक से विकल हो, स्वर्गवासी  
हुए ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैयेय्या मम मात्रा परन्तप

चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

हे परन्तप ! मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नाश करने  
वाला यह महापाप कर डाला है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्षिता ।

पतिप्यति महाबोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥

सो वह मेरी माता राज्यरूपी फल को न पाने के कारण,  
शोकाकुल और विधवा हो, घोर नरक में गिरेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

अग्निपिशस्व चाद्यैव राज्येन मवमानिव ॥ ८ ॥

वद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, तथापि हूँ तुम्हारा दास । सो  
तुम मुझ पर प्रसन्न हो कर, आज ही अपना राज्याभिषेक करावों  
और इन्द्र की तरह राजसिंहासन पर विराजें ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः ।

त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

देखिए, ये प्रजाजन और ये सब विधवा माताएँ तुम्हारे पास  
आई हुई हैं, अतएव तुम इनको प्रसन्न करो ( अथवा कहना  
मान लो ) ॥ ९ ॥

तदानुपूर्व्याः युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद ।

राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

१ आनुपूर्व्यायुक्तं—ज्येष्ठानुक्रमेणसगत । (गो०)

हे मानद ! तुम ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हो और तुम्हीं को राजगद्दी पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्यभार ग्रहण कर, तुम सुहृज्जनो की कामना पूरी करो ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।

शशिना विमलेनेत्रं शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

जिस प्रकार शरदऋतु की रात विमल चन्द्रमा के द्वारा सधवा होती है, उसी प्रकार यह ससागरा पृथिवी तुमको अपना पति चरण कर सधवा हो जायगी ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवः सार्धं शिरसा याचितो मया ।

भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

मैं तुम्हारा केवल अपना भाई ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मंत्रियों सहित तुमको प्रणाम कर तुमसे यह भिक्षा माँगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ। अतः तुम इनकी प्रार्थना पर ध्यान दो ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वत पित्र्यं सर्वं प्रकृतिमण्डलम् २ ।

पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! परम्परा से मन्त्रिपद प्राप्त एवं प्रतिष्ठा पाने योग्य इन सब मंत्रियों की प्रार्थना तुम अस्वीकृत न करो ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः ।

रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥ १४ ॥

१ प्रकृतीनां—मन्त्रिप्रभृतीनां। (गो०) २ मण्डल—समूह। (गो०)



१००६

## अयोध्याकाण्डे

यह कह महाबाहु कैकेयीनन्दन भरत जी ने नेत्रों में आँसू भर कर, राम के चरणों में पुनः विधिवत् अपना सिर रख दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।

आतरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब राम ने भरत को, जो बार बार मत्त हाथी की तरह साँस ले रहे थे छाती से लगा कर, यह बात कही ॥ १५ ॥

कुलीनः १ सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।

राज्यहेतोः कथं पापमाचरेत्त्वद्विधो जनः ॥ १६ ॥

हे भरत ! तुम जैसा कुलवान्, सतोगुणी व्रतधारी पुरुष, राज्य के लिए क्यों अपने बड़े भाई के अतिकूल आचरण कर, पापका भागी बनना पसंद कर सकता ? ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।

न चापि जननीं बाल्यात्त्वं २ बिगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

अतः हे अरिसूदन ! मुझे तो तुममें जरासा भी दोष नहीं देख पड़ता । बिना समझे वूझे तुमको अपनी माता की भी निन्दा न करनी चाहिए ॥ १७ ॥

कामकारो ३ महाप्राज्ञ गुरुणां सर्वदाऽनघ ।

उपपन्नेषु ४ दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

१ सत्त्वसम्पन्नः—सत्त्वगुण सम्पन्नः । (गो०) २ बाल्यात्—अज्ञानात् । (गो०) ३ कामकारः—स्वच्छन्दकरण । (गो०) ४ उपपन्नेषु—शिष्य-दासदिषु । (गो०)

चतुर्दशतमः सर्गः

१००७

हे पापरहित ! महाप्राज्ञ ! पिता इत्यादि गुरुजन अपने अनुगत शिष्य, दास और स्त्री के साथ जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।

भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

संसार में साधु लोग स्त्री, पुत्र और शिष्यों को जिस प्रकार आज्ञाकारी कह कर मानते हैं, वस वैसे ही, पिता के लेखे, हम भी हैं । यह बात तुम्हें जान लेनी चाहिए ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।

राज्ये वाऽपि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः १ ॥ २० ॥

हे सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं, वे चाहें हमें चीर वसन और मृगचर्म धारण करा वन में रखें, अथवा राज्य में रखें ॥ २० ॥

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृतम् ।

तावद्धर्मभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! जितना गौरव लोकपूजित पिता का है, उतना ही माता का भी है अर्थात् जितना आदर सम्मान पिता का करना चाहिए उतना ही आदर और सम्मान माता का भी करना चाहिए ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।

मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥ २२ ॥

१ ईश्वरः—नियन्ता । (गो०)



१००८

## अयोध्याकाण्डे

हे भरत ! जब इन दोनों धर्मात्मा माता और पिता ने मुझसे कहा कि, वन जाओ, तब भला मैं किस प्रकार उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर अन्यथा कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।

वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

अतः हे भरत ! तुम अयोध्या में जा कर लोगों की सम्मति से राजसिंहासन पर बैठो और मैं वल्कल धारण कर दण्डकवन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसन्निधौ ।

व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

क्योंकि इसी प्रकार से महाराज, लोगों के सामने, तुम्हारा और मेरा बँटवारा कर, स्वर्गवासी हुए हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।

पित्रा दत्तं यथा भागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

इस समय वे धर्मात्मा महाराज लोकों के और तुम्हारे भी गुरु हैं और उनको ऐसा करने का अधिकार है । अतः हे भरत ! तुम पिता के दिए हुए राज्य का उपभोग करो ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।

उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

हे सौम्य ! मैं भी चौदह वर्ष दण्डकवन में वास कर, महात्मा पिता जी का दिया हुआ हिस्सा (वनवास) उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदमवीक्ष मां नरलोकसत्कृतः

पिता महात्मा त्रिबुधाधिपोषमः ।

तदेव मन्ये परमात्मनो हितं

न सर्वलोकेश्वरभावमप्यहम् ॥ २७ ॥

इति चतुर्दशतमः सर्गः ॥

सब लोगों से पूजित महाराज पिता जी ने जो मुझसे कहा है, उसीको मैं अपने लिए परम हितकारी समझता हूँ । पिता की आज्ञा या इच्छा के विरुद्ध सर्वलोकेश्वर का पद भी, मैं अपने लिए हितकारी नहीं समझता ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः ।

शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

इस प्रकार बन्धु बान्धवों और मित्रों के साथ उन राज-कुमारों की—जो अत्यन्त दुःखित थे, रात सोच ही सोच में बीती ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां आतरस्ते सुहृद्वृताः ।

मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

जब सबेरा हुआ, तब उन भाइयों ने बंधुबान्धवों के साथ मन्दाकिनी नदी पर जा स्नान जप होम आदि नित्य कर्म किए । तदनन्तर वे सब के सब पुनः श्रीराम के आश्रम में उपस्थित हुए ॥ २ ॥



तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।

भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सब के सब चुपचाप श्रीराम के पास बैठे थे, कोई किसी से कुछ भी बातचीत नहीं करता था। सन्नाटा सा छाया हुआ था कि, इतने में सुहृदों के बीच बैठे भरत जी ने श्रीराम से कहा ॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।

तददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

हे भाई ! वरदान द्वारा महाराज ने जो राज्य मेरी माता को दे, उसे शान्त किया था, वही राज्य माता ने मुझे दे डाला है। अब मैं वही राज्य तुमको अर्पण करता हूँ। अब तुम इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग करो ॥ ४ ॥

महतेषाम्बुवेगेन भिन्नः सैतुर्जलागमे ।

दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

वर्षाकाल में जल की थपेड़ों से जब बाँध टूट जाता है, तब (सिवाय उस बाँध के) और कोई उस पानी को नहीं रोक सकता। इसी प्रकार तुम्हारे सिवाय इस बड़े राज्य की रक्षा करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः ।

अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥

हे महिपाल ! जिस प्रकार गधा घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गरुड़ की चाल को नहीं पा सकते, उसी प्रकार मैं भी

तुम्हारे राज्यपालन की सामर्थ्य नहीं पा सकता अर्थात् जैसी योग्यता राज्यशासन की तुममें है, वैसी मुझमें नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते ।

राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

हे राम ! जिस राजा की सेवा अन्य लोग करते हैं, जीना उसी का अच्छा है; किन्तु जो राजा औरों की सेवा कर के जीता है, उसका जीवन दुःखमय है । अथवा जिसके पीछे अनेक लोग जीते हैं उसी पुरुष का जीना, जीना है और जो दूसरों के सहारे जीता है, उसका जीना न जीना बराबर है ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः ।

ह्रस्वकेन दुरारोहो रुढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥

स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निदर्शयेत् ॥

स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

जैसे, किसी आदमी ने वृक्ष लगाया और उसे जल से सींच कर बड़ा किया । वह वृक्ष अपनी डालों और शाखाओं को फैला कर ऐसा महावृक्ष हो गया कि, उस पर छोटे डीलडौल का आदमी नहीं चढ़ सकता । वही वृक्ष जब पुष्पित तो हो, किन्तु फल न दे, तो जिस आदमी ने वह पेड़ लगाया था, वह क्योंकर सन्तुष्ट रह सकता है ? ॥ ८ ॥ ९ ॥

एषोपमा महाबाहो तमर्थं वेत्तुमर्हसि ।

यदि त्वमस्मान् वृषभोः भर्ता भृत्यान् शाधि हि ॥ १० ॥

१ वृषभः—भेष्टः । ( शि० ) \* पाठान्तरे—“विदर्शयेत् ।”



हे महाबाहो ! यह एक उपमा है । इसका अर्थ तुम समझ सकते हो । अतः यदि सर्वश्रेष्ठ स्वामी हो कर, तुम हम भृत्यों का शासन नहीं करते ( तो हम लोगों को उस पुरुष की तरह जिम्मे फलप्राप्ति के लिए वह महावृद्ध लगाया था, फल न पाने से, हताश होना पड़ेगा । ) ॥ ६ ॥

श्रेण्यस्त्वां महाराज पश्यन्तव्रज्याश्च सर्वशः ।

प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमस्मिन्दमम् ॥ ११ ॥

तवाऽनुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।

अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! ऐसा करो जिससे ये प्रजा के लोग शत्रुओं के नाश करने वाले तुम को राज्यासन पर तपते हुए सूर्य की तरह बैठा हुआ देखें तथा ये मत्त हाथी चिंवारते हुए तुम्हारे पीछे पीछे चलें और रनवास में सब स्त्रियाँ शान्ति पा कर, हर्षध्वनि करें ॥ ११ ॥ १२ ॥

तस्य साध्वित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।

भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

श्रीराम से भरत जी की, की की हुई प्रार्थना सुन, सब नगर-वासी साधु साधु कहने लगे ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।

रामः कृतात्मा? भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

उन यशस्वी भरत को, दुःखी और विलाप करते हुए देख, धैर्यवान् श्रीराम समझा कर कहने लगे ॥ १४ ॥

१ कृतात्मा—सुशिक्षितबुद्धिः धैर्यवान्वा । ( गो० )

१ नात्मनः कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः ३ ।

इतश्चेतरवश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

हे भरत ! मनुष्य का कुछ वश नहीं है । क्योंकि यह परतंत्र है । काल ( मृत्यु ) इसको इधर से उधर और उधर से इधर खींचा करता है । अर्थात् नाच नचाया करता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्त च जीवितम् ॥ १६ ॥

यावत् सञ्चित पदार्थ नाशवान् हैं, जितने उर्ध्वस्थित जीव हैं वे ( पुण्यक्षय होने पर ) नीचे गिरने वाले हैं । पुत्र, मित्र, कल-त्रादि जिनसे संयोग होता है, अन्त में उनसे वियोग भी होता है और जितने जीवधारी हैं, वे सब मरणशील हैं । अथवा संग्रह और क्षय, उन्नति और अवनति, संयोग और वियोग एवं जन्म और मरण का अटूट सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम् ।

एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पके हुए फल को गिरने से डरना न चाहिए, उसी प्रकार उत्पन्न हुए नर को मरण से डरना न चाहिए । अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है और जो पैदा हुआ है वह मरता ही है ॥ १७ ॥

यथाऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽवसीदति ।

तथैव सीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

१ आत्मनः—पुरुषस्य । ( गो० ) २ कामकार ऐच्छिक व्यापारोस्ति ।

( गो० ) ३ अनीश्वरः—अस्वतन्त्र इत्यर्थः । ( गो० )



जिस प्रकार मज्जवूत खंभों पर अवलंबित घर पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुढ़ापे और मृत्यु के वश में हो, नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।

यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम् ॥ १९ ॥

हे भरत ! जो रात बीत गई वह फिर नहीं लौटती । यमुना का जल जो एक बार समुद्र में मिल गया, वह फिर लौट कर यमुना में नहीं आता ॥ १९ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।

आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

देखो ! ये दिन और रात जो बीतते चले जाते हैं, सो प्राणियों की आयु की अवधि का शीघ्र शीघ्र कम करते जाते हैं । जैसे ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणें, जल को सुखा कर कम कर देती हैं ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।

आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥ २१ ॥

अतः हे भरत ! तुम अपने लिए ( अर्थात् अपनी आत्मा के उद्धार के लिए ) सोचो, तो सोचो, दूसरों के लिए सोच क्यों करते हो ? आयु तो सभी की खटाती है, चाहे कोई बैठा रहे, चाहे चला फिरा करे ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।

गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

मौत मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और दूर जाने पर भी साथ नहीं छोड़ती और साथ जा कर साथ ही लौट भी आती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु बलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।

जरया पुरुषो जीणः किं<sup>१</sup> हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥ २३ ॥

जब शरीर में झुरियाँ पड़ गईं, सिर के केश सफेद हो गए और शरीर जरा से जर्जरित हो गया, तब मनुष्य कर ही क्या सकता है अथवा तब उसके रोके मौत कैसे रुक सकती है अथवा वह किस बल बूते पर दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है ॥ २३ ॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ ।

आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

मनुष्य सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर नित्य ही प्रसन्न होते हैं, किन्तु इससे उनकी आयु घटती है—इस बात को वे नहीं समझते ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्युत्मुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् ।

ऋतूनां परिवर्तन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार वसन्तादि नयी नयी ऋतुओं को देख, मनुष्य प्रसन्न होते हैं किन्तु ऋतुओं की इस अदल बदल से, उनकी उम्र घटती है—यह वे नहीं जानते ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।

समेत्य च व्यपेतायां कालमासाद्य कञ्चन ॥ २६ ॥

---

१ किं हि कृत्वा प्रभावयेत्—किं कृत्वामृत्युनिवर्तने समर्थो भवेत् ।  
( शि० )



एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च ।

समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः<sup>१</sup> ॥ २७ ॥

जिस प्रकार महासागर में अन्य स्थानों से वह कर आयी हुई दो लकड़ियाँ एक स्थान पर पहुँच कर मिल जाती हैं और फिर काल पाकर पृथक् हो इधर उधर बहती चली जाती हैं, इसी प्रकार भार्या, पुत्र, भाईबन्धु और धन सम्पत्ति जो आ कर अपने को मिलते हैं, इन सब का कालान्तर में वियोग होना भी निश्चित ही है ॥ २६ ॥ २७ ॥

नात्र कश्चिद्यथाभावं<sup>२</sup> प्राणी समभिवर्तते ।

तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

हे भरत ! इस संसार में कोई भी प्राणी यथाभिलाष अपने भाईबन्धुओं के साथ सदा नहीं रह सकता, अतः मृतपुरुष के लिए, उसकी मौत को रोकने का सामर्थ्य किसको है जो मरे हुए के लिए शोक किया जाय । अर्थात् मौत पर किसी का वश नहीं । अतः मरे हुए के लिए शोक करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं<sup>३</sup> ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः ।

अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार यात्रियों का दल रास्ते पर चला जाता हो और राह में बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे पीछे हम भी आते हैं ॥ २९ ॥

१ विनाभवः—वियोगः । ( गो० ) २ यथाभावं—न समभिवर्तते । यथाभिलाषं बन्धुभिः सह न वर्तते । ( गो० ) ३ गच्छन्तं सार्थं—पथिक-समूहं । ( गो० )

एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः ।

तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥

इसी प्रकार बाप, दादे, परदादों के चले हुए मार्ग पर आरूढ़ पुरुष को क्यों सोच करना चाहिए । क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और तो कोई गति ही नहीं है ॥३०॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिर्वर्तिनः ।

आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभोजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥

जिस प्रकार नदी की धारा आगे ही बढ़ती जाती है पीछे नहीं लौटती, उसी प्रकार आयु केवल जाता ही है अर्थात् घटता ही है, और आता नहीं अर्थात् बढ़ता नहीं । अतः यह देख कर आत्मा को सुख के साधनभूत धर्म कृत्यों में लगाना उचित है । क्योंकि यह प्रजा सुखभोगी ही कही गई है अर्थात् मनुष्यजन्म धर्मकृत्य करते हुए सुख भोगने के लिए ही कहा गया है अथवा मनुष्यजन्म सुख भोगने ही को होता है ॥३१॥

धर्मात्मा सशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥३२॥

हमारे महाराज पिता जी तो अच्छे मङ्गलरूपी और दक्षिणायुक्त यज्ञों को कर निष्पाप हो स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् ।

अर्थादानाच्च धर्मेण<sup>१</sup> पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥३३॥

१ धर्मेण अर्थादानात्—धर्मेणकरादिग्रहणात् । (गो०)



भृत्यों का भली भाँति भरण-पोषण कर, प्रजा का भली भाँति पालन कर और उनसे धर्मपूर्वक कर लेकर, हमारे पिता स्वर्ग सिधारे हैं ॥३३॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः<sup>१</sup> क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

स्वर्ग दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥३४॥

तालाब, बाबड़ी आदि बनवा, प्रजाजनों के अभीष्ट तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ कर, हमारे पिता महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे हैं ॥३४॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान् ।

उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥३५॥

अनेक प्रकार के यज्ञ कर, तरह तरह के बहुत से भोगों को भोग कर और अच्छा आयु भोग कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं ॥३५॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।

स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥३६॥

हे तात ! अच्छा आयु पा कर, अच्छे भोगों को भोग कर और सज्जनों से सम्मान पा कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं, अतः उनके लिए शोक करना उचित नहीं ॥३६॥

स जीर्णं मनुष्यं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।

दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥३७॥

हमारे पिता जीर्ण शरीर को त्याग कर, ब्रह्मलोक में सुख भोगने वाले देवताओं के शरीर को प्राप्त हुए होंगे ॥३७॥

१ इष्टैः—जनानां स्वस्य चाभिमतैः । (गो०) २ क्षुभैः कर्मभिः—  
बहापथेषु तटाकनिर्माणादिभिः । (गो०)

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति ।

तद्विधो यद्विधश्चासि\* श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥३८॥

अतएव उन पिता जी के लिए शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान् शास्त्र-  
वेत्ता और ज्ञानी पुरुष के लिए उचित नहीं है ॥३८॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा ।

वर्जनीया हि धीरेण सर्वाविस्थासु धीमता ॥३९॥

तुम बुद्धिमान् तथा धैर्यवान् हो अतः तुमको इस प्रकार शोकान्वित  
हो, विलाप करना सर्वथा त्यागना चाहिए ॥३९॥

सस्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।

तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना' वदतांवर ॥४०॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्याग कर, अयोध्यापुरी में जा कर वास  
करो । हे वाग्मिवर ! पिता जी तुमको अयोध्यापुरी में स्वतंत्रतापूर्वक  
रहने की आज्ञा दे गए हैं ॥४०॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।

तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥४१॥

वह पुण्य कर्मों के करने वाले पूज्य पिता मुझे जैसी आज्ञा दे गए हैं,  
तदनुसार मैं भी करूंगा ॥४१॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिन्दम ।

तत्स्वयाऽपि सदा मान्यं स वै बन्धुः स नः पिता ॥४२॥

---

१ वशिना—स्वतंत्रेण । (शि०) \* पाठान्तरे—“अपि” ।  
पाठान्तरे—“शोचीयित्वा ।”



हे शत्रुओं का दमन करने वाले ! मुझको उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं । क्योंकि हमारे पिता, बन्धु और शासनकर्ता होने के कारण, वे हमारे, तुम्हारे दोनों के लिए सदा मान्य हैं ॥४२॥

तद्वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणः ।

कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥४३॥

अतएव मैं तो पिता जी की उसी आज्ञा का, जो धर्मचरण करनेवालों के सम्मत है, वन में वास करके पालन करूँगा ॥४३॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना ।

भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥४४॥

हे पुरुषसिंह ! जो मनुष्य धार्मिक एवं दयालु हैं तथा अपना परलोक बनाने के अभिलाषी हैं, उनको बड़े लोगों का आज्ञाकारी होना चाहिए ॥४४॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ ।

निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥४५॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को स्मरण कर, अपने मन में अब राजधर्म को स्थापित करो । अर्थात् पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए अयोध्या जाकर राज्य करो (शिरोमणिटी-कानुसार) ॥४५॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा

पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।

यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च

प्रभुर्मुहूर्ताद्विरराम रामः ॥४६॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

महात्मा श्रीराम पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए अपने छोटे भाई भरत से इस प्रकार के अर्थर्गभित वचन कह कर, मुहूर्त भर तक चुप रहे ॥४६॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## षडुत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।  
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥१॥  
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः ।  
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिन्दम ॥२॥

प्रजावत्सल श्रीराम, मन्दाकिनी के तट पर जब इस प्रकार के सार्थक वचन कह कर मौन हो गए, तब धर्मात्मा भरत जी श्रीराम जी से, अनेक प्रकार की युक्तियों से पूर्ण एवं धर्मयुक्त वचन बोले । भरत जी ने कहा— हे शत्रुनाशन ! तुम्हारे तुल्य इस लोक में दूसरा कौन होगा ॥१॥२॥

न त्वां प्रव्यथयेद्दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।  
सम्मतश्चासि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥३॥

न तो तुमको दुःख दुःखी कर सकता है और न हर्ष हर्षित कर सकता है । सब बड़े बड़े तुमको मानते हैं, तथापि धर्म के विषय में सन्देह होने पर, तुम उन लोगों से पूछा करते हो ॥३॥

१ चित्रं—अनेकविधयुक्तिविशिष्टं वचः । (शि०)



यथा मृतस्तथा जीवन् यथाऽसति तथा सति ।

यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥४॥

जिसके लेखे जैसे मरा हुआ आदमी वैसे ही जीता हुआ आदमी हो या जो यह समझ रहा हो कि, यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या और न रहा तो क्या, ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिए सन्ताप होने लगा ? ॥४॥

परावरजो यश्च स्याद्यथा त्वं मनुजाधिप ।

स एवं व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥५॥

हे नराधिप ! तुम सरीखा त्रिकालज्ञ अथवा जीवात्मा परमात्मा का रूप जानने वाला पुरुष, दुःख पड़ने पर भी, विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥५॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्गरः ।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव । ॥६॥

हे राघव ! तुम देवताओं की तरह सतोगुणी और महाधैर्यवान् होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ हो, तुम सब जानने वाले, सब कुछ देखने वाले और बुद्धिमान् हो ॥६॥

न त्वामेवं गुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् ।

अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति ॥७॥

१ परावरजः—त्रिकालज्ञः परमात्मजीवात्मस्वरूपज्ञो वा (गो०) २ प्रभवाभवकोविदम्—प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणतत्त्वज्ञाननिपुणम् । (शि०) ३ अविषह्यतमं—अन्यैरसह्यमपि । (शि०)

ऐसे गुणों से युक्त होने के कारण तुम जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणों को भली भाँति जानने वाले हो। अतः तुमको वे दुःख भी, जो अन्य लोगों को असह्य हैं, नहीं सता सकते ॥७॥

[एवमुक्त्वा तु भरतो रामं पुनरथाब्रवीत् ।]

प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा सत्कारणात्कृतम् ॥८॥

क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥९॥

यह कह कर भरत जी ने श्रीराम से फिर यह कहा कि मेरे विवेश में रहते समय मेरी इस नीच माता ने जो पाप मेरे लिए किया है, वह मेरे लिए अनिष्टकारक है अथवा मुझे इष्ट नहीं है, अतः मेरे ऊपर तुम प्रसन्न हो। क्या कहीं मैं धर्मबन्धन से बँधा हूँ नहीं तो मैं इस माता को ॥८॥९॥

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ।

कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः ॥१०॥

जानन् धर्ममधर्मिष्ठं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ।

गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ॥११॥

जो पाप करने वाली होने के कारण, दण्ड पाने योग्य है, कठोर दण्ड दे मार डालता। मैं ऐसे कुलीन एवं धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ के औरस से उत्पन्न हूँ। क्या धर्म है और क्या अधर्म, यह जान कर मुझे यह निन्दित कर्म करते नहीं बन पड़ता। सब यज्ञों की क्रियाओं के करने वाले, पूज्य और वृद्ध महाराज पिता जी परलोकवासी हुए ॥१०॥११॥

१ क्रियावान्—यज्ञादिक्रियावान्। (गो०)



तातं न परिगर्हेयं दैवतं चेति संसदि ।

को हि धर्मार्थयोर्हो नमीदृशं कर्म कित्विषम् ॥१२॥

अतः सब के सामने सभा में उनकी निन्दा करना उचित नहीं, किन्तु कौन ऐसा पुरुष होगा जो धर्म और अर्थ से रहित ऐसे पाप कर्म, ॥१२॥

स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन् कुर्याद्धर्मज्ञधर्मवित् ।

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति<sup>१</sup> पुराश्रुतिः ॥१३॥

धर्मज्ञों के धर्म को जान कर भी, स्त्री की प्रीति की कामना से करेगा । हे धर्मज्ञ ! यह एक पुरानी कहावत है कि, मरने वाले की बुद्धि बिगड़ जाती है ॥१३॥

राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता ।

साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान् मोहाच्च साहसात् ॥१४॥

तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्भवान्\* ।

पितुर्हि\* समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ॥१५॥

सो महाराज ने यह कर्म कर, यह कहावत चरितार्थ करके लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दी । महाराज ने भले ही कैंकेयी के कुपित हो कर विष खाकर मर जाने के भय से, अथवा अपने चित्त के विक्षेप से, अथवा लोगों के बिना पूछे ही, यह कर्म किया हो, परन्तु अब आप उनके इस

१ अन्तकाले—विनाशकाले । (गो०) २ मुह्यन्ति—विपरीतबुद्धिं प्राप्नुवन्ति । (गो०) ३ साध्वर्थं अभिसंधाय—समीचीनार्थं स्मृत्वा (गो०) ४ तातस्य यदतिक्रान्तं यद्धर्मातिक्रमणं । (गो०) ५ तद्भवान् प्रत्याहरतु—निवर्तयतु । (गा०) \* पाठान्तरे—“यदतिक्रान्त” ।

एव को ठीक समझ, अन्यथा विचार न कीजिए। क्योंकि जो पुत्र पिता की भूलचूक को भी ठीक मान लेता है ॥१४॥१५॥

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ।

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः ॥१६॥

लोक में वही पुत्र, पुत्र माना जाता है। इसके विपरीत करने वाला पुत्र, पुत्र नहीं माना जाता। आप उनके पुत्र हैं अतः उनकी भूलचूक पर ध्यान न दें ॥१६॥

अभिपत्ता कृतं कर्म लोके धीरविर्गाहितम् ।

कैकेयी मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ॥१७॥

और उनके उस लोकनिन्दित कर्म को छिपावें। कैकेयी को मुझको, पिता को, सुहृदों को तथा हमारे भाईबंधों को ॥१७॥

पौरजानपदान् सर्वांस्त्रातु सर्वमिदं भवान् ।

क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम् ॥१८॥

तथा पुरजन आदि सब को आप इस अपवाद से बचा लीजिए। हे भाई ! कहीं तो क्षात्रधर्म और कहीं यह जनशून्य वनवास ! कहां जटा-धारण और कहीं प्रजापालन ? ॥१८॥

ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुं मर्हति ।

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ॥१९॥

अतः आप इन परस्परविरोधी कार्यों को न कीजिए। क्योंकि क्षत्रिय का सर्वप्रथम कर्तव्य कर्म यही है कि, वह अपना अभिषेक करावे ॥१९॥

१ व्याहतं—विरुद्धं (शि०)

बा० रा०—६५



[टिप्पणी—क्षत्रियों के लिए वानप्रस्थधर्मपालन का निषेध नहीं तब भरत जी ने वनवास का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान भरत जी ने स्वयं ही यह कह कर किया है कि वानप्रस्थ होने के पूर्व क्षत्रिय को प्रजापालन करना चाहिए आश्रमधर्मपालन में वर्णधर्म की अवहेलना नहीं होनी चाहिए ।]

येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ।

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम् ॥२०॥

जिससे वह प्रजा का पालन कर सके । भला बतलाइये तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म को छोड़, अप्रत्यक्ष और सुखों से रहित ॥२०॥

आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ।

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ॥२१॥

एवं कालान्तर में फल देने वाले, अनिश्चित धर्म-कर्म का करना कौन क्षत्रिय स्वीकार करेगा ? अथवा यदि आप शरीर को कष्ट देने वाला ऐसा धर्माचरण करना चाहते हैं ॥२१॥

धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठामाश्रमम् ॥२२॥

प्राहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि ।

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम् ॥२३॥

तो धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट तुम स्वीकार करो । क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारों आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

- 
- १ संशयस्थं—अप्रत्यक्षं । ( गो० ) २ अलक्षणं—लक्षणरहितं । ( गो० ) ३ आयतिस्थं—कालान्तर-भाविकफलं । ( गो० ) अनिश्चितं । ( शि० ) ४ श्रुतेन—विद्यया ; ( गो० ) ५ स्थानेन—पदेन । ( गो० )

वानप्रस्थ और संन्यस्त—ये चार आश्रम हैं) गृहस्थ आश्रम ही को, धर्मज्ञ लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं। तब इस सर्वोत्तम आश्रम को आप क्यों छोड़ना चाहते हैं? देखिये, क्या बिल्ला में, क्या पक्ष में और क्या वय में, मैं तुम्हारे सामने बालक हूँ ॥२२॥२३॥

स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ।

हीनबुद्धिगुणो<sup>१</sup> बालो हीनः स्थानेन चाप्यहम् ॥२४॥

मैं, आपके रहते, किस तरह पृथिवी का पालन कर सकता हूँ? मैं बुद्धिहीन और सद्गुणहीन हूँ और आपसे मैं पक्ष में भी नीचा हूँ और बालक हूँ ॥२४॥

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ।

इदं निखिलमव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् ॥२५॥

अतः मैं आप के बिना रह भी नहीं सकता। फिर राज्य करने की बात तो जाने ही दीजिए। अथवा मैं आपके बिना जी भी नहीं सकता, राज्यपालन करना तो दूर रहा। अतः पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्कण्टक राज्य का ॥२५॥

अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ।

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ॥२६॥

ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रवन् मन्त्रकोविदाः ।

अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज ॥२७॥

हे धर्मज्ञ! आप ही बंधुबान्धवों सहित धर्म से पालन कीजिए। यहीं पर, हे मन्त्र के जानने वाले! प्रजाजन, वसिष्ठ और मन्त्रिगण सहित बैदिक

१ हीनबुद्धिगुणः—सद्गुणबुद्धिरहितः। ( गो० ) २ वर्तयितुं—  
स्थातुं। ( गो० )



मंत्रों के ज्ञाता ऋत्विक् तुम्हारा अभिषेक कर दें और तुम अभिषिक्त हो कर, हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने चलो ॥२६॥२७॥

विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ।

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहम् ॥२८॥

सुहृदस्तपयन् कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ।

अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ॥२९॥

जिस प्रकार अपने शत्रुओं को जीत, इन्द्र ने मरुद्गणों के सहित स्वर्ग में प्रवेश किया था, उसी प्रकार तुम भी हम लोगों के साथ अयोध्या में प्रवेश करो । देवऋण ऋषिऋण और पितृऋण—इन तीनों ऋणों से उऋण हो शत्रुओं को भस्म कर सुहृदों की मनोकामना पूर्ण करते हुए, मुझे अपना सेवक बना, आज्ञा दिया करो । हे आर्य ! आज तुम्हारे अभिषेक से सुहृद लोग हर्षित हों ॥२८॥२९॥

अद्य भीताः पलायन्तां दुर्हृदस्ते दिशो दश ।

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ॥३०॥

और तुम्हारे शत्रु भयभीत हो दसों दिशाओं में भाग जायें । हे पुरुष श्रेष्ठ ! तुम को वनवास दिलाने का जो कलङ्क मेरी माता को लगा है, उसको तुम वो डालो ॥३०॥

अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ।

शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व कुरुणां मयि ।

बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥३१॥

[टिप्पणी—कहीं श्रीराम के लिए “भवान्” और कहीं ‘त्वा ते’ सर्वनामों का प्रयोग होने से सर्वत्र आप या तुम का व्यवहार हो नहीं सका ।]

१ दुर्हृदः—शत्रून् । (गो०) २ आक्रोशं—निन्दा । (रा०)

और पूज्य पिता जी को भी पाप से बचाइये । देखिये ! मैं अपना भस्त्रक नवा तुम से यह याचना कर रहा हूँ । जिस प्रकार महेश्वर\*—विष्णु सब प्राणियों पर दया करते हैं, उसी प्रकार आप भी, मेरे और सब भाईबंधों के ऊपर कृपा कीजिए ॥३१॥

[टिप्पणी—यद्वेदादी स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥

भूषणटीकाकार ने “महेश्वर” का अर्थ श्रुति-इतिहास प्रमाणों से विष्णु प्रतिपादित किया है—इतर टीकाकारों ने महेश्वर का अर्थ वृषभ-ध्वज शिव या महादेव किया है ।]

अथैतत्पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।

गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥३२॥

यदि मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर, यहां से आप दूसरे वन को चले जायेंगे, तो मैं भी आप के साथ ही साथ चलूंगा ॥३२॥

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता

प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।

न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्

मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः ॥३३॥

यद्यपि भरत जी इस प्रकार गिड़गिड़ा और चरणों पर अपना सिर बारबार रख कर, श्रीराम को मना रहे थे, तथापि श्रीराम पिता के वचन पर ऐसे अटल थे कि, वे जरा भी उससे विचलित न हुए अथवा किसी प्रकार भी अग्रोष्या लोट जाना उन्होंने स्वीकार न किया ॥३३॥



तदद्भुतं स्थैर्यवेक्ष्यम राघवे

समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।

न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्

स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥३४॥

जो लोग वहाँ उस समय उपस्थित थे वे श्रीरामचन्द्र जी के विचार की दृढ़ता को देख, हर्ष-विषाद में एक साथ मग्न हो गए । वे दुःखित तो इसलिए थे कि श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं करते थे, साथ ही हर्ष उनको इस बात का था कि, श्रीराम दृढ़बुद्धि हैं ॥३४॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभाः

तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।

तथा\* ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः

प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥३५॥

इति षडुत्तरशततमः सर्गः ॥

व्यापारियों के मुखिया, वेदपाठी ब्राह्मण, अथवा ऋत्विज लोग मूर्छित हो गए तथा रुदन करती हुई माताएँ भरत जी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़ कर भरत जी की ओर से श्रीराम को मनाने लगीं ॥३५॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ

—:—

\* पाठान्तरे—“तदा ।

## सप्तोत्तरशततमः सर्गः

--: ०० :--

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।

प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्जातिमध्येऽभिसत्कृतः ॥१॥

जब भरत जी ने फिर कुछ कहना चाहा, तब भरत जी से स्तुति द्वारा भली भाँति सत्कार किए गए श्रीराम अपनी जाति के लोगों के सामने उनसे कहने लगे ॥१॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषथाः ।

जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥२॥

हे भरत ! तुम नृपोत्तम महाराज दशरथ जी से, कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, अतः जो तुम कहते हो सो सब ठीक है ॥२॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्रहन् ।

मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥३॥

पूर्वकाल में जब हमारे पिता दशरथ जी तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गये थे तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि, तुम्हारी बेटा के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यसिंहासन पर बैठेगा ॥३॥

[टिप्पणी—महाराज दशरथ का ऐसी प्रतिज्ञा करना अनुचित न था । क्योंकि कैकेयी के साथ उनका विवाह ढलती उमर में हुआ था । अन्य रानियों के साथ बहुत दिनों रह कर, वे पुत्रोत्पन्न होने से निराश हो चुके थे । कैकेयी के साथ विवाह पुत्र की कामना ही से किया था । अतः उनका ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक ही था ।

१ अभिसत्कृतः—भरतेन स्तोत्रादिना सम्यगभिपूजितः । (गो०)



यदि यहाँ यह कोई कहे कि, जब महाराज कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही को राज्य देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे, तब श्रीराम को युवराजपद देने की तैयारियाँ उन्होंने क्यों कीं ? इस शङ्का का समाधान स्मृतिकारों के इस वचन से होता है—

“उद्धाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणव्यये सर्वधनापहारे ।

विप्रस्य चार्थेऽप्यनृतंवदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥”

[इसके अतिरिक्त महाराज अपने कुल की परम्परागत प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को राजसिंहासन देने के लिए भी बाध्य थे । यदि वे इस प्रथा के विरुद्ध कार्य करते, तो प्रजा उनके इस अनुचित कार्य का घोर विरोध करती और उनकी निन्दा करती जैसे कि प्रजा ने श्री राम के वनवास के समय किया भी था । फिर एक बात और भी है । जिस समय कैकेयी के पिता के साथ दशरथ ने उक्त प्रतिज्ञा की थी उस समय उन्हें यह ज्ञान न था कि उनकी उन रानियों से पुत्र होंगे जिनके इतने दीर्घकाल तक नहीं हुए थे ।]

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।

सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥४॥

इसके अतिरिक्त, देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिता जी ने उन्हें दो वरदान देने कहे थे ॥४॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।

अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥५॥

अतः हे नरश्रेष्ठ ! यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलने वाली तुम्हारी माता ने, पिता जी को वचनबद्ध कर उनसे दोनों वर मांगे ॥५॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा ।

तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ ॥६॥

हे पुरुषसिंह ! एक वर से तुम्हारे लिए राज्य और दूसरे से मेरे लिए वनवास । महाराज ने भी माँगने पर इन दोनों वरों को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ॥ ६ ॥

तेन पित्राऽहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

हे नरवर ! उसी वरदान के कारण पिता की आज्ञा से मैंने चौदह वर्ष वन में वास करना स्वीकार किया ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।

सीतया ऽचाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

और पिता जी के वचन को सत्य करने के लिए सीता और लक्ष्मण को साथ ले और सर्दी गर्मी दुःख सुख की कुछ भी परवाह न कर, मैं इस निर्जन वन में चला आया हूँ ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।

कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! आप भी अपना शीघ्र राज्याभिषेक करवा कर मेरी तरह पिता जी को सत्यवादी बनाओ ॥ ९ ॥

टिप्पणी—यहाँ श्रीराम ने भरत को “भवान्” कहा है । यह इस लिए कि वे उनको अयोध्या का न्यायतः अधिकारी समझते हैं । ]

ऋणान् मौच्य राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।

पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

हे भरत ! मेरी प्रसन्नता के लिए तुम धर्मज्ञ महाराज को इस ऋण से उच्छ्रण करो । साथ ही स्वयं राज्यासन पर बैठ कर माता कैकेयी को भी, प्रसन्न करो ॥ १० ॥

१ अप्रतिद्वन्द्वः—शीतोष्णादिवाधारहितोऽहं ( शि० )



श्रयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना । ०

गयेन यजमानेन गयेष्येव पितॄन् प्रति ॥ ११ ॥

हे तात ! सुना है कि, पूर्वकाल में गय नाम के एक बरासी राजा गया प्रदेश में यज्ञ करते थे । उन्होंने पितरों से यह वाक्य कहा था कि, ॥ ११ ॥

पुत्राम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः १पितृ न्यत्पाति वा सुतः ॥ १२ ॥

पुत्र पिता को पुत्राम नरक से उद्धार करता है और पितरों के उद्देश्य से इष्ट पूर्त कार्यों को कर, पितरों को स्वर्ग में भेज सब कार से पितरों की रक्षा करता रहता है । इसीसे उसको पुत्र कहते हैं ॥ २ ॥

[ नोट—इष्टापूर्त का विवरण स्मृतियों में यह लिखा है—

पूर्त—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्या प्रचक्षते ॥

इष्ट—एकाग्नि कर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।

अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥

एष्टन्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।

तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गुण्यां व्रजेत् ॥ १३ ॥

इसीसे लोग विद्वान् और गुणवान् बहुत से पुत्रों की चाहना करते हैं कि, उनमें से कोई पुत्र तो गया जा कर श्राद्धादि द्वारा पितरों का उद्धार करेगा ॥ १३ ॥

१ पितृन् पाति—तदुद्देशकृतेष्टापूर्तादिना स्वर्लोकं प्राप्यन्वरक्षतीत्यर्थः । ( गो० )

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन ।

तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो ॥ १४ ॥

हे राजनन्दन ! सब राजर्षियों का इस बात पर विश्वास है ।  
अतः हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जो का नरक से उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरनुरञ्जय ।

शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

हे भरत ! तुम शत्रुघ्न को तथा सब ब्राह्मणादि प्रजा को साथ  
ले कर, अयोध्या में जा कर, प्रजाओं को आनन्दित करो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्य दण्डकारण्यमहमप्यत्रिलम्बयन् ।

आभ्यां तु सहितो राजन् वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

हे राजन् ! मैं भी सीता और लक्ष्मण को साथ ले अब शीघ्र  
दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां

वन्यानामहमपि राजराण्यगणानाम् ।

गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः

सहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

हे भरत ! तुम मनुष्यों के राजा हो और मैं वनमृगों के  
राजाओं का राजा हूँगा । तुम प्रसन्न हो अब श्रेष्ठ नगरी अयोध्या  
को गमन करो और मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकवन में प्रवेश  
करूँगा ॥ १७ ॥

[ टिप्पणी—भरत ने अपने कथन में जो समाधान किया है उस  
पर राम की उक्तियों का कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता । यद्यपि अन्त में  
वही जो भरत ने कहा था अर्थात् भरत ने कहा महाराज का दिया  
हुआ राज्य मैं ग्रहण करता हूँ । साथ ही उस राज्य को मैं अपनी



और से आपको अर्पण करता हूँ । बात ठीक थी—क्योंकि जो वस्तु न्यायतः किसी की है—उस वस्तु को वह किसी को दे भी सकता है । यदि ऐसा न होता तो वनवास के अनन्तर राम को अयोध्या का राज्य लेना ही था । किन्तु अभी राज्य ले लेने से महाराज दशरथ का कैकेयी को दिए हुए वरदान की अवहेलना होती थी—१४ वर्ष वनवास न होता । अतः मर्यादारक्षक राम ने महाराज दशरथ की बात रखी और भरत की प्रार्थना स्वीकार की । ]

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं

१ वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।

एतेषामहमपि काननद्रुमाणां

छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये ॥ १८ ॥

सूर्य के आतप को रोकने वाले राजछत्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करें और मैं जङ्गल के इन पेड़ों की सघन छाया का आश्रम ग्रहण करूँगा ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः

सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।

चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं

सत्यस्थं भरत चराम मा विषादम् ॥ १९ ॥

इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! यह अमितबुद्धि वाले शत्रुघ्न तुम्हारे सहायक रहेंगे और सर्वलोकों में प्रसिद्ध यह लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे । इस प्रकार नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथ के हम चारों पुत्र, महाराज दशरथ को सत्यवादी करें । अतः अब तुम विषादयुक्त मत हो ॥ १९ ॥

१ वर्षत्रं—छत्र । ( गो० ) २ चराम—करवामेत्यर्थः ( गो० )

[ नोट — इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को निरुत्तरित कर दिया, तब भरत जी को चुप देख, उनके पक्ष का समर्थन करते हुए जावालि जी ने चार्वाक मत के आधार पर का श्रीरामचन्द्र जी को जो उपदेश दिया था यह आगे के १०८ वें अध्याय में है । ]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

## अष्टोत्तरशततमः सर्गः

—:❀:—

आश्वासयन्तं भरतं जावालिब्राह्मणोत्तमः

उवाच रामं धर्मज्ञ धर्मपितमिदं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी से जावालि नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ये धर्मविरुद्ध वचन कहे ॥१॥

(टिप्पणी—इस श्लोक में जावालि का एक ब्राह्मणोत्तम का विशेषण है । यह ध्यान देने की बात है कि जावालि ऋषि नहीं ये एक ब्राह्मण थे । इनकी चाटुकारिता निन्द्य है ।

साधु राघव मा भूते बुद्धिरेवं निरर्थिकार ।

प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेर्मनस्विनः ॥ २ ॥

वाह महाराज वाह ! आपकी तो पामरजनों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिए । क्योंकि आप केवल श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, किन्तु मनस्वी भी हैं ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।

यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

१ धर्मपित—धर्ममार्गविरुद्धं । ( रा० ) २ निरर्थिका—परमार्थ रहिता । ( शि० )



भला जरा सोचिए तो, कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बना बिगाड़ सकता है । यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ॥ ३ ॥

तस्मात् माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।

उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्वि कस्यचित् ॥ ४ ॥

अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—ऐसा सम्बन्ध मान कर जो पुरुष इन सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल की समझना चाहिए क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच मुच कोई भी किसी का नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्कचिद्वसेत् ।

उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गाँव से दूसरे गाँव को जाता हुआ, कहीं मार्ग में ठहर जाता है और अगले दिन उस स्थान को छोड़ चल देता है ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।

आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पिता माता, घर और धनादि सम्पत्ति के साथ भी मनुष्य का थोड़ी देर का टिकाऊ सम्बन्ध है । अतएव सज्जन लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम ।

अस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

अतएव हे नरोत्तम ! तुम पिता के राज्य को छोड़, इस कुमार्ग पर, जो दुःख देने वाला, युवावस्था के अयोग्य और बहुकण्टकों से परिपूर्ण है, आरुढ़ होने योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

१ विषमं—यौवनानुचितं । (गो०) २ एकवेणीधरा—व्रतपरायण-  
त्यर्थः (गो०) ३ नगरी—तदधिदेवता । (गो०)

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।

रणकवेणीधरा हि त्वां नगरीं सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

तुम तो चल कर अब धनधान्ययुक्त अयोध्या में अपना अभिषेक करवाओ । क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पति-व्रतधारण कर तुम्हारे आगमन की वाट जोह रही है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान्पार्थिवात्मज ।

विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

हे राजकुमार ! तुम बढ़िया बढ़िया राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करो और अयोध्या में उसी प्रकार विहार करो जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करते हैं ॥ ९ ॥

न ते कश्चिददशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।

अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात्कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

न तो अब दशरथ तुम्हारे कोई हैं और न तुम दशरथ के कोई हो । राजा कोई और है और तुम कोई और हो । इसलिए मैं जो कहता हूँ उसे करो ॥ १० ॥

बीजमात्र पिता जन्तोः शुक्रं रुधिरमेव च ।

संयुक्तमृतुमन् मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

प्राणी के जन्म में पिता तो वीर्य का एक कारणमात्र है । क्योंकि ऋतुमती माता के गर्भ में एकत्र हो मिला हुआ वीर्य और रज ही जीव के जन्म का हेतु है ॥ ११ ॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।

प्रवृत्तिरेषा मर्त्यानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

१ प्रवृत्तिः—स्वभाव इत्यर्थः । (गो०) २ मर्त्यानां—मरणशीलानां (गो०) ३ त्वं तु मिथ्याविहन्यसे—मिथ्याभूतेन संबन्धेन पीड्यसे । (गो०)



वे महाराज तो जहाँ उनको जाना था वहाँ गए । क्योंकि मरणशील प्राणियों का स्वभाव ही यह है । तुम वृथा ही इस झूठे सम्बन्ध को ले, पीड़ित होते हो ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान् ।

ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे ॥ १३ ॥

जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्याग कर, आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोग कर, धर्मोपार्जन करते हैं और ऐसा करते करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्हीं लोगों के लिए दुःख है औरों के लिए नहीं अथवा मुझे उन लोगों के लिए शोक है जो प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को त्याग अप्रत्यक्ष धर्म सम्पादन में तत्पर रह कर, इसलोक में तो दुःख भोगते ही हैं, किन्तु वे नष्ट होने पर भी दुःख भोगते हैं । औरों के लिए नहीं ॥ १३ ॥

अष्टका पितृदैवत्यवित्ययं प्रसृतो जनः ।

अन्नस्योपद्रव २ पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

देखिए, लोग जो अष्टकादि श्राद्धकर्म पितरों के उद्देश्य से, प्रतिवर्ष किआ करते हैं, उससे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं । भला कहीं कोई मरा हुआ भी कभी भोजन करता है ? ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।

दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता तो बटोही को रास्ते में भोजन करने के लिए, भोज्य पदार्थ (पाथेय)

१ अर्थधर्मपरा:-प्रत्यक्षसौख्यं विहाय केवलार्थसम्पादनपराः । (गो०)

२ उपद्रवं—क्षय । (गो०)

अपने साथ लेने की जरूरत ही क्या है ? क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम पर घर पर ही श्राद्ध कर दिआ करते और वही उस बटोहीके लिए, मार्ग में भोजन का काम देता और बटोही बोझ ढोने से बच जाता ॥ १५ ॥

१ दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः २ कृताः ।

यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने, दान द्वारा लोगों को वश में करने के लिए, धर्मग्रन्थों में लिख रखा है कि, यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा दे कर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।

प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

हे महामते ! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है । इसे आप भली भाँति समझ लीजिए । अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिए और परोक्ष की बात ( कि पिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा, ) को भुला दीजिए ॥ १७ ॥

१ दानसंवननाः— दानायवशीकरूपोपायाः । (गो०) २ मेधा-विभिः— परद्रव्यग्रहणकुशलबुद्धिभिः । (गो०)

वा० रा०—६६



सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्<sup>१</sup> ।

राज्यं त्वं प्रतिगृहीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

देखो भरत जी तुमसे प्रार्थना करते हैं, अतः सर्व जनान् मोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर, राज्य ग्रहण करो ॥१८॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

## नवोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यात्मनां वरः ।

उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नया<sup>३</sup> ॥१॥

जावालि की बातें सुन, सत्यभाव वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए, वैदिक धर्म में श्राद्ध उत्पन्न करने वाले वचन बोले ॥ १ ॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।

आकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसम्मितम् ॥ २ ॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिए जो बातें कहीं, वे कार्य रूप में परिणत करने के लिए अनुपयुक्त और न्याय के विरुद्ध

१ सर्वलोकनिदर्शिनीम्—सर्वजनसंमतमित्यर्थः । (गो०) १ सत्यात्मनां वरः—सत्यस्वभावानां श्रेष्ठः । (रा०) सत्यात्मनां भक्त्या—वैदिक-धर्मश्रद्धया । (गो०) ३ अविपन्नया—अचलितया । (गो०)

होने पर भी, साधारण दृष्टि से देखने पर, न्यायानुमोदित और करने योग्य ज्ञान पड़ती हैं अर्थात् आपकी सब बातें बनावटी हैं ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।

मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

मर्यादारहित, पापाचरण से युक्त, चरित्रहीन और साधु-सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाले पुरुष का सज्जनों के समाज में आदर नहीं होता ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।

चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥४॥

चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन प्रसिद्ध करता है ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसङ्काशः शौचाद्वीनस्तथा शुचिः ।

लक्षणयवदलक्षणयो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥

अधर्मं धर्मं वेपेण यदीमं १ ल कसङ्करम् ।

अभिपत्स्ये शुभं २ हित्वा क्रियाविधिविवर्जितम् ३ ॥६॥

कश्चेतयानः ४ पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।

बहुमंस्यति मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

१ लोकसंकरम्—लोकसङ्करकारकम् । (गो०) २ शुभं—शुभसाधन वैदिकधर्मम् । (गो०) ३ क्रियाविधिविवर्जितम्—वैदिकक्रिययावेदविधिना च वर्जितं इमत्त्वदुक्तमधर्मम् । (गो०) ४ चेतयानः—ज्ञानवान् । (गो०)



यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा में न रह कर, अनार्यो की तरह, पवित्र हो कर, शौचहीन की तरह और शीलवान हो कर, दुःशील की तरह, धर्म के वेप में वैदिक धर्म को छोड़, लोगों में सङ्करता बढ़ाने वाली, वैदिक विधि और वैदिक क्रिया से रहित हो आपके बतलाए हुए धर्म को ग्रहण करूँ, तो कार्य अकार्य को जानने वाला कौन ज्ञानवान पुरुष, मुक्त दुराचारी और लोक-निन्दित का सम्मान करेगा ? ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कस्य धास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।

अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञ-पालन-हीन वृत्ति को अवलंबन कर लूँ तो, मैं किस कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥ ९ ॥

जब मैं (ही) यथेच्छाचारी हो गया, तब (अन्य) सब लोग मनमाना काम करने लगेंगे । क्योंकि राजा का जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण प्रजा का भी हो जाता है । ( यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है ) ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

भूतानुकम्पा प्रधान और सनातन राजधर्म सत्यरूप है, अतः राज्य सत्यरूप है और सत्य ही से यह लोक टिका हुआ है ॥ १० ॥

१ अनृशंसं—भूतानुकम्पाप्रधानं सनातनं च राजवृत्तं सत्यरूपमेव ।  
 ( गो० )

[ नोट—अर्थात् राजा का धर्म है कि वह प्राणि मात्र पर दयायुक्त व्यवहार करे और अपने व्यवहार में असत्य को स्थान न दे । राजधर्म में झूठ बोलना निषिद्ध है । भूतानुकम्पाप्रधान एवं सत्यरूप राजधर्म अनादिसिद्ध है । यदि सत्यव्यवहार लुप्त हो जाय तो इस लोक में एक क्षण भी रहना कठिन हो जाय । ]

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे<sup>१</sup> ।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परमं गच्छति क्षयम् ॥११॥

देखो ऋषि लोग और देवता लोग सत्य को उत्कृष्ट मानते हैं; क्योंकि सत्यवादी पुरुष को अक्षय्य ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते<sup>२</sup> यथा सर्पान्नादनुत्तवादिनः ।

धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

मिथ्यावादी पुरुष से लोग वैसे ही डरते हैं जैसे साँप से । सत्य से युक्त धर्म केवल समस्त लौकिक व्यवहारों ही का मूल नहीं है, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी मूल साधन है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा श्रिता सदा ।

सत्य मूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्<sup>४</sup> ॥१३॥

सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी-धन धान्य मिलता है । सत्य ही सब सुखों का मूल है, सत्य से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं है, जिसका आश्रय लिखा जाय ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।

वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

१ मेनिरे—उत्कृष्टमितिशेषः । ( गो० ) २ परमं क्षयम्—परम-धाम । ( गो० ) ३ उद्विजन्ते—जना इतिशेषः । ( गो० ) ४ पदम्—आश्रयं । ( शि० )



१०४६

अयोध्याकाण्डे

दान, यज्ञ, तप और वेद—ये सब सत्य हैं, अतएव सब को सदा सत्य पालन के लिए तैयार रहना चाहिए ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।

मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

कोई तो अपने कर्मों के फल से अपने कुल का और कोई लोक भर का पालन करता है । कोई नरक में डूबता है और कोई स्वर्ग में पूजित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्नियोगं तु किमर्थं नानुपालये ।

सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतः ॥ १६ ॥

अतएव मैं ( कर्मफल को जानता हुआ और ) सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा करके, सत्यप्रतिज्ञ और सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का, जिसके पालन की प्रतिज्ञा सत्यता-पूर्वक की गई है, पालन क्यों न करूँ ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।

सेतुं<sup>१</sup> सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः<sup>२</sup> सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आ और न अज्ञान से क्रोध के वशवर्ती हो, पिता की सत्य-रूपी मर्यादा को तोड़ूँगा, क्योंकि मैं स्वयं सत्यप्रतिज्ञा हूँ ॥ १७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।

नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

१ सेतुं—मर्यादां । ( गो० ) २ गुरोः—पितुः । ( शि० )

मैंने सुना है कि, जो सत्यप्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाला, चञ्चल स्वभाव और अस्थिरचित्त है, उसका दिआ हुआ हव्य और कव्य देवता और पितर ग्रहण नहीं करते ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिम धर्मं सत्यं पश्याम्यहं स्वयम् ।

भारः १ सत्पुरुषाचीर्णस्तदर्थमभिमन्यते २ ॥ १९ ॥

मेरी समझ में प्रत्येक जीवधारी के लिए सत्यपालन रूपही धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है । जिस सत्यपालन रूपी धर्मभार या वनवास रूपी धर्मभार को पूर्वकाल के सत्पुरुष उठा चुके हैं उस भार को आदर देना मैं पसंद करता हूँ ॥ १९ ॥

ज्ञात्रं धर्ममहं त्यज्ये ३ ह्यधर्मं धर्मसंहितम् ४ ।

क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

आपक बतलाए हुए क्षात्र धर्म को, जिसमें धर्म तो नाम मात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है मैं त्याज्य समझता हूँ ; क्योंकि ऐसे अधर्म रूपी धर्म का सेवन तो—नीच, निष्ठुर लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य च ।

अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

आपके बतलाए ज्ञात्रधर्म का पालन करने में, तीनों प्रकार के पापों की प्रवृत्ति होती है । वे तीन प्रकार के पाप हैं कायिक, मानसिक और वाचिक । (कायिक वे जो शरीर से किए जाँय,

---

१ सत्पुरुषाचीर्णः—सत्पुरुषैराचरितः । (गो०) २ अभिमन्यते—अभिमतो भवति । (गो०) ३ अधर्म—अधर्मप्रचुरं । (गो०) ४ धर्मसंहितम्—धर्मलेशसहितं । (गो०)



१०४८

## अयोध्याकाण्डे

मानसिक वे जो मन में सोचे जायें और वाचिक वे जो जिह्वा द्वारा किए जायें, अर्थात् भूठ बोलना, क्रोध करना, परनिन्दा करना, अपशब्द कहना आदि । ) इन तीनों प्रकार के पापों का परस्पर सम्बन्ध है । पहले तो पाप का मन में सङ्कल्प उदय होता है, फिर वाणी द्वारा वह प्रकट किया जाता है और फिर वह शरीर से किया जाता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।

स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत तत् ॥ २२ ॥

जो लोग सत्यव्रतधारी हैं, उन्हें केवल राज्य, कीर्ति, यश और धन ही नहीं मिलना, किन्तु मरने पर, उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होता है । इसीसे लोगों का सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना उचित है ॥ २२ ॥

श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यज्ञवानवधार्य माम् ।

आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

आपने अपने मन में निश्चय कर जिसे उचित समझ रखा है, और जिसको करने के लिए आप मुझसे युक्तियुक्त वचन कह कर अनुरोध करते हैं, वह कार्य सर्वथा अनुचित है ॥ २३ ॥

कथं ह्ययं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरौ ।

भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भला बतलाइये तो, मैं जब पिता से वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब अब क्योंकर मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग कर, भरत का कहना मानूँ ? ॥ २४ ॥

१ श्रेष्ठमित्यवधार्य निश्चय । ( गो० ) २ इदं भद्रं कुरुष्वेति भवान्युक्तिकरैर्वाक्यैः यदाह तदनार्यमेव स्यात् ( गो० )

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ।

प्रहृष्यमाणा सा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥ २५ ॥

जब कि मैंने पिता के सामने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी तब देवी कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं । सो अब मैं अपनी उस दृढ़ प्रतिज्ञा को तोड़ कैकेयी को क्यों कर दुःखी करूँ ॥ २५ ॥

वनवास वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।

मूलैः पुष्पैः फलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥ २६ ॥

अतएव मैं पवित्र मूल फल फूलों से देवताओं और पितरों को तृप्त कर और बचे हुएओं को स्वयं भोजन कर, शुद्ध हृदय और सन्तुष्ट हो कर, वन में वास करूँगा ॥ २६ ॥

[ टिप्पणी—जो पदार्थ देवताओं पितरों को अर्पण कर खाए जाते हैं उनके खाने से हृदय शुद्ध होता है—जो ऐसा नहीं करते वे पाप करते हैं—गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा भी है “भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने खाने के लिए रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं, प्रत्युत पाप खाते हैं । ]

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवर्तये ।

२ अकुहः श्रद्धानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

मैं छल छिद्र त्याग कर, कार्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रियाकलाप में अकृत्रिम श्रद्धा रख कर, तथा पाँचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट रख कर, पिता की वचनपालन रूपी लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गः—परितुष्टपञ्चेन्द्रियवर्गः । ( गो० ) २ लोकयात्रा—पितृवचनपरिपालनरूपलोकवर्तन । ( गो० ) अकुहः—अकृत्रिमः । ( गो० )



## अयोध्याकाण्डे

कर्मभूमिनिर्वाणं प्राप्य कर्तव्यं कम यच्छुभम् ।

अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलमाग्निः ॥ २८ ॥

इस कर्मभूमि में आकर प्रत्येक व्यक्ति को शुभकर्मानुष्ठान करना उचित है क्योंकि कर्मों के फल के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं । अर्थात् मनुष्यों को क्रमानुसार अग्निलोक, वायुलोक और चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है । अथवा शुभकर्मों द्वारा ही जीव अग्नि वायु और चन्द्रमा होते हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहुत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।

तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं याता महर्षयः ॥ २९ ॥

( शुभकर्मानुष्ठान का प्रभाव दिखा कर श्रीराम कहते हैं कि )  
सौ यज्ञ करने से, इन्द्र देवराज हो कर स्वर्ग में गये और महर्षि लोग भी तप करके स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा

निशम्य तन्नास्तिकहेतुवाक्यम् ।

अथाब्रवीत् नृपतेस्तनूजो

विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेज वाले नृपनन्दन श्रीरामचन्द्र, जावालि के नास्तिकता से भरे वचन सुन, उनको सहन न कर सके और उन वचनों की निन्दा करते हुए, उनसे कहा ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च

भूतानुकम्पां प्रियवादितं च ।

द्विजातिदेवातिथिपूजनं च

पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

हे जाबालि ! सत्यभाषण, अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन, समय पर पराक्रम प्रदर्शन, भूतदया, प्रिय वचन, ब्राह्मण, देवता और अतिथिपूजन,—इन कर्मों के करने से, साधुजन स्वर्ग की प्राप्ति बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ

१मेकोदयं संप्रतिपद्यविप्राः ।

धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्

काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

इसी लिए ब्राह्मण लोग, इसका यथावत् अर्थ समझ सावधान हो कर, वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मों का पालन करते हुए, ब्रह्मलोकादि की आकाँक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥

२निन्दाम्यहं कर्म पितुः कृतं त-

द्यस्त्वामगृह्णाद्विषमस्थबुद्धिम् ।

बुद्ध्याऽनयैवविधया चरन्तं

सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

हे जाबालि ! मैं अपने पिता के इस कार्य की निन्दा करता हूँ कि उन्होंने तुम्हारे जैसे वेदमार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले और

---

१ एकोदयं संप्रतिपद्य—एककण्ठ्यं प्राप्य । (गो०) २ निन्दाम्यहं—वैदिककर्मभ्योबहिष्करोमि । (गो०) ३ विषमस्थबुद्धि—अवैदिक मार्ग निष्पातबुद्धि । (गो०)



१०५२

अयोध्याकाण्डे

धर्मच्युत एक नास्तिक को आश्रय दिया या अपने यहाँ रखा ।  
 क्योंकि चार्वाकादि नास्तिकमत का जो दूसरों को उपदेश देते  
 हुए घूमा फिरा करते हैं, वे केवल घोर नास्तिक ही नहीं, प्रत्युत  
 धर्ममार्ग से च्युत भी हैं ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-

स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।

तस्माद्वि यः शङ्क्यतमः प्रजानां

न नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

राजा को चाहिए कि प्रजा की भलाई के लिए ऐसे मनुष्य  
 को वही दण्ड दे जो चोर को दिया जाता है । यदि इनको दण्ड  
 देने में असमर्थ हो, तो उन समझदारों या विद्वानों को ऐसे  
 नास्तिकों से बातचीत भी न करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

तत्तो जनाः पूर्वतरेवराश्च

शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।

जित्वा सदेमं च परं च लोकं

तस्माद्विजाः स्वस्ति हुत कृतं च ॥ ३५ ॥

हे जावालि ! तुमसे पहले के ज्ञान में श्रेष्ठ जनों ने अनेक  
 शुभ कर्म किए और उन शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोगों ने  
 इह लोक और परलोक जीते । इसीसे ब्राह्मणों ने अहिंसा,  
 सत्यादि, तपोदान परोपकारादि तथा यज्ञादि कर्मों को  
 किया ॥ ३५ ॥

१ त्वत्तः--पूर्वतरेपुरातनाश्च, वराश्च शानतः श्रेष्ठाश्च जनाः ।

(गो) \* पाठान्तरे--“त्वत्तो जनाः,” “त्वत्तो वरः” । \* पाठान्तरे—  
 “जनाश्च,” “द्विजाश्च” ।

धर्मो रताः सत्पुरुषैः समेताः

तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।

अहिंसाका वीतमलाश्च लोके

भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

जो धर्मानुष्ठान में सदा तत्पूर रहते हैं, तेजस्वी हैं, जो दान देने में प्रधान हैं; जो हिंसा नहीं करते, जो सत्सङ्गी हैं, ऐसे वशिष्ठादि प्रधान प्रधान मुनि ही संसार में पापरहित हो और तेज धारण कर सब के पूज्य होते हैं ( न कि आप जैसे नास्तिक लोग ) ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं

रात्रं महात्मानमदीनसत्त्वम्<sup>१</sup> ।

उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च

सत्यं वचः सानुनयं च विप्र ॥ ३७ ॥

जब दैन्यसंसर्गशून्य श्रीरामचन्द्र जी ने, क्रोध में भर जावालि से ऐसे वचन कहे, तब जावालि जी विनय युक्त हो यथार्थ, सत्य सम्मत और आस्तिक वचन बोले ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं

न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन ।

समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं

भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं नास्तिकों जैसी बातें नहीं कहता और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ । मेरे कहने का न यह अभिप्राय ही है कि,

<sup>१</sup> अदीनसत्त्वम्—दैन्यसंसर्गशून्यम् । ( शि० )



परलौकादि कुछ भी नहीं हैं। परन्तु समय के प्रभाव में पड़  
अथवा समय की आवश्यकतानुसार मैं आस्तिक अथवा नास्तिक  
हो जाता हूँ ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः

यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।

निवर्तनार्थं तव राम कारणात्

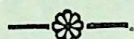
प्रसादनाथ च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे राम ! यह समय ऐसा ही था कि मुझे नास्तिकों जैसे  
वचन कहने पड़े। मैंने यह वचन तुमको प्रसन्न करने तथा  
तुमको वन से लौटाने के लिए ही कहे थे ॥ ३९ ॥

[ टिप्पणी—जाबालि ने यहाँ अपनी चाटुकारता को स्वीकार कर  
लिखा है । ]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## दशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

[ टिप्पणी— ( ११० वें सर्ग में ) श्रीराम जी को जाबालि पर  
क्रुद्ध देख, वसिष्ठ जी जाबालि के कथन का सदुद्देश्य समझाने के लिए  
यह युक्ति देते हैं कि रघुवंश में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही को राज-  
सिंहासन मिलता आया है । इस युक्ति की पुष्टि में वसिष्ठ जी इक्ष्वाकु-  
वंश की संक्षिप्त वंशावली का निरूपण कर, श्रीराम का ध्यान बँटा कर  
उनका क्रोध शान्त करते हैं । ]

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतामतिम्❀ ॥१॥

१ लोकस्य—जनस्य । ( गो ) \* पाठान्तरे—“ गता गतम् ” ।

बासष्ठ जी ने जब देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी जाबालि की बाँसों से क्रुद्ध हो गए हैं, तब वे उन से यह बोले—जाबालि जी प्राणियों के आवागमन को मानते हैं ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत् ॥

इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

तुमको लौटाने के लिए ही उन्होंने ऐसी बातें तुमसे कही थीं। हे लोकनाथ ! इस लोक की उत्पत्ति का वर्णन तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी यत्र निर्मिता ।

तत्रः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूदैवतैः सह ॥ ३ ॥

आरम्भ में जल ही जल था। उसी जल के भीतर पृथिवी बनी। तदनन्तर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ॥

असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने वराह रूप धारण कर जल से पृथिवी निकाली और अपने पुत्रों सहित इस सम्पूर्ण जगत को बनाया ॥ ४ ॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।

तस्मान् मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

सनातन, नित्य और अक्षय्य ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न हुए और उनसे मरीचि और मरीचि से काश्यप हुए ॥ ५ ॥

विष्वान् काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः सुतः ।

स तु प्रजापतिः पूर्वमिच्छाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

\* पाठान्तरे—“उक्तवान्”



कश्यप जी से विवस्वान सूर्य विवस्वान सूर्य से मनु ने जन्म  
लिआ । वैवस्वत मनु ही प्रजापतियों में प्रथम प्रजापति हुए और  
इन्हींके पुत्र इक्ष्वाकु थे ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।

तमिद्धाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

इन इक्ष्वाकु को महाराज मनु ने समृद्ध पृथिवी दी थी । इन्हीं  
इक्ष्वाकु को हे राम ! तुम अयोध्या का प्रथम राजा जानो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव\* विश्रुतः ।

कुक्षेरथात्मजी वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

हे वीर ! इक्ष्वाकु के पुत्र श्रीमान् कुक्षि नाम से प्रसिद्ध हुए  
और कुक्षि से विकुक्षि की उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।

बाणस्य तु महाबाहुरनरण्यो महायशः ॥ ९ ॥

विकुक्षि के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए । बाण के  
पुत्र महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्मित्तं सतां वरे ।

अनरण्ये महाराजे तस्करो नापि कश्चन ॥ १० ॥

सज्जनों में श्रेष्ठ महाराज अनरण्य के राज्यत्व काल में न  
तो कभी सूखा पड़ा और न कभी अकाल । उनके राज्य में कोई  
चोर भी न था ॥ १० ॥

अनरण्यान् महाबाहुः पृथू राजा बभूव ह ।

तस्मात्पृथोर्महाराजस्त्रिशङ्करुदपद्यत ॥ ११ ॥

\* पाठान्तरे--“एवेति” ।

हे महाबाहो ! अन्तरण्य से पृथु जी ने जन्म लिया । पृथुजी  
से परम तेजस्वी त्रिशङ्क, उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः ।

त्रिशङ्कोरभवत्सुनुर्धुन्धुमारो महायशः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह त्रिशङ्क ऐसे सत्यवादी थे कि, सशरीर स्वर्ग  
में गए थे । त्रिशङ्क के पुत्र परम यशस्वी धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान् महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।

युवनाश्वसुतः श्रीमान् नान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

धुन्धुमार से महातेजस्वी युवनाश्व हुए । युवनाश्व के पुत्र  
श्रीमान् नान्धाता हुए ॥ १३ ॥

नान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत ।

सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

नान्धाता से परम तेजस्वी सुसन्धि जन्मे । सुसन्धि से ध्रुव-  
सन्धि और प्रसेनजित् नाम के दो पुत्र हुए ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।

भरतात् महाबाहोरसितो नामतोऽभवत्\* ॥ १५ ॥

ध्रुवसन्धि के पुत्र रिपुसूदन और यशस्वी भरत हुए । महाबाहु  
भरत से असित का जन्म हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।

हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिबिन्दवः ॥ १६ ॥

हैहत, तालजंघ, शशिबिन्द शूर ने असित से शत्रुता  
की ॥ १६ ॥

\* पाठान्तरे—“नाम जायत” ।



तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।

स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

युद्ध के समय असित ने इन सब के विरुद्ध सैन्यव्यूह बना कर इनको घेरा, किन्तु इनको पराजित करना कठिन जाना और अपना राज्य छोड़, वे तप करने के लिए परम रमणीक हिमालय पर्वत पर चले गए ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।

एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ॥ १८ ॥

सुना जाता है कि, उनकी दो रानियाँ उस समय गर्भवती थीं। उनमें से एक ने अपनी सौत का गर्भनाश करने के लिए उसे जहर दिया ॥ १८ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।

तमृषिं समुपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

भृगुनन्दन च्यवन जो उस समय हिमालय पर्वत पर रहते थे। कालिन्दी नाम की रानी ने उन ऋषि के पास जा कर उनको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रो वरेण्णं पुत्रजन्मनि ।

पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २० ॥

महर्षि च्यवन ने जाना कि, इसे पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, अतः प्रसन्न हो कर उस पुत्र की कामना रखने वाली रानी से कहा कि, हे देवि ! तुम्हारे गर्भ से बड़ा महात्मा और लोकविख्यात पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २० ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वंशकर्तारिषूदनः ।

कृत्वा प्रदक्षिणं\* सा तु मुनिं तमनुमान्य च ॥ २१ ॥

यह धर्मात्मा, सुशील, वंश बढ़ाने वाला और शत्रुओं को संहार करेगा । यह बात मुनि रानी ने बड़े आदर भाव से मुनि की प्रदक्षिणा की ॥ २१ ॥

पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।

ततः स गृहमागम्य देवी पुत्रं व्यजायत ॥ २२ ॥

और अपने घर लौट उस रानी ने कमलनयन और कमल-गर्भ सदृश कान्तियुक्त पुत्र जना ॥ २२ ॥

सपत्नया तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।

गरेण सह तेनैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ २३ ॥

इस पुत्र के उत्पन्न होने के पूर्व सौतिया डाह से कालिन्दी को उसकी सौत ने जो विष दिखा था, उसी गर अर्थात् जहर के साथ पुत्र का जन्म होने से उस बालक का नाम सगर हुआ ॥ २३ ॥

स राजा उगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।

इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयन्तमिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उसने पर्व के समय यज्ञदीक्षा ली और इस प्रजा को त्रास्त कर, समुद्र खुदवाया ॥ २४ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत्सगरस्येति नः श्रुतम् ।

जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

\* पाठान्तरे—“दृष्ट्वा मुनिं तमनुमान्य च” ।



सुना जाता है कि, इन सगर के असमञ्जस नाम का एक वीर्यवान पुत्र हुआ । वह प्रजा को सताता था । अतः उसके पाप-कर्मों को देख, पिता ने उसे निकाल दिया था ॥ २५ ॥

\*अंशुमानिति पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान् ।

दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २६ ॥

असमञ्जस के पुत्र वीर्यवान अंशुमान हुए । अंशुमान के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए ॥ २६ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुताः ।

ककुत्स्थस्य च पुत्रोऽभूद्रघुर्येन तु राघवाः ॥ २७ ॥

भगीरथ जी के पुत्र ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के पुत्र रघु हुए । इन्हीं ककुत्स्थ जी और रघु जी से काकुत्स्थ और राघव नाम की वंश परम्पराएँ चलीं ॥ २७ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।

कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २८ ॥

रघु के एक तेजस्वी पुत्र हुआ जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माषपाद और सौदास के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति विश्रुतः ।

यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसेनो व्यनीनशत् ॥ २९ ॥

कल्माषपाद से शङ्खण उत्पन्न हुआ । यह लोकप्रसिद्ध पराक्रम को प्राप्त कर सेनासहित मेरे शाप से नाश को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

शङ्खणस्य च पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान् सुदर्शनः ।

सुदर्शनस्याग्निवर्णं अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३० ॥

पाठान्तरे—“अंशुमानपि” । \* पाठान्तरे—“सहसैन्यो” ।

शङ्खण से शूरवीर श्रीमान् सुदर्शन हुए । सुदर्शन से अग्नि-  
वर्ण और अग्निवर्ण से शीघ्रग हुए ॥ ३० ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुकः ।

प्रशुश्रुकस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ ३१ ॥

शीघ्रग के पुत्र मरु और मरु के पुत्र प्रशुश्रुक हुए । प्रशुश्रुक  
के पुत्र महाद्युतिमान् अम्बरीष हुए ॥ ३१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।

नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३२ ॥

अम्बरीष के पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष हुए । नहुष के पुत्र  
नाभाग जी बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३२ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुताबुभौ ।

अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३३ ॥

नाभाग के अज और सुव्रत नाम के दो पुत्र हुए । इनमें से  
अज के पुत्र धर्मात्मा महाराज दशरथ हुए ॥ ३३ ॥

[ यो जित्वा वसुधां कृत्स्नां दिवं शासति स प्रभुः । ]

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादोऽराम इत्यभिविश्रुतः ॥ ३४ ॥

जिन महाराज दशरथ ने सम्पूर्ण पृथिवी जीत कर, स्वर्ग  
तक का शासन किया—उन्हीं महाराज दशरथ के विश्वविख्यात  
ज्येष्ठ पुत्र तुम हो । ( अतएव हे राजन् ! तुम अपने पिता का  
राज्य ग्रहण कर संसार का पालन करो ) ॥ ३४ ॥

१ दायादः—सुतः । ( गो० )



१०६२

अयोध्याकाण्डे

तद्वृद्धाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जनं नृप ।

इच्छाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।

पूर्वजेनावरः पुत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३५ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ।

इच्छाकु के वंश में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता चला आया है । ज्येष्ठ राजकुमार के विद्यमान रहते छोटे को राजगद्दी नहीं मिल सकती ॥ ३५ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः

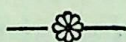
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि ।

प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं

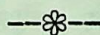
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन् महायशः ॥ ३६ ॥

अतः तुम रघुवंशियों के इस सनातन कुलधर्म को लोप मत करो और अपने पिता की तरह यशस्वी हो कर, इस बहुरत्नों से पूर्ण और अनेक राज्यों से युक्त पृथिवी का शासन करो ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



एकादशोत्तरशततमः सर्गः



वसिष्ठस्तु तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।

अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

राजपुरोहित वसिष्ठ जी श्रीराम जी से यह कह, फिर धर्म-सम्मत वचन और भी बोले ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरुवस्त्रयः ।

आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थ ! हे राम पुरुष जब जन्मता है, तब उसके तीन गुरु होते हैं । पिता, माता और आचार्य ॥ २ ॥

पिता स्नेहं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।

प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पिता माता केवल शरीर को जन्म देते हैं, और आचार्य बुद्धि देता है । अतः वह भी गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप ।

मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

हे परन्तप ! मैं तुम्हारे पिता का और तुम्हारा भी आचार्य हूँ । अतः मैं जो कहता हूँ उसे तुम मानों और सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन मत करो ॥ ४ ॥

इमा हि ते<sup>१</sup> परिषदः<sup>२</sup> श्रेण्यश्च<sup>३</sup> द्विजास्तथा<sup>४</sup> ।

एषु तात चरेन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

हे तात ! देखो, ये सब तुम्हारे सम्बन्धी हैं, ये ब्राह्मणसमूह हैं, ये पुरवासी हैं और ये सब क्षत्रिय वैश्य हैं । इनके प्रति निज कर्त्तव्य का पालन करो और सज्जनों की बाँधी मर्यादा का उल्लंघन मत करो ॥ ५ ॥

१ ते—त्वत्सम्बन्धिनः । ( गो० ) २ परिषदः—ब्राह्मणसमूहाः । ( गो० ) ३ श्रेण्यः—पौरजनाः । ( गो० ) ४ द्विजाः—क्षत्रियाः वैश्याश्च । ( गो० )



वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।

अस्यास्तु वचनं कुवन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

देखा, यह बेचारी बूढ़ी और धर्मशीला तुम्हारी माता जो कहती है, उसका उल्लंघन करना तुमको उचित नहीं—क्योंकि जो पुरुष माता का कहना मानता है, वह सन्मार्गी कहलाता है ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव ।

आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सत्यधर्म पराक्रमी राघव ! देखा, यह भरत तुमसे याचना कर रहे हैं, सो इनकी बात मानने से भी तुम सद्गति से अष्ट न होगे ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम् ।

प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

जब गुरु वशिष्ठ जी इस प्रकार मधुवाणी से कह कर आसन पर बैठे हुए थे, तब वसिष्ठ जी को पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ने उत्तर देते हुए कहा ॥ ८ ॥

यन् मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा

न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥

माता पिता अपने पुत्र की जो सेवा या उपकार करते हैं, उसके बदले में प्रत्युपकार करना सहज नहीं है ॥ ९ ॥

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनोच्छादनेन ।

नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

वृत्तं—उपकार । ( रा० )

क्योंकि वे अपने सामर्थ्य से अधिक पुत्र को उत्तम उत्तम भोजन वस्त्रादि देते हैं, शिशु अवस्था में सुलाते हैं और तेल आदि से मालिश उबटन करते हैं, मधुर से मधुर वचन कह कर लाड़ प्यार करते और पुत्र की वृद्धि व जीवित रहने के लिए अनेक उपाय करते रहते हैं ॥ १० ॥

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम ।

आज्ञातं यन् मया तस्य न तत् मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

सो वे महाराज दशरथ जी मुझे जन्म देने वाले मेरे पिता थे । उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्<sup>१</sup> ।

उवाच परमोदारः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, परम उदार भरत जी, समीप बैठे हुए सुमंत्र से उदास हो, बोले ॥ १२ ॥

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे ।

आयं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन् मे न प्रसीदति ॥ १३ ॥

हे सारथे ! इस चबूतरे पर तुम शीघ्र कुशों को बिछा दो, जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे, तब तक मैं इन्हीं कुशों पर धन्ना दे कर बैठा रहूँगा ॥ १३ ॥

अनाहारो निरालोको<sup>३</sup> धनहीनो<sup>४</sup> यथा द्विजः ।

शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

१ प्रत्यनन्तर—समीपस्थ । ( गो० ) २ प्रत्युपवेक्ष्यामि—प्रत्युपवेशन कर्म करिष्य इत्यर्थः । ( रा० ) ३ निरालोको—अवकुण्ठिताननः । ( गो० ) ४ धनहीनः—वृद्धयर्थमृणप्रदानान्निर्धनः । ( गो० )



जब तक श्रीरामचन्द्र जी लौट कर अयोध्या न चलेंगे, तब तक मैं एक धनहीन ब्राह्मण की तरह भोजन त्याग और मुँह ढक इसी कुटी के द्वार पर पड़ा रहूँगा ॥ १४ ॥

[ टिप्पणी—“धनहीन” ब्राह्मण से आदिकाव्यकार का अभिप्राय उस ब्राह्मण से है जिसने अपने पास की पूँजी किसी बनिये महाजन के पास अमानतन, व्याज के लाभ से जमा कर दी हो और वह बनिया महाजन बेईमानी कर उसकी पूँजी को हड़प जाय । तब उस धनहीन ब्राह्मण के लिए सिवाय धरना देने के और कोई उपाय नहीं रह जाता । ]

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।

कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुन सुमन्त्र श्रीराम के मुख की ओर ( उनकी अनुमति के लिए ) देखने लगे । तब भरत जी उदास हो, स्वयं ही कुश विद्या कर, श्रीराम के सामने धरना दे कर, बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।

किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

भरत जी को इस प्रकार धरना दिए हुए बैठे देख, राजर्षियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीराम, भरत से बोले । हे भरत भैया ! मैंने क्या अपकार किया है जो तुम मेरे ऊपर धरना देते हो ? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपाश्वर्णेन नरान् रोद्धुमिहार्हति ।

न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

यह काम तो ब्राह्मण का है, जो एक करवट पड़ा हुआ धरना दे कर, अपने दुःखदाता का रोध करता है । किन्तु एक तिलक-धारी क्षत्रिय के लिए धरना देना, उचित नहीं है ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद्धारुणं व्रतम् ।

पुरवर्षामितः त्रिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

हे नरन्याय ! तुम इस कठोर व्रत को त्याग कर, उठ खड़े हो और शीघ्र ही यहाँ से श्रेष्ठ पुरी अयोध्या को गमन करो ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।

उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

तब भरत उसी प्रकार धरना दिए बैठे रहे और चारों ओर बैठे हुए पुरवासियों और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले तुम सब लोग श्रीराम से क्यों कुछ नहीं कहते ? ॥ १९ ॥

ते तस्मैधुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।

काङ्क्षस्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥ २० ॥

तब वे पुरवासी और जनपदवासी भरत जी से कहने लगे— हे महात्मा ! हम लोग जानते हैं कि, श्रीराम जी का कहना बहुत ठीक है ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।

अतएव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसाः ॥ २१ ॥

वे भरत जी से फिर बोले—श्रीराम से हम लोग आग्रह नहीं कर सकते क्योंकि महाभाग श्रीराम, पिता की आज्ञा पालन करने का दृढ़ संकल्प किए हुए हैं । अतः हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि, इनसे तुरन्त लौट चलने को कहें ॥ २१ ॥



तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।

एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम्<sup>१</sup> ॥ २२ ॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुन कर, श्रीराम बोले—  
हे भरत ! इन धर्मदर्शी अपने सुहृदों के वचन सुनो और विचारो  
वे क्या कह रहे हैं ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रत्वा सम्यक्सम्पश्य राघव ।

उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां<sup>१</sup> च स्पृश तथोदकम्<sup>२</sup> ॥ २३ ॥

हे रघुनाथ ! इन दोनों बातों को सुन कर, इन पर भली  
भाँति विचार कर उठ बैठो और क्षत्रिय के अयोग्य धन्ना देने के  
कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिए आचमन कर, मुझे स्पर्श  
करो ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।

शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः श्रेण्यस्तथा ॥ २४ ॥

यह बात सुन, भरत जी उठ बैठे और आचमन कर यह  
वचन बोले, हे ब्राह्मणों ! हे पुरजनों ! हे क्षत्रियो हे वैश्यो ! मेरी  
बात सुनो ॥ २४ ॥

न याचे<sup>४</sup> पितरं राज्यं नानुशासामि<sup>५</sup> मातरम् ।

आर्यं परमधर्मज्ञं नानुजानामि<sup>६</sup> राघवम् ॥ २५ ॥

१ धर्मचक्षुषाम् -- धर्मदर्शिनः । ( रा० ) २ मां च स्पृश -- क्षत्रिया  
विहितप्रत्युपवेशनप्रायश्चित्तार्थमित्यर्थः । ( गो० ) ३ उदकं स्पृश --  
उदकस्पर्शाचमनार्थाः । ( रा० ) ४ न याचे -- नयाचितवान् ।  
( गो० ) ५ नानुशासामि -- नानुशास्मि एवं कुर्वितिनानुशिष्टवानस्मीत्यर्थः ।  
( गो० ) ६ नानुजानामि -- वनवासाय नानुज्ञातवान् । ( गो० )

न तो मैंने पिता से राज्य माँगा और न मैंने अपनी माता को कुछ सिखाया पढ़ाया और न मुझे श्रीरामचन्द्र जी के वनवास ही का कुछ हाल मालूम था ॥ २५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।

अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने ॥ २६ ॥

यदि पिता के आज्ञानुसार वनवास करना आवश्यक ही है, तो मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रतिनिधि बन, १४ वर्ष वन में वास करूँगा । ( और श्रीरामचन्द्र मेरे प्रतितिधि वन, अयोध्या में जा राज्य करें ) ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।

उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के इन सत्य वचनों से विस्मित हो, पुरजनों और जनपदवासियों की ओर देख कर, बोले ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यन्पित्रा जीवता मम ।

न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते जी, यदि कोई वस्तु बेच डाली, या मोल ली या किसी के यहाँ कोई वस्तु धरोहर धर दी, तो यह बात मेरे और भरत के अधिकार से बाहिर है कि, उनके किये को मेंट दें । अर्थात् बेची हुई चीज फेर ले या खरीदी हुई चीज लौटा दे या धरोहरी चीज वापिस ले ले ॥ २८ ॥

१ उपधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।

युक्तं च कैकेया पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

१ उपधिः—प्रतिनिधिः । ( गो० )



अतः मैं सज्जन जनों से अपनी निन्दा कराने के लिए यह दुष्कर्म न करूँगा कि, अपना प्रतिनिधि बना भरत को वन भेजूँ । कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा या माँगा सो ठीक ही कहा या माँगा और पिता जी ने जो कुछ किया या दिया सो भी अच्छा ही किया ॥ २६ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।

सर्वमेवात्र कन्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत बड़े क्षमाशील और पूज्य तथा बड़ों की मान मर्यादा रखने वाले हैं । इन सत्यसन्ध महात्मा में सब बातें भली ही भली हैं । ( अतएव इनके द्वारा राज्य-शासन होने से किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती ) ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।

आत्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥

( मैं यह वचन देता हूँ कि, ) जब मैं वन से लौट कर आऊँगा, तब मैं अपने इन धर्मशील भाई भरत के साथ, राज्य का शासनभार ग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

ब्रूतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।

अनृतं मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! महाराज से माता कैकेयी ने जो वर माँगा था, मैंने उस वर के अनुसार कार्य किया और महाराज पिता जी को मिथ्या भाषण से मुक्त किया, तुम भी कैकेयी को दिए हुए

दूसरे वर के अनुसार, राज्य ग्रहण कर, महाराज को मिथ्या-  
भाषण के दोष से मुक्त करो ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

## द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्

विस्मितः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः ॥ १ ॥

उस समय वहाँ जो ऋषि आए हुए थे, वे अतुल तेजस्वी  
दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देख और वार्ता-  
लाप सुन विस्मित हुए ॥ १ ॥

१ अन्तर्हितास्त्वृषिगणाः २ सिद्धाश्च परमर्षयः ३ ।

तौ भ्रातरौ महात्मानौ काकुत्स्थौ प्रशंसंसिरे ॥ २ ॥

पहले जो राजर्षिगण, सिद्धगण और देवर्षिगण अन्तर्धान  
थे, वे इन दोनों भाइयों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ २ ॥

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ ४ ।

श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे ५ ॥ ३ ॥

ये दोनों धर्मज्ञ और धर्मवीर राजकुमार जिन महाराज  
दशरथ के पुत्र हैं, वे धन्य हैं । इन दोनों की बातचीत सुन, हम

१ अन्तर्हिताः—पूर्वमेवान्तर्धानं प्राप्ताः । (गो०) २ ऋषिगणा—  
राजर्षिगणाः । (गो०) ३ परमर्षयः—देवर्षयः । (गो०) ४ धर्मविक्रमौ—  
धर्मशूरौ । ५ स्पृहयामहे—पुनः पुनः भोक्तुं वाङ्मयः । (शि०)



लोगों की यह इच्छा हो रही है कि, इन दोनों की वार्तालप हम  
 बार बार सुना करें ॥ ३ ॥

[ टिप्पणी—श्रीराम तथा भरत ने अपने अपने पक्ष समर्थन में जो  
 युक्तियाँ दीं—वे दोनों की युक्ति युक्त थीं । तिस पर भी भरत को अपना  
 पक्ष त्यागने को बाध्य होना पड़ा इसका कारण और बतलाया गया है ।

ततस्तृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ।

भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः सङ्गताः वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे ऋषिगण, जो रावण का वध शीघ्र करवाना  
 चाहते थे, पुरुषसिंह भरत के पास गए और एक स्वर से यह  
 बोले ॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।

ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते रपितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

हे अटल प्रतिज्ञा वाले ! हे शुभचरित्रयुक्त महायशस्वी भरत  
 तुमने कुलीनकुल में जन्म लिया है । यदि तुम अपने पिता को  
 सुखी करना चाहते हो, तो तुम्हें वही करना उचित है, जो  
 श्रीगमचन्द्र जी तुमसे कहते हैं ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।

अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

हम सब यही चाहते हैं कि श्रीराम अपने पिता के ऋण से  
 उऋण हों । ( क्योंकि ) कैकेयी के ऋण से उऋण होने से  
 महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः ।

राजर्षयश्चैव तदा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

१ संगताः—एककण्ठ्यप्राप्ताः । ( गो० ) २ पितरं यद्यवेक्षसे—  
 पितुः सुखं यदीच्छसि । ( रा० )

यह कह कर गन्धर्व, राजर्षि, तथा देवर्षि सब अपने अपने स्थानों को चले गए ॥ ७ ॥

हादिस्तेन वाक्येन शुभेन शुभदर्शनः ।

रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥

शुभदर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने उन ऋषियों के इस कथन से हर्षित हो, उनसे कहा कि, आपने भली भाँति मेरा धर्म बचाया ॥ ८ ॥

अस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।

कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

उस समय भरत जी डर कर गद्गदवाणी से हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से फिर बोले ॥ ९ ॥

राजधर्ममनुप्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततिम् ।

कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याजनाम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! राज्यपरिपालन धर्म का ज्येष्ठ राजकुमार ही को अधिकार है—इस कुलप्रथा पर भली भाँति विचार कर, मेरी माता कौसल्या की प्रार्थना पूरी करनी चाहिए ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।

पौरजानपदाश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तथा ॥ ११ ॥

इस बड़े राज्य की अकेले रक्षा करने का और आपमें अनु-राग रखने वाले इन पुरवासियों तथा जनपदवासियोंका मनो-रञ्जन करने का मुझे साहस नहीं होता ॥ ११ ॥

१ अभ्यपूजयत्—सभ्यडमौधर्मतोरक्षितवन्तः । (रा०) २ मममातुः—  
—कौसल्याया । (रा०) ३ रक्तान्—त्वद्विषयकानुरागविशिष्टान् । (शि०)



ज्ञातयश्च हि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।

त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

जाति विरादरी वाले, सैनिक इष्टमित्र—सब के सब, जल बरसाने वाले मेघ के लिए उत्सुक किसान की तरह, एकमात्र तुम्हारे ही राज्यशासन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय १प्रतिपद्य हि ।

शक्तिमानसि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

अतएव हे बुद्धिमान् ! तुम इस राज्य को प्रस्थापन करो और जिसको चाहो उसे राजसिंहासन पर बिठा दो क्योंकि राज्य-शासन करने को, हे काकुत्स्थ ! तुम्हीं समर्थ हो ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।

भृशं सम्प्रार्थयामास राममेव प्रियंवदः ॥ १४ ॥

यह कह कर भरत जी अपने भाई श्रीराम के चरणों में गिर पड़े और हे राम ! हे राम ! कहते हुए बार बार प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥

तमङ्गे भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।

श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरं स्वयम् ॥ १५ ॥

भरत को चरणों में पड़ा देख, श्रीराम ने मतवाले हंस की तरह मनोहर कण्ठ वाले, कमलदल समान नेत्रोंवाले और श्यामवर्ण भरत को उठा कर, अपनी गोद में बिठाया और उनसे बोले ॥ १५ ॥

१ प्रतिपद्य—स्वीकृत्य, कस्मिंश्चित्स्थापयहि । ( रा० )

आगता त्वामियं<sup>१</sup> बुद्धिः स्वजाः<sup>२</sup> वैनयिकी च या ।

मृशामुत्सहसे तात रक्षितं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

मेरे बलवास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी को राजसिंहासन पर बिठा देने की बात जो तुमने कही, वह स्वाभाविक और गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने का फल स्वरूप है । अतः ( इससे स्पष्ट है कि ) तुम भली भाँति राज्यशासन कर सकते हो । ( अर्थात् तुम्हारी ऐसी सुन्दर बुद्धि का होना ही तुममें सुशासन की योग्यता के होने का प्रमाण है ) ॥ १६ ॥

अमात्यैश्च<sup>३</sup> सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः<sup>४</sup> ।

सर्वकार्याणि सम्मन्य सुमहान्त्यपि कारय ॥ १७ ॥

अब तुम प्रधान सचिव, सुहृद, बुद्धिमानों और उपमंत्रियों के साथ समस्त बड़े बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श ले राज्य की सुव्यवस्था करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।

अतीयात्सागरो वेलं न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय मझे ही हिम को छोड़ दे । भले ही समुद्र अपनी सीमा को नाँव जाय, किन्तु मैं पिता से की हुई अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकूँगा ॥ १८ ॥

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुम्यमिदं कृतम् ।

न तन् मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥

१ इयंबुद्धिः—मदनवासविरोधिनी न्वीयत्वेनांगीकृत्यस्थापनविषया  
 य० ) २ स्वजा—स्वाभाविकी । ( रा० ) ३ अमात्यैः प्रधानसचिवैः  
 ( गो० ) ४ मन्त्रिभिः—उपमन्त्रिभिः । ( गो० )



हे तात ! तुम्हारी माता ने भले ही तुम्हारे स्नेह वश अथवा तुमको राज्य दिलाने के लोभ के वशवर्ती हो, यह काम किया हो, परन्तु तुम अपनी माता की इन बातों को अपने मन में न रखना और सदा उसके साथ माता के प्रति करने योग्य व्यवहार करना ॥ १६ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।

तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जब श्रीराम ने ऐसा कहा तब तेज में सूर्य के समान अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, कौसल्यानन्दन से भरत जी कहने लगे ॥ २० ॥

अधिरोहाय पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।

एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

हे आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिए, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊँ सब के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ २१ ॥

टिप्पणी—[ अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति कराना योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा 'क्षेम' । ]

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके ह्यवरुह्य च ।

प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भरत के ये वचन सुन, श्रीराम ने वे खड़ाऊँ अपने पैरों में पहिन लीं और फिर उनको उतार कर महात्मा भरत को दे दीं ॥ २२ ॥

[टिप्पणी—इससे जान पड़ता है कि खड़ाऊँ के और भी जोड़े भरत जी अयोध्या से अपने साथ लाए थे । इसीको एक बार श्रीराम के चरणों में पहना था ।

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।

तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् नगराद्बहिः ॥ २४ ॥

तब भरत जी ने भक्ति सहित उन दोनों खड़ाउओं को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, आज से ले कर चौदह वर्षों तक जटा चीर धारण कर और कंदमूल फल खाकर, तुम्हारे आगमन की वाट जोहता हुआ, रघुनन्दन ! मैं नगर के बाहिर रहूँगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप ।

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥

हे परन्तप ! सब राजकार्य तुम्हारी खड़ाउओं को अर्पण कर, ( मैं राज्य का प्रबन्ध करता रहूँगा परन्तु ) जिस दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा उस दिन भी यदि तुमको मैंने अयोध्या में न देखा, तो मैं अग्नि में गिर कर, भस्म हो जाऊँगा ॥ २५ ॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥

भरत की इस बात को सुन श्रीराम ने “तथास्तु” ( ऐसा ही होगा ) कह कर ( चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही लौट कर आ जाने की ) प्रतिज्ञा की और भरत को आदर पूर्वक हृदय से लगाया ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत् ।

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

फिर भरत और शत्रुघ्न को हृदय से लगा कर श्रीराम जी ने भरत जी से यह भी कहा कि देखो माता कैकेयी की रक्षा करना । खबरदार उस पर क्रोध मत करना ॥ २७ ॥



१०७८

अयोध्याकाण्डे

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम ।

इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह २८ ॥

इसके लिए तुम्हें मेरी और सीता की शपथ है। यह कह नेत्रों में आँसू भर श्रीराम ने दोनों भाइयों को बिदा किया ॥ २८ ॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान्

स्वलंकृते सम्परिपूज्य धर्मवित् ।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं

चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

तब धर्मार्त्ता भरत जी ने उन अति उज्ज्वल खड़ाऊँओं का भली भाँति पूजन किया। तदनन्तर श्रीराम जी की परिक्रमा कर उन खड़ाऊँओं को (उस) उत्तम हाथी के मस्तक पर रखा, (जिस पर महाराज दशरथ सवार हुआ करते थे) ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं

गुरुंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथाऽनुजौ ।

व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः

स्थिरः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हिमालय की तरह अपने धर्मपालन में अटल, रघुवंश के बढ़ाने वाले श्रीराम ने यथाक्रम गुरु, मंत्री, प्रजा और दोनों छोटे भाइयों का यथायोग्य सत्कार कर, उन सब को बिदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पमृहीतकण्ठ्यो

दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शक्नुः ।

स त्वेव मातृरभिवाद्य सर्वा

रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

गद्गदकण्ठ और शोक से विकल होने के कारण माताओं से किसी भी माता के मुख से श्रीराम के प्रति एक बात भी न निकल सकी। श्रीराम भी सब माताओं को प्रणाम कर, रोते बिलपते कुटी के भीतर चले गये ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ

— —

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

—:❀:—

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।

आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर भरत जी ने हाथी के मस्तक से खड़ाऊँ उतार अपने मस्तक पर रखी और हर्षित होते हुए और शत्रुघ्न को अपने साथ ले, रथ पर सवार हुए ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः ।

अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, दृढव्रत तथा विचारचतुर अन्य सब मंत्री आगे आगे चले ॥ २ ॥



मन्दाकिनीं नदीं\* पुण्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।

प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

सब लोग महागिरि चित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीक मन्दाकिनी के सामने पूर्व की ओर जाने लगे ॥ ६ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।

प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

भरत जी अपनी सेना के साथ नाना प्रकार की मनोहर धातुओं को देखते देखते चित्रकूट पर्वत के उत्तर की ओर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।

आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

भरत जी ने चित्रकूट से थोड़ी ही दूर पर एक आश्रम देखा जिसमें ऋषियों सहित भरद्वाज मुनि रहते थे ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान् ।

अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाज जी के आश्रम के समीप पहुँचकर, भरत जी रथ से उतर पड़े और मुनि जी को प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।

अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

तब भरद्वाज जी ने प्रसन्न हो, भरत जी से कहा—हे तात ! क्या तुम्हारी श्रीरामचन्द्र से भेंट हुई ? क्या तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हुआ ? ॥ ७ ॥

\* पाठान्तरे—“रम्यां” । † पाठान्तरे—“भरतस्तदा ।”

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।

प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ८ ॥

जब बुद्धिमान् भरद्वाज जी ने इस प्रकार पूछा तब भ्रातृवत्सल भरत जी ने भरद्वाज जी को उत्तर देत हुए उनसे कहा ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः ।

राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! मैंने और गुरु वसिष्ठ जी ने जब श्रीराम से लौटने के लिए प्रार्थना की, तब श्रीराम ने परम प्रसन्न हो वसिष्ठ जी से कहा ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्पतः ।

चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

पिता जी ने मुझे चौदह वर्ष वन में रखने की जो प्रतिज्ञा की है, मैं उनकी इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर, वचन बोलने वालों में चतुर और बड़े विद्वान वसिष्ठ जी ने उन वाक्यविशारद श्रीराम से यह महत्त्व की बात कही ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संदृष्टः पादुके हेमभूषिते ।

अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरे तव ॥ १२ ॥



हे महाप्राज्ञ ! तब इस समय तुम हर्षित हो, प्रतिनिधि के समान अपनी इन सुवर्णभूषित खड़ाऊँओं को दे दो और अयोध्या के योगक्षेम में तत्पर बने रहो ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।

पादुके अधिरुह्यै ते मम राज्याय वै ददौ ॥ १३ ॥

हे भरद्वाज जी वसिष्ठ जी के ये वचन सुन, श्रीराम जी ने पूवकी ओर मुख कर, इन खड़ाऊँओं को पहिना और राज्य के शालन की सामर्थ्य रखने वाली ये खड़ाऊँ मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।

अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

उन महात्मा श्रीराम की आज्ञा से, उनको लौटा लाने के उद्देश्य से निवृत्त हो कर, मैं अब इन शुभ खड़ाऊँओं को ले, अयोध्या को लौटा जा रहा हूँ ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥ १५ ॥

महात्मा भरत जी के ये शुभ वचन सुन, महर्षि भरद्वाज जी उनसे ये शुभतर वचन बोले ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्र शीलवृत्तवतां वर ।

यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्ने<sup>१</sup> सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

हे सुशील और चरित्रवान् पुरुषसिंह ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि, तुममें ऐसी सुजनता है। क्योंकि पानी बह कर तो तालाब या गढ़े ही में जमा होता है ॥ १६ ॥

१ निम्ने—तटाकादौ । ( गो० ) २ सृष्टं—धृतम् । ( गो० )

अमृतः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।

यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

जिनके तुम जैसे धर्मात्मा और धर्मवत्सल पुत्र हैं वे महाबाहु  
महाराज दशरथ अजर अमर हैं ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।

आमन्त्रयितुमारेभे चरणानुपगृह्य च ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।

भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मुनि का वचन सुन, भरत हाथ जोड़ और उनके  
चरण छु और बार बार परिक्रमा कर, उनसे विदा हो, मंत्रियों  
सहित अयोध्या को प्रस्थानित हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

यानैश्च सकटैश्चैव ह्यैनैर्गैश्च सा चमूः ।

पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

भरत जी क साथ जा सेना थी, वह भी उनके पीछे हो ली ।  
सब सेना के लोगों में से कोई रथों, कोई छकड़ों कोई हाथियों  
और कोई घोड़ों पर सवार थे ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।

ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे सब लोग, लहरां से लहराती यमुना को पार कर  
फिर पवित्रतोया गङ्गा के तट पर पहुँचे ॥ २१ ॥

तां पुण्यजलसम्पूर्णां सन्तीर्य सहबान्धवः ।

भृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

\* पाठान्तरे—“रम्य” ।



भरत जी सेना तथा भाई बंदों के साथ पवित्र जल से पूर्य  
गङ्गा को पार कर शृङ्गवेरपुर में पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गवेरपुराद्भूयस्त्वयोध्यां सन्ददर्श ह ।

अयोध्यां च ततो दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा त्रिवर्जिताम् ॥ २३ ॥

शृङ्गवेरपुर से, चल कर भरत उस अयोध्यापुरी में पहुँचे,  
जो कि, उनके पिता महाराज दशरथ से और भाई श्रीराम से  
हीन थी ॥ २३ ॥

भरतो दुःखसन्तप्तः सारथिं चेदमब्रवीत् ।

सारथे पश्य विध्वस्ता साऽयोध्या न प्रकाशते ।

निराकाराः निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वरा ॥ २४ ॥

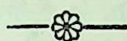
इति त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

ऐसी उदास अयोध्यापुरी को देख भरत जी दुःख से सन्तप्त  
हो सारथी से बोले कि, हे सारथे ! देखो, यह आयोध्या कैसी  
ध्वस्त हो रही है । यह अब पहले जैसी शोभायुक्त अयोध्या नहीं  
रही । क्योंकि इसमें न तो कहीं सजावट है और न कहीं  
आनन्दोत्सव ही देख पड़ते हैं । यह बड़ी दीन दिखलाई पड़ती  
है । देखो, नगर भर में कैसा सन्नाटा छाया हुआ है ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



## चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः



स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः ।

अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार महायशस्वी भरत जी ने, चलते समय गंभीर ध्वनि करने वाले रथ में बैठ, शीघ्र ही अयोध्या में प्रवेश किया ॥ १ ॥

विडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।

तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

नगरी में जा कर, भरत जी ने देखा कि, अयोध्या में जिधर देखो उधर ही विलियाँ और उलूक दिखलाई पड़ते हैं। घरों के द्वार बंद हैं। चारों ओर वैसे ही अंधकार छा रहा है, जैसे कृष्णपक्ष की रात में अंधकार ही अंधकार देख पड़ता है ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।

ग्रहेणाभ्युत्थितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा के राहु द्वारा ग्रसे जाने पर रोहिणी की शोभा नष्ट सी देख पड़ती है, उसी प्रकार अयोध्या की दशा हो रही है ॥ ३ ॥

अन्योष्णत्क्षुब्धसलिलां धर्मोत्तमविहङ्गमाम् ।

लीनमीनभ्रूषग्राहं कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

अथवा गरमी के मौसम में जिस समय पहाड़ी नदियों का जल सूर्य की गर्मी से गरम और मैला हो जाता है और वहाँ के जलपक्षी गर्मी के कारण वहाँ से उड़ कर, अन्यत्र चले जाते हैं

\* पाठान्तरे—“अनिलोत्क्षुब्ध” ।



और मछलियाँ मर जाती हैं, तथा अन्य जन्तु भी वहाँ नहीं रहते, एवं उस नदी की जो शोच्य दशा होती है, वही शोच्य दशा अयोध्या की है ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमामामध्वगग्नेः समुत्थिताम् ।

हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥

अथवा, जिस प्रकार घी की आहुति से अग्नि की शिखा पहले तो सोने के समान उज्ज्वल ज्योति का प्रकाश करती है, पीछे उसमें कीसी गिली वस्तु के गीरने से वह सहसा मन्द पड़ जाती है और अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार श्रीराम के विरह में अयोध्या देख पड़ती है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम् ।

हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

अथवा अयोध्या ऐसी जान पड़ती है, जैसी वह सेना जिसके (वीरों के) कवच, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा किसी महायुद्ध में छिन्न भिन्न हो जाने तथा वीर योद्धाओं के मारे जाने के कारण, विपन्न दशा को प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥

सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।

प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

अथवा, प्रबल वायु के वेग से समुद्र की लहरें जिस प्रकार भागों-सहित गरजती हुई उठती हैं, और पीछे मंद पवन के चलने से शब्दरहित हो जाती हैं, उसी प्रकार अयोध्यापुरी हो रही है ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः ।

सुत्याकाले विनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥

१ सुत्याकाले—समाप्ते । ( शि० ) \* पाठान्तरे—“सफेना स्स्वना” ।

अथवा जिस प्रकार यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर, योग्य  
याचकों से रहित हो, यज्ञशाला सुनसान हो जाती है उसी प्रकार  
अयोध्या सुनसान देख पड़ती है ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं तृणं नवम् ।

गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार साँड़ के वियोग में तरुण गाय उत्कण्ठित  
हो ताज़ी हरी घास न खा कर, उदास हो, गोशाला में खड़ी  
रहती है—उसी प्रकार अयोध्या भी उदास देख पड़ती है ॥ ९ ॥

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः ।

वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

अथवा जैसे चमकीली और सुन्दर मणियों से हीन, मोतियों  
का नया हार शोभारहित हो जाता है, वैसे ही अयोध्या शोभा-  
हीन हो रही है ॥ १० ॥

सहसा चलितां स्थानात् महीं पुण्यक्षयाद्गताम् ।

संहतघृतविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

अथवा जिस प्रकार पुण्यक्षय होने पर, अपने स्थान से  
चलायमान हो आकाश से दिन में गिरने से, तारा प्रभाहीन हो  
जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी प्रभाहीन हो रही है ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरनादिताम् ।

द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

१ प्रभाकराद्यैः पद्मरागाद्यैः । ( गो० )



अथवा, वसन्तऋतु के अन्त में जैसे मतवाले भौरों से  
 सुझारित खिले हुए फूलों वाली वनलता, वन की आग से  
 झुलस जाती है, वैसे ही अयोध्या भी झुलसी हुई सी देख पड़ती  
 है ॥ १२ ॥

१संमूढनिगमां स्तब्धां संचितविपणापणाम् ।

प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां घामिवाम्बुधरैर्वृताम् ॥ १३ ॥

अयोध्या के राजमार्ग सुनसान पड़े हैं । बाजार सब बंद हैं न  
 वो कोई दुकान ही खुली है और न कहीं कोई चीज ही बिड़ रही  
 है । जैसे वर्षाकाल में मेवों से आकाश व्याप्त होने के कारण,  
 चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन रात डरावनी जान पड़ती है, वैसे  
 ही अयोध्या भी डरावनी दीख पड़ती है ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमैर्मिन्नैः शरावैरभिसंवृताम् ।

हृत्शौण्डामिवाकाशेऽपानभूमिमसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

अथवा अयोध्यापुरी ऐसी जान पड़ती है, मानों मद पीने  
 वालों के मारे जाने से मद से रहित, दूटे फूटे पात्रों से भरी,  
 मिना झाड़ी बुहारी, मैदान में, मद्यपानशाला हो ॥ १४ ॥

वृक्षभूमितलां निम्नां वृक्षपात्रैः समावृताम् ।

उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥ १५ ॥

अथवा अयोध्यापुरी उस पौशाला की तरह देख पड़ती है  
 जिसकी भूमि विदीर्ण होने के कारण ध्वस्त हो गई हो और

१ संमूढनिगमां—बनस्रचाररहितमार्गाम् । ( गो० ) २ आकाशे—  
 अनावृतदेशे । ( गो० ) ३ वृक्षभूमितलां—विदीर्णभूमितलां । ( गो० )  
 ४ उपयुक्तोदकां—समाप्तसलिलां । ( शि० ) ५ निपतितां—विवासाय  
 विपतितजनां । ( शि० )

जिसमें दूटे फूटे वरतन भरे पड़े हों और जहाँ पानी चुक जाने के कारण प्यासे लोग पड़े हों ॥ १५ ॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् १ ।

भूमौ बाणैर्विनिष्कृतां पतितां ज्यामिवायुवात् २ ॥ १६ ॥

अथवा अयोध्या वैसी ही शोभाहीन देख पड़ती है, जैसी कि किसी बड़े धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यक्षा ( डोरी ) बलवान् वीरों के बाणों से कट कर धनुष से गिर पृथिवी पर, पड़ी शोभाहीन होती है ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशौण्डेन ३ हयारोहैश्च बाहिताम् ।

४ निक्षिप्तभाण्डासुत्सृष्टां ५ किशोरीमिव दुर्बलाम् ॥ १७ ॥

अथवा जैसे युद्धचतुर मनुष्य से हठात् सवारी की गई दुर्बल छोटी शत्रुसैन्य से मार कर गिरा दी गई हो, वैसी ही शोभाहीन अयोध्या देख पड़ती है ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्जयीमान् दशरथात्मजः ।

बाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथ पर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरत जी उन सुमंत्र से बोले, जो उस उत्तम रथ को हाँक रहे थे ॥ १८ ॥

७ किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्धितो न निशम्यते ।

यथापुरमथोऽप्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

१ तरस्विनां—वीराणां । ( गो० ) २ आयुधात्—धनुषः । ( गो० ) ३ युद्धशौण्डेन—आहवसमर्थेन । ( गो० ) ४ निक्षिप्तभाण्डाम्—अपरिचितभण्डभूषां । ( गो० ) ५ उत्सृष्टां—बाह्यनानर्हा । ( गो० ) ६ किशोरी—बालबडवां । ( गो० ) ७ किंनुखलु—अहो कष्टं जातमित्यर्थः । ( गो० )

वा०रा०—६६



हाय ! कैसे दुःख की बात है कि, इस पुरी में जैसे पहले गाना बजाना हुआ करता था, वैसा आज कहीं नहीं सुनाई पड़ता ॥ १९ ॥

१वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।

धूपितागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

फूल मालाओं की मस्त करने वाली एवं चन्दन अगर की धूप की सुगन्धि, पहले की तरह चारों ओर फैली हुई नहीं जान पड़ती । अथवा जैसा पहले पुष्प चन्दन और अगर का गन्ध चारों ओर फैला रहता था, वैसा आज नहीं फैल रहा ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः ।

प्रमत्तगजनादश्च महान्श्च रथनिस्वनः ॥ २१ ॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राम विवासिते ।

चन्दनागरुगन्धांश्च महार्हांश्च नवस्रजः ॥ २२ ॥

गते हि रामे तरुणाः सन्तप्ता नोपभुञ्जते ।

बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

हे सुमंत्र ! जैसा कि, पूर्वकाल में रथ आदि सवारियों के चलने का शब्द, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों के चिंघाड़ने का शब्द सुन पड़ता था, वैसा आज इस पुरी में श्रीराम के वन में चले जाने के कारण, नहीं सुन पड़ता । हाय चन्दन और बड़े मूल्यवान् ताजे पुष्पहारों को श्रीराम के त्रियोग में सन्तप्त हो अयोध्यावासी तरुणों ने धारण करना त्याग दिया है । अब लोग चित्रविचित्र पुष्पमालाएँ धारण कर बाहिर नहीं निकलते ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

१ वारुणीमदगन्धश्च—मदोत्पादकोगन्ध इत्यर्थः ( गो० )

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकादिते पुरे ।

सह नूनं मम आत्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

श्रीराम के वियोगजनित शोक से सब नगरवासी ऐसे विकल हैं कि, उत्सव का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता, मानों इस नगरी की शोभा मेरे भाई के साथ चली गई हो ॥ २४ ॥

न हि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनीरक्षपाः ।

कदा नुं खलु मे आता महोत्सव इवागतः ।

जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ॥ २५ ॥

हा ! यह अयोध्या तो मूसलाधार वर्षा से युक्त शुक्लपक्ष की रात्रि की तरह प्रकाशहीन हो गई है । ( अर्थात् शुक्लपक्ष की रात बड़ी सुहावनी होती है, किन्तु बदली छा जाने के कारण उसका सुहावनापन नष्ट हो जाता है । ) सो कब उत्सव रूप मेरे भाई श्रीरामचन्द्र यहाँ आ कर, ग्रीष्मकालीन मेघ की तरह, अयोध्या में आनन्द की वर्षा करेंगे ॥ २५ ॥

तरुणैश्चारुवैषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ४ ।

सम्पद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ॥ २६ ॥

जैसे पहिले सुन्दर वेष धारण कर और अक्रड़ कर चलने वाले जवानों से राजमार्ग की शोभा हुआ करती थी, वैसी शोभा अयोध्या के राजमार्गों की अब नहीं देख पड़ती ॥ २६ ॥

एवं बहुविधं जल्पन् विवेश वसतिं पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २७ ॥

१ सासारा—वेगवद्वृष्टिसहिता । ( गो० ) २ अर्जुनी—शुक्ल-  
पक्ष सम्बन्धिनी । ( गो० ) ३ क्षपा—रात्रि । ( रा० ) ४ उन्नतगामिभिः—  
सर्वगमनैः । ( गो० )



इस प्रकार शोक सन्ताप करते हुए, भरत जी ने, अपने पिता के निवासस्थान में, जो महाराज के बिना सिंहरहित गुफा की तरह जान पड़ता था, प्रवेश किया ॥ २७ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं

सुरैरिवोत्सृष्टमभास्करं दिनम् ।

निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान्

मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २८ ॥

इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय शोभाहीन निर्जन रत्नवास को देख, भरत रोने लगे और उसी प्रकार अत्यन्त दुःखी हुए, जिस प्रकार देवासुर संग्राम में सूर्यरहित दिन को देख, देवता लोग दुःखी हुए थे ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:❀:—

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

—:❀:—

ततो निक्षिप्य मातुः स अयोध्यायां दृढव्रतः ।

भरतः शोकसन्तप्तो गुरुनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दृढव्रतधारी भरत जी ने माताओं को अयोध्या में पहुँचा दिया । तदनन्तर वे शोक से पीड़ित हो, वसिष्ठादि गुरुजनों से बोले ॥ १ ॥

१ निक्षिप्य स्स्थाप्य । ( शि० )

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽद्य वः ।

तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥

मैं नन्दिग्राम जाऊँगा, इसके लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ रह कर जैसे होगा वैसे, श्रीराम के वियोग के समस्त दुःख सहूँगा ॥ २ ॥

गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्मम ।

रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशः ॥ ३ ॥

महाराज जो स्वर्ग पधारे, और बड़े भाई वन में जा बैठे । अतः मैं राज्यशासन के लिए श्रीराम की प्रतीक्षा करूँगा । क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही अयोध्या के राजा हैं ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महात्मा भरत जी के ऐसे शुभ वचन सुन, समस्त मंत्री और पुरोहित वसिष्ठ जी उनसे बोले ॥ ४ ॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।

वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥

हे भरत ! तुमने भ्राता के स्नेहवश जो कुछ कहा, वह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, ये वचन तुम्हारे ही मुख से निकलने योग्य हैं ॥ ५ ॥

नित्य ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।

आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥

जब तुम अपने भाई में प्रीतिवान् हो और उनका सौहार्द सम्पादन कर अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग में पहुँचे हुए हो, तब भला कौन पुरुष तुम्हारी बात न मानेगा ॥ ६ ॥



मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाऽभिलाषितं प्रियम् ।

अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार मंत्रियों के मुख से प्रिय वचन सुन भरत जी ने सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तैयार करो ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिवाद्य सः ।

आरुरोह रथं श्रीमाञ्छत्रशत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

जब रथ आ गया, तब भरत जी, सब माताओं से अच्छी तरह वार्तालाप कर और उनसे आज्ञा ले, शत्रुघ्न जी सहित प्रसन्न हो कर रथ पर सवार हुए ॥ ८ ॥

आरुह्य च रथं शीघ्रं शत्रुघ्नभरताबुधौ ।

ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥

उस रथ पर शीघ्र सवार हो, मंत्रियों और पुरोहितों को साथ ले, दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले ॥ ९ ॥

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।

प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥ १० ॥

वसिष्ठादि पूज्य ब्राह्मण, भरत के रथ के आगे पूर्व को मुख कर सब को साथ लिए हुए नन्दिग्राम की ओर चले ॥ १० ॥

बलं च तदनाहृतं गजाश्वरथसङ्कुलम् ।

प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥

भरत जी के वहाँ से रवाने होते ही, उनकी सेना भी हाथी घोड़ों रथों के सहित बिना बुलाए ही उनके पीछे होली तथा सब पुरवासी भी उनके साथ हो लिए ॥ ११ ॥

रथस्थः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधोय पादुके ॥ १२ ॥

धर्मात्मा एवं भ्रातृवत्सल भरत अपने माथे पर भाई की खड़ाऊँओं को रखे हुए, रथ पर सवार हो, बहुत शीघ्र नन्दिग्राम पहुँचे ॥ १२ ॥

ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।

अवत र्य रथात्तूर्णं गुरुनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥

तदनन्तर भरत जा तुरन्त ही नन्दिग्राम में प्रवेश कर और तुरन्त रथ से उतर गुरुओं से यह बोले ॥ १३ ॥

एतद्राज्यं मम आत्रा दत्तं सन्न्यासवत्स्वयम् ।

योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

भाई श्रीरामचन्द्र ने यह श्रेष्ठराज्य मुझे धरोहर की तरह सौंपा है सो उनकी ये सुवर्णभूषित पादुका ही इसके योगक्षेम का निर्वाह करेंगी ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा सन्न्यासं<sup>१</sup> पादुके ततः ।

अब्रवीदुःखसन्तप्तः सर्वप्रकृतिमण्डलम्<sup>२</sup> ॥ १५ ॥

अनन्तर श्रीराम की दी हुई प्रतिनिधि रूपी उन पादुकाओं को अपने सीस पर लगा, दुःखसन्तप्त हो, भरत जी सब प्रजा-जनों से बोले ॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।

अभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥ १६ ॥

१ सन्न्यासं पादुके—स्वप्रतिनिधित्वेनन्यस्तेपादुके । ( गो० ) २  
प्रकृतिमण्डलम्—प्रजासमूहं । ( शि० )



इन पादुकाओं को साक्षात् श्रीरामचन्द्र जी के चरण समक, इनके ऊपर शीघ्र छत्र तानों, चँवर डुलाओ, क्योंकि ये मेरे परम गुरु की पादुकाएँ हैं और इनसे राज्य में मानों धर्म स्थापित हुआ है ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी — “पादुकाओं से राज्य में धर्म का स्थापित होना” अर्थात् बड़े के रहते छोटे का राजसिंहासन पर बैठना अधर्म था । अतः ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी की प्रतिनिधि रूप पादुकाओं के अग्रे राजसिंहासन पर स्थापित होने से, अधर्म दूर हुआ है और धर्म स्थापित हुआ है । ]

आत्रा हि मयि सन्न्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्\* ।

तमिभं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

श्रीराम ने प्रेमपूर्वक जो यह धरोहर मुझे सौंपी है, सो इसकी मैं उनके लौट कर आने तक, रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।

चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥

फिर जब कि, वे अयोध्या में आ जाँयगे, तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुका पहिना, पादुकासहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।

निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम् ॥ १९ ॥

१ पालयिष्यामि—रक्षयिष्यामि । ( गो० ) २ गुरुवृत्तिताम्  
अर्थात्—पितरीवशुभ्रभांकरिष्यामि । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“  
सौहृदादयम् ।”

तदनन्तर श्रीराम से मिल और उनका राज्य उनको सौंप, पिता की सेवा जैसी पुत्र को करनी चाहिए, वैसी मैं उनकी सेवा करूँगा ॥ १६ ॥

राघवाय च सन्न्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।

राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापोऽ भवामि च ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीराम को इन धरोहररूपी पादुकाओं को, इस राज्य को और इस राजधानी अयोध्या को सौंप, अपनी माता के कारण अपने ऊपर लगे हुए अपयश को मैं धो डालूँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।

प्रीतिमम यशश्चैव भवेद्राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होन पर, प्रजाजन, हर्षित और आनन्दित होंगे । उस समय इस राज्य को श्रीराम के अर्पण करने से लोगों की मेरे प्रति चौगुनी प्रीति ही नहीं होगी, बल्कि मुझे यश भी मिलेगा । ( अर्थात् अब जो अपयश मिला है वह दूर हो कर मुझे यश की प्राप्ति होगी ) ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।

नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

महायशस्वा वार भरत इस प्रकार विलाप कर और दीन दुःखी हो, मंत्रियों की सहायता से नन्दिग्राम में रह, राज्य करने लगे ॥ २२ ॥

स वन्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।

नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

१ धूतपापः—इत्यत्रपापशब्देनकैकयीनिमित्तमयशउच्यते । ( गो० )



कीर भरतजीर बसन और जटाजूट धारण कर, मुनिवों का देव बना समस्त सेनासहित नन्दिग्राम में रहने लगे ॥ २३ ॥

[ टिप्पणी—अस्थायी रूप से भरत जी ने नन्दिग्राम में राज्याधीन स्थापित की थी । अतः राजधानीकी रक्षाके लिए सेना का रहना भी वहाँ आवश्यक था । अतः भरतजी नन्दिग्राम में सेनासहित रहने लगे थे । ]

रामानमनमाकाङ्क्षन् भरतो आतृवत्सलः ।

आतृवचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तथा ॥ २४ ॥

पादुके त्वमिषिच्यथ नन्दिग्रामेऽवसत्तदा ।

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ॥

भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

आतृवत्सल, श्रीराम के आने की आकांक्षा रखने वाले, श्रीराम के आज्ञाकारी और अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाले भरत राजसिंहासन पर श्रीराम की पादुकाओं को अभिषिक्त कर, नन्दिग्राम में रहने लगे । उन्होंने स्वयं उन पादुकाओं पर छत्र ताम और चँवर डुला, समस्त राज्य का शासन उन पादुकाओं को निवेदन किया ॥ २४ ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानमिषिच्यार्यपादुके ।

तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

तब श्रीमान् भरत जी इस प्रकार पादुकाओं का राज्यारम्भ कर, उनके अधीन हो, राज्यशासन करने लगे ॥ २६ ॥

तदा हि यन्कार्यमुपैति किञ्चि-

दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।

स पादुकाभ्यां प्रथमं निषेध

चकार पश्चाद्भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय राज्यशासन सम्बन्धी जो कुछ करना होता, वह पादुकाओं को जना कर किया जाता अथवा कोई बड़ी मूल्यवान् भेंट आती तो वह पहिले पादुकाओं के सामने रखी जाती थी पीछे उसका यथाविधि व्यवहार किया जाता था ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## षोडशोत्तरशततमः सर्गः

प्रातिप्रयाते भरते वसन् रामस्तपोवने ।

लक्षयामास<sup>१</sup> सोद्वेगमथौत्सुक्यं<sup>२</sup> तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरत जी जब अयोध्या को लौट गए तब श्रीराम ने देखा कि, चित्रकूट पर्वतवासी तपस्विगण डरे हुए हैं और वे स्थानान्तरित होने को उत्सुक हो रहे हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे ।

राममाश्रित्य<sup>३</sup> निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

जो तपस्वी पहले चित्रकूट के समीप तापसाश्रम में श्रीराम के सहारे रहा करते थे, उन्हें भी उस स्थान को छोड़, अन्यत्र जाने के लिए, श्रीराम ने उत्सुक देखा ॥ २ ॥

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः ।

अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः<sup>४</sup> कथाः ॥ ३ ॥

१ सोद्वेगं—समयम् । (गो०) २ औत्सुक्यं—आश्रमान्तरगमनाभिलाषं । (गो०) ३ निरतास्तान्—उत्सुकानगमनोत्सुकान् । अलक्षयतरामः इत्यनुषङ्गः । (गो०) ४ मिथः—रहस्ये । (गो०)



११००

अयोध्याकाण्डे

क्योंकि वे नेत्रों और भ्रुकुटियों के सङ्केतों से, श्रीराम को दिखा दिखा, सन्देहयुक्त हो, आपस में बातचीत और धीरे धीरे कुछ गुप्त परामर्श किया करते थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनिः शङ्कितः ।

कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

श्रीराम ने उनको उत्सुक और अपने विषय में उनको सशङ्कित देख, अध्यक्ष ऋषि से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

न कच्चिद्भगवन् किञ्चित्पूर्ववृत्तमिदं मयि ।

दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों को देख पड़ी, जिससे तपस्वि लोगों के मन में मेरे प्रति विकार पैदा हो गया है ॥ ५ ॥

प्रमादाचरितं किञ्चित्किञ्चिन्नावरजस्य२ मे ।

लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥

अथवा क्या ऋषि लोगों ने मेरे छोटे भाई महानुभाव लक्ष्मण जी को अनवधानतावश कोई अन्यायाचरण करते देखा है ॥ ६ ॥

कच्चिद्भूश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।

प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीतायुक्तं न वतते ॥ ७ ॥

१ आत्मनि शङ्कितः—स्वस्मिन् संजातशङ्कः । २ अवरजस्य—लक्ष्मणस्य । ( गो० ) ३ नानुरूपं—अनुचितम् । ( रा० )

या आप लोगों की सेवा करती हुई और मेरी सुश्रूषा में निरत सीता ने तो अनवधानतावश कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिसका करना स्त्रियों के लिए अनुचित हो ॥ ७ ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।

वैपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र की कही इन बातों को सुन, एक बूढ़े महर्षि, जिनका शरीर बहुत दिनों तक तप करते करते जोर्ण हो गया था, काँपते हुए सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीराम से बोले ॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः? कल्याणाभिरतेस्तथा ।

चलनं तात वैदेह्यास्तयस्त्रिषु विशेषतः ॥ ९ ॥

हे तात ! कल्याण स्वभाव वाली और प्राणियों का कल्याण करने में तत्पर सीता जी क्या कभी किसी के साथ—तो भी विशेष कर ऋषियों के साथ, किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार कर सकती है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान् प्रति वर्तते ।

रक्षोभ्यस्तेन संविन्नाः कथयन्ति मिथः<sup>२</sup> कथाः ॥ १० ॥

यद्यर्थ बात तो यह है कि, तुम्हारे कारण, ऋषियों के ऊपर राक्षसों ने अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है । इसी लिए ऋषिगण भयभीत हो आपस में अपने बचाव के लिए गुप्ते परामर्श किया करते हैं ॥ १० ॥

---

१ कल्याणसत्त्वायाः—कल्याणस्वभावायाः । ( गो० ) २ मिथः—  
रहसि । ( गो० )



११०२

## अयोध्याकाण्डे

रावणावरजः कश्चित्स्वरो नामेह राक्षसः ।

१ उत्पाद्य तापसान्सर्वाङ्गनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस जनस्थानवासी सब तपस्वियों को उनके जनस्थानस्थित आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी<sup>२</sup> च नृशंसः पुरुषादकः ।

अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे तात ! वह बड़ा ढीठ और जयी है तथा ऐसा निष्ठुर है कि मनुष्यों को मार कर खाया करता है । अतः वह महापातकी है और तुम्हारा यहाँ रहना उसको सख्त नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।

तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे तात ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधिक व तपस्वियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः<sup>३</sup> क्रूरैर्भीषणकैरपि ।

५ नानारूपैर्विरूपैश्च<sup>६</sup> ७ रूपैर्विकृतदर्शनैः<sup>८</sup> ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयङ्कर, भीषण और विलक्षण विकट शक्त बना टेढ़ी आँखें कर तपस्वियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

१ उत्पाद्य—निष्कास्येति । ( गो० ) २ जितकाशी—जिताङ्गवः । ( गो० ) ३ बीभत्सैः—जुगुप्सितैः । ( गो० ) ४ क्रूरैः भयङ्करैः । ( गो० ) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । ( गो० ) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । ( गो० ) ७ रूपैः—शरीरैः । ( गो० ) ८ विकृतदर्शनैः—विकृतदृष्टिभिः । ( गो० )

अप्रशस्तैश्शुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान् ।

अतिमन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

वे अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्वियों के आश्रमों में डाल ऋषियों को तंग करते हैं। अधिकतर तो वे सीधे सादे तपस्वियों को देखते हैं 'मार डालते हैं' ॥ १५ ॥

तेषु तेष्व्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धरमवलीय च ।

रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

वे क्षुद्र बुद्धि वाले राक्षस छिप कर सर्वत्र घूमा कगते हैं, और जहाँ कहीं यदि किसी तपस्वी को असावधान पाते हैं, तो तत्क्षण ही उसे मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपक्षिपन्ति स्त्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा ।

कलशांश्च प्रमृद्नन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्वि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राक्षस आकर श्रुवों और यज्ञपात्रों को फेंक कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल उसे बुझा देते हैं और कलसों को फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः ।

गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! उन दुष्टों के इन उपद्रवों से तंग आ कर, तपस्वि-गण इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलने के लिए मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

१ अप्रशस्तैः—अशुभैः । (गो०) २ अबुद्ध—अविदित । (गो०)

३ अल्पचेतसः—क्षुद्रबुद्धयः । (गो०)



रावणावरजः कश्चित्स्वरो नामैह राक्षसः ।

१ उत्पाद्य तापसान्सर्वाञ्जनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस जनस्थानवासी सब तपस्वियों को उनके जनस्थानस्थित आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी<sup>२</sup> च नृशंसः पुरुषादकः ।

अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे तात ! वह बड़ा ढीठ और जयी है तथा ऐसा निष्ठुर है कि मनुष्यों को मार कर खाया करता है । अतः वह महापातकी है और तुम्हारा यहाँ रहना उसको सह्य नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।

तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे तात ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधि व तपस्वियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः<sup>३</sup> क्रूरैर्भीषणकैरपि ।

५ नानारूपैर्विरूपैश्च<sup>६</sup> ७ रूपैर्विकृतदर्शनैः<sup>८</sup> ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्सित, भयङ्कर, भीषण और विलक्षण विकट शक्त बना टेढ़ी आँखें कर तपस्वियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

१ उत्पाद्य—निष्कास्येति । ( गो० ) २ जितकाशी—जिताश्वः । ( गो० ) ३ बीभत्सैः—जुगुप्सितैः । ( गो० ) ४ क्रूरैः भयङ्करैः । ( गो० ) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । ( गो० ) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । ( गो० ) ७ रूपैः—शरीरैः । ( गो० ) ८ विकृतदर्शनैः—विकृतदृष्टिभिः । ( गो० )

अप्रशस्तैश्शुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान् ।

अतिमन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

वे अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्वियों के आश्रमों में डाल ऋषियों को तंग करते हैं। अधिकतर तो वे सीधे सादे तपस्वियों को देखते ह 'मार डालते हैं ॥ १५ ॥

तेषु तेष्व्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च ।

रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

वे क्षुद्र बुद्धि वाले राक्षस छिप कर सर्वत्र घूमा करते हैं, और जहाँ कहीं यदि किसी तपस्वी को असावधान पाते हैं, तो तत्क्षण ही उसे मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपक्षिपन्ति स्नुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा ।

कलशांश्च प्रमृद्वनन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्वि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राक्षस आकर श्रुवों और यज्ञपात्रों को फेंक कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल उसे बुझा देते हैं और कलसों को फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः ।

गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! उन दुष्टों के इन उपद्रवों से तंग आ कर, तपस्वि-गण इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलने के लिए मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

१ अप्रशस्तैः—अशुभैः । (गो०) २ अबुद्ध—अबिदित । (गो०)

३ अल्पचेतसः—क्षुद्रबुद्धयः । (गो०)



तत्पुरा राम शरीरामुपहिंसां तपस्विषु ।

दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्त्याम इममाश्रमम् ॥ १६ ॥

हे श्रीराम ! वे दुष्ट राजस इस वन के तपस्वियों को मार डालने की धमकियाँ दिखा करते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को त्याग देते हैं ॥ १६ ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।

पुराणाश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

यहाँ से थोड़ी ही दूर पर, महर्षि अश्व का, बहुत से कन्द-मूल फलों से युक्त एक विचित्र तपोवन है । हम सब मुनियों को साथ ले, वही जा बसेंगे ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते ।

सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हे तात ! अगर तुमको ठीक जान पड़े तो तुम भी हम लोगों के साथ वही चलो । क्योंकि वह खर राजस तुमको भी तंग करेगा ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य सन्देहो नित्यं यत्तस्य राघव ।

समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥ २२ ॥

हे राघव ! यद्यपि तुम उससे अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, तथापि स्त्री को साथ ले कर, यहाँ रहना सदा खटके से खाली न होने के कारण, तुम्हारे लिए क्लेशदायी होगा ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।

न शशाकोत्तरैर्विक्रयैरवरोद्धुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

१ शरीरसन्धिनीम्—हिंसां तपस्विषु दर्शयन्ति । ( शि० )  
 \* पाठान्तरे—“समुत्सुकः ।”

कुलपति का ऐसा वचन सुन और जाने के लिए उनको  
अत्यन्त उत्सुक देख, राजकुमार श्रीरामचन्द्र किसी प्रकार भी  
समझा बुझा कर, वह स्थान त्यागने से उन्हें न रोक सके ॥२३॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।

स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥ २४॥

तदनन्तर कुलपति, श्रीराम की प्रशंसा कर, उनको समझा  
बुझा और उनसे विदा हो तथा सब तपस्वियों को साथ ले, उस  
आश्रम को त्याग कर, चल दिए ॥ २४ ॥

रामः१ संसाद्य त्वृषिगणमनुगमनाद्

देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।

सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः

पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिसंपेदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब उन लोगों की प्रस्थान करने की तैयारी हुई,  
तब श्रीरामचन्द्र जी भी कुछ दूर तक उनको पहुँचाने गए । तदन-  
न्तर श्रीराम कुलपति की अनुमति ले और उनको प्रणाम कर,  
अपनी पवित्र पर्णशाला में लौट आए । जब श्रीराम लौटने लगे,  
तब ऋषियों ने प्रीतिपूर्वक योग्य कर्त्तव्यकर्म का भली भाँति  
उनको उपदेश दे, उनको विदा किया ॥ २५ ॥

आश्रम त्वृषिविरहितं प्रभुः

क्षणमपि न विजहौ स राघवः ।

१ संसाद्य—प्रस्थात्य । ( गो० )



राघवं हि सततमनुगता-

स्तापसाश्चर्षिचरितधृतगुणाः ॥ २६ ॥

इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीराम उस ऋषिहीन आश्रम को क्षण भर के लिए भी सूना नहीं छोड़ते थे । उनमें से कुछ ऋषि ऐसे थे जो श्रीराम का तपस्वियों जैसा आचरण देख, उनको अपना मन समर्पित कर चुके थे । अतः वे ऋषि श्रीराम को अपने मन में सदा स्मरण किआ करते थे ॥ २६ ॥

[ श्लोक २५, २६ का वृत्त भूषणकार ने चिन्त्य बतलाया है । ]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सौलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन् ।

न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

ऋषियों के उस आश्रम को त्याग कर चले जाने पर श्रीराम चन्द्र जी ने अनेक बातों को सोच विचार कर, वहाँ रहना ठीक न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टा मातरश्च सनागराः ।

सा च मे स्मृतिरन्वेति तां नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

१ ऋषिचरितेरामेधृतगुणाः—समर्पित मनसः तापसाः राघवं सततमनुगताः मनसा प्राप्ताः । ( शि० )

श्रीरामचन्द्र ने विचारा कि, इस स्थान पर नगरवासियों से, भाई भरत से और माताओं से मेरी भेंट हुई थी, सो यहाँ रहने से मेरी चित्तवृत्ति सदा उन्हींकी ओर लगी रहती है और वह मुझे शोकाकुल किआ करती है ॥ २ ॥

स्कन्धावांरनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।

हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

विशेष कर यहाँ महात्मा भरत की सेना के टिकने से, हाथी घोड़ों ने ( जो लीद और मूत्र त्याग किआ था अथवा ) जो रौंदा था, इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त गन्दी हो गई है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति सञ्चिन्त्य राघवः ।

प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च सङ्गतः ॥ ४ ॥

अतः इस आश्रम को त्याग दूसरी जगह चलना ठीक है । इस प्रकार सोच विचार कर, श्रीराम अपने साथ सीता और लक्ष्मण को ले, वहाँ से चल दिए ॥ ४ ॥

सोऽत्रैराश्रममासाद्य तं वन्दे महायशाः ।

तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

महायशस्वी श्रीराम ने वहाँ से प्रस्थान कर अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँच, मुनि को प्रणाम किआ । अत्रि मुनि ने भी उनको पुत्रभाव से देखा ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्यरमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।

सौमित्रिं च महाभार्गासीतां च समसान्वययत् ॥ ६ ॥

१ प्रातिष्ठत—प्रस्थितः । ( गो० ) २ आतिथ्यमादिश्य—आतिथ्यं कृत्वा । ( गो० ) ३ समसान्वययत्—प्रीतियुक्तेन चक्षुषापश्यत् । ( रा० )



अत्रि ऋषि ने स्वयं श्रीरामचन्द्र का यथाविधि अतिथि  
 सत्कार कर, महाभाग लक्ष्मण और सीता जी को स्नेह की दृष्टि  
 से देखा ॥ ६ ॥

पत्नीं च समनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।  
 सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों के हित में रत, धर्मज्ञ अत्रि मुनि ने वहाँ पर  
 उपस्थित, अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी अनुसूया जी को बुला कर,  
 उनको आदरपूर्वक बिठा कर समझाया ॥ ७ ॥

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।  
 प्रतिगृहीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥

तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि जी ने उन महाभाग्यवती, तपस्विनी  
 और धर्म में निरत अनुसूया जी से कहा कि, जानकी हमारे  
 आश्रम में आई हैं, सो इनको अपने साथ ले जा कर, इनका  
 आदर सत्कार करो ॥ ८ ॥

रामाय चाचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।  
 दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥  
 यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।  
 उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥  
 दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत्तपः ।

अनसूयाव्रतैः स्नात्वा प्रत्यूहाश्च निवर्तिताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर अत्रि जी ने श्रीराम से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी  
 अनुसूया का वह सब वृत्तान्त कहा कि, दस वर्ष तक बराबर

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

११०६

जल की वृष्टि न होने से जब संसार भस्म होने लगा था, तब अनुसूया जी ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिये फलमूल उत्पन्न किए और स्नान करने को गङ्गा नदी वहाँ बहाई और किस प्रकार हजार वर्षों तक उग्र तपस्या कर और तपस्या के प्रभाव से, सब ऋषियों के तप के विघ्न नष्ट किए थे ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया सन्त्वरमाण्या ।

दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

अत्रि जी ने श्रीराम से कहा—हे अनघ ! यह वही अनुसूया हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिए, तुरन्त ही दस रात की एक रात कर दी थी ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।

अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं सब कारणों से यह यशस्विनी सब प्राणियों से नमस्कार किए जाने योग्य अर्थात् सब की पूज्या हैं । इन वृद्धी बड़ी तथा सदा क्रोध रहित मनवाली अनुसूया जी के साथ । जानकी जी जाँय ॥ १३ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।

तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १४ ॥

जो अपने उत्कृष्ट कर्मों के कारण लोकों में अनुसूया के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन तपस्विनी एवं साथ जाने के योग्य अनुसूया के पास जानकी जी शीघ्र जाँय ॥ १४ ॥



१११०

अयोध्याकाण्डे

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।

सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

अत्रि जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा “तथास्तु”—( बहुत अच्छा सीता अनुसूया जी के साथ जायँगी) तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से यह उत्तम वचन कहा ॥ १५ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन् मुनेरस्य समीरितम् ।

श्रेयोर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

हे राजपुत्रि ! मुनि जी ने जो कहा सो तो तुमने सुन ही लिया । अतः अब तुम अपने कल्याण के लिए शीघ्र इन तपस्विनी जी के साथ गमन करो ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः ।

तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

हितैषी श्रीराम के ये वचन सुन, सीता जी, पतिव्रत धर्म की जानने वाली अत्रिपत्नी—अनुसूया के साथ गई ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।

सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदली यथा ॥ १८ ॥

अनुसूया जी का शरीर, बुढ़ापे के कारण शिथिल हो गया था । सब शरीर की खाल सिकुड़ गई थी और सिर के सब बाल सफेद हो गए थे । हवा के वेग से काँपते हुए केले के पेड़ की तरह, उनका शरीर सदा काँपा करता था ॥ १८ ॥

सप्तदशोत्तरशतरमः सर्गः

११११

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।

अभ्यवाद्यदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥ १६ ॥

उन महाभाग्यवती और पतिव्रता अनुसूया जी को, सीता जी ने अपना नाम ले कर, प्रणाम किया ॥ १६ ॥

[ टिप्पणी—धर्मशास्त्र में जहाँ प्रणाम करने की विधि लिखी है, वहाँ प्रणाम करने वालों के लिए स्वनामोच्चारण पूर्वक प्रणाम करने की विधि निर्दिष्ट है। यथा—“अमुक गोत्रोत्पन्नोऽहं अमुक शर्माऽहं त्वां अभिवाद्यामि।” चरणस्पर्श करने का भी विधि है। जिसके चरणस्पर्श किए जाय, उसका वामपाद अपने वाम हस्त से और उसका दक्षिण पाद अपने दक्षिण हस्त से स्पर्श करें। ]

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तामनिन्दिताम् ।

बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन अनिन्दिता तर्पास्वनीजी को वैदेही ने प्रणाम करके हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनसे कुशल प्रश्न किया ॥ २० ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।

सान्त्वयन्त्यब्रवीद्दृष्ट्वा दिष्ट्याः धर्ममवेक्षसे ॥ २१ ॥

धर्मचारिणी और महाभाग्यवती सीता जी को प्रणाम करते और कुशलप्रश्न पूछते देख, अनुसूया जी ने धीरज बंधाने के लिए सीता जी से कहा—हे सीते ! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम पतिव्रतधर्म की ओर भली भाँति ध्यान देती हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते ४ मानमृद्धिं च मानिनि\* ।

५ अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या ६ त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

१ समुदाहरत्—प्रणाम विधिनोच्चारयामास । (शि०) २ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) ३ धर्ममवेक्षसे—पतिव्रत्य धर्ममवधानेन समीक्षसे । (गो०) ४ मानं—अहंकारं । (गो०) ५ अवरुद्धं—नियुक्तं । (शि०) ६ दिष्ट्या—भाग्यमेतत् । (शि०) \* पाठान्तरे—“भामिनि” ।



हे मानिनी ! तुम्हारे लिए यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, तुम अपनी जाति वालों को, राजकुमारी होने के अहङ्कार को और धन सम्पत्ति को त्याग कर, वनवासी श्रीराम की अनुगामिनी हुई हो ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २३ ॥

पति वन में रहे अथवा नगर में रहे, पति पापी हो अथवा पुण्यात्मा हो ; जो अपने पति से प्रीति रखती है, वह उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त करती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

भले ही पति क्रूर स्वभाव का हो, कामी हो, धनहीन हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिए उनका पति देवता के तुल्य है अथवा पति ही उनका परम देवता है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।

१ सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

हे वैदेही ! मैंने भली माँति विचार कर देखा, परन्तु पति से अधिक स्त्रियों का बन्धु कोई नहीं पाया । क्योंकि पति सब अवस्थाओं में, अक्षय तप की तरह, पत्नी की रक्षा करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः ।

कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

हे वैदेही ! कामासक्त, पतियों की स्वामिनी दुष्टा स्त्रियाँ,  
भलाई बुराई का विचार नहीं करती ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।

अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥ २७ ॥

हे मैथिली ! ऐसी स्त्रियाँ निश्चय ही अनकरने कामों में फँस  
अपनी निन्दा करवाती और धर्मभ्रष्ट भी होती हैं ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।

स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥ २८ ॥

किन्तु तुम्हारी तरह जिन गुणवती स्त्रियों ने संसार के अच्छे  
बुरे कर्मों को जान लिया है, वे पुण्यकर्मा पुरुषों की तरह  
स्वर्ग प्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

तदेवमेनं त्वमनुव्रता सती

पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।

भव स्वभर्तुः सह धर्मचारिणी

यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे सती ! इसी प्रकार तुम पति के कहने में चल और पति-  
व्रताओं के आचरण करती हुई, अपने पति की सहधर्मिणी हो ।  
ऐसा करने से तुम्हें यश और पुण्य दोनों मिलेंगे ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—



## अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।

प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब निन्दारहित अनुसूया ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी उनके कथन का अनुमोदन कर धीरे से बोलीं ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभाषसे ।

विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

हे आर्ये ! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना—कोई आश्चर्य की बात नहीं है । परन्तु मैं भी यह जानती हूँ कि, नारी का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्धर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः ।

१ अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

यद्यपि पति अच्छी वृत्ति से हीन और दरिद्र ही क्यों न हो, तथापि मुझ जैसी स्त्रियों को उसके प्रति द्वैधी भाव न रखना चाहिए अर्थात् पति के साथ प्रीतिपूर्वक बर्ताव करना चाहिए ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।

स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

१ अद्वैधं--द्वैधीभावरहितं । ( गो० ) २ मातृवत्पितृवत्प्रियः--  
अत्यन्तहितपरत्वेन । ( गो० )

फिर जो पति गुणवान होने के कारण सराहनीय है, दया-  
वान्, जितेन्द्रिय, स्थिरानुरागी, धर्मज्ञ और माता पिता की तरह  
अत्यन्त हित में तत्पर है, उसका तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥

यां ॥ ४ ॥ चित्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।

तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

देखिए श्रीरामचन्द्र जी की जो भावना अपनी जननी  
कौसल्या में है, उनकी वही भावना महाराज की अन्य सब  
रानियों में भी है । अर्थात् उनको भी श्रीराम निज मातृवत् समझ  
उनके साथ माता जैसा व्यवहार करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद्दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।

मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—किन्तु, महाराज दशरथ ने जिन स्त्रियों को  
और एक बार भी आँख उठा कर देखा अर्थात् अपनी स्त्री मान  
कर देखा, उन स्त्रियों को भी महाराज के प्यारे वीरवर और  
धर्मज्ञ श्रीराम मातृवत् सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् ।

समाहितं मे श्वश्र्वा हृदये तद्धृतं महत् ॥ ७ ॥

मैं जब इस भयानक निर्जन वन को आने लगी, तब सास  
कौसल्या जी ने आपकी तरह मुझे जो उपदेश दिया था; वह  
मेरे हृदय में है अर्थात् मेरे हृदयपटल पर अङ्कित है और उसे  
मैं भूली नहीं हूँ ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ ।

अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥



विवाह के समय अग्नि के सामने मेरी माता ने मुझ को उपदेश दिया था, वह भी मुझे याद है ॥ ८ ॥

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि ।

पतिशुश्रूषणाभार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥

हे धर्मचारिणी ! पतिसेवा को छोड़ स्त्री के लिए दूसरी तपस्या नहीं है--इत्यादि उपदेश जो मेरे बन्धुबान्धवों ने मुझे दिए थे, उनको आपने पुनः ( आज ) मेरी स्मृति में ताजो ( नवीन ) कर दिए ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।

तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

देखिए, सावित्री अपने पति की सेवा कर के ही, स्वर्ग में, आदर प्राप्त कर निवास करती हैं। इसी प्रकार आप भी पति-सेवा द्वारा स्वर्ग पावेंगी ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।

रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

सब स्त्रियों में श्रेष्ठ और स्वर्ग की देवी रोहिणी भी, चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी नहीं देख पड़ती ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः ।

देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

इसी प्रकार की और भी अनेक उत्तम स्त्रियाँ, जो दृढपातिव्रत धर्म धारण करने वाली हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्ग में जाती हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनघ्या संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।

शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

सीता जी की बातें सुन, अनुसूया जी हर्षित हुई और सीता जी का मदतक सूँघ उनको हर्षित कर, कहने लगीं ॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे ।

तत्संश्रित्य बलं सीतेच्छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैंने अनेक प्रकार के व्रतनियम आदि का पालन कर, जो तपःफल सञ्चित किया है, वह थोड़ा नहीं बहुत अधिक है । अतः हे शुचिस्मिते ! उस तपःफल के बल से मैं तुम्हें वर देना चाहती हूँ सो तू वर माँग ॥ १४ ॥

उपपन्नं मनोज्ञं च वचनं तव मैथिलि ।

प्रीता चास्म्युचेतं किं ते करवाणि ब्रवीहि मे ॥ १५ ॥

क्योंकि हे मैथिली ! तूने जो उचित एवं मनोहर बातें कही हैं, उनसे मैं तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । अब तू बतला कि, मैं तेरा क्या प्रियकार्य करूँ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।

कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

पातिव्रतधर्म की जानने वाली तपोबल से युक्त अनुसूया जी के यह वचन सुन, सीता जी ने विस्मित हो तथा मुसकया कर, कहा कि, आपके अनुग्रह ही से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गई ॥ १६ ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराऽभवत् ।

सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥



पातिव्रतधर्म की जानने वाली अनुसूया जो सीता जी के यह वचन सुन, उन पर और भी अधिक प्रसन्न हुई और बोली—हे सीते ! तुझे देख कर मुझे जो हर्ष हुआ है, उसके अनुरूप उसे मैं प्रवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च ।

अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं वानुलेपनम् ॥ १८ ॥

यह उत्तम दिव्य माला, वस्त्र, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान् उबटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे ॥ १८ ॥

मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।

अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे ।

शोभयिष्यति भर्तारं यथा श्रीविष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥

हे जनकनन्दिनी ! इन वस्तुओं का नित्य व्यवहार करने से भी ये कभी मैं ली नहीं होंगी और तेरे शरीर के लिए ठीक होंगी और तेरे अंगों की शोभा बढ़ावेगी । मेरे दिये हुए इस दिव्य अङ्गराग को अपने अंगों में लगाने से तुम अपने पति को उसी प्रकार शोभित करोगी जैसे लक्ष्मीदेवी नाशरहित भगवान् श्रीविष्णु को शोभित करती हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा ।

मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जानकी जी ने अनुसूया जी के दिए हुए उत्तम प्रेमोपहार वस्त्र अङ्गराग, आभूषण और माला आदि को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ २१ ॥

१ अनुरूपम्—तद्गात्रानुरूपं । (गो०) २ असंक्लिष्टं—अवाधिव-  
शोभमित्यर्थः । (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।

श्लिष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

यशस्विनी सीता ने अनुसूया जी के दिए हुए, उस प्रेमोहार को ग्रहण किया और हाथ जोड़ कर तपस्विनी अनुसूया के पास बैठी ॥ २२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।

वचनं प्रष्टुमारंभे कथां कांचिदनुप्रियाम्\* ॥ २३ ॥

जानकी जो को पास बैठी देख, दृढ़पातिव्रत धारण करने वाली अनुसूया जी सीता जी से कोई मनोरञ्जक बात सुनने की इच्छा से पूछने लगी ॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।

राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

हे जानकी ! इन यशस्वी श्रीरामचन्द्र ने तुमको स्वयंवर में पाया यह कथा मैं ( संक्षेप से तो, सुन चुकी हूँ ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।

यथाऽनुभूतं कात्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

किन्तु हे मैथिली ! इस वृत्तान्त को मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहती हूँ । सो जो कुछ हुआ था वह समस्त मुझे सुनाओ ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम् ।

श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

सीता जी ने, अनुसूया जी के ये वचन सुन, धर्मचारिणी तपस्विनी अनुसूया जी से यह कहा कि, सुनिए वह वृत्तान्त सुनाती हूँ ॥ २६ ॥

\* पाठान्तरे—“कांचित्प्रियकथामनु”।



मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित् ।

क्षत्रधर्मे ह्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥२७॥

सीता जी बोलीं—मिथिला के अधिपति, वीर और धर्मज्ञ  
महाराज जनक, क्षात्रकर्ताव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं, और  
न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कर्षतः क्षेत्रमण्डलम् ।

अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८॥

यज्ञ के लिए यज्ञभूमि का संस्कार करने को जब हल हाथ  
में ले, वे खेत जोतने लगे, तब मैं पृथिवी को भेद कर उनकी पुत्री  
के रूप में निकल आई ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।

पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं जनको विस्मितोऽभवत् ॥ २९ ॥

उस समय राजा जनक जो मंत्रपाठपूर्वक मुट्ठी में ले औषधि  
के बीज बोने में तत्पर थे मेरे सारे शरीर में धूल लगी देख,  
विस्मित हुए ॥ २९ ॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्गमारोप्य च स्वयम् ।

ममेयं तनयेत्युक्त्वा\* स्नेहो मयि निपातितः ॥३०॥

सन्तानहीन होने के कारण, उन्होंने स्नेह से स्वयं मुझे उठा  
अपनी गोदी में लिया और यह कहा कि, यह मेरी बेटी है। वे  
मेरे ऊपर बड़ा स्नेह करने लगे ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ताप्रतिमामनुषी किल ।

एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

१ अनपत्येन च तेन—स्नेहान्मामङ्गमारोप्य । ( गो० )

\*पाठान्तरे—“तनयेत्युक्ता”।

उस समय आकाश से मनुष्य जैसी बोली में यह वचन सुन पड़े कि—हे राजन् ! निश्चय ही यह तुम्हारी धर्मपुत्री है ॥३१॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।

१अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

तब तो मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए और मेरे मिलने से नरेन्द्र को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टवदेव्यै२ ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणा३ ।

तया संभाविता४चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥३३॥

सदा यज्ञानुष्ठान करने वाले महाराज जनक ने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं, ईप्सित-वस्तु की तरह सौंप दिया । वे आदर और स्नेह से और माता जैसे अनुराग से, मेरा लालन पालन करने लगीं ॥ ३३ ॥

५पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।

चिन्तामभ्यगमद्दीनो विचनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

मुझे विवाह करने के योग्य उम्र में पहुँची देख, पिता जी उसी प्रकार चिन्ताग्रस्त और विकल हुए, जिस प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विकल और चिन्ताग्रस्त होता है ॥ ३४ ॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् ।

६प्रधर्षणामवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥

१ मल्लामोत्तरं तस्य महती समृद्धिर्जातिति भावः । ( रा० ) २ इष्टव-  
देव्यै—इच्छावत्यै देव्यै । ( गो० ) यद्वा सन्तानेच्छावत्यै देव्यै । ( रा० )

३ पुण्यकर्मणा—अनवरतयज्ञादिकर्मयुक्तेन जनकेन । ( गो० ) ४  
संभाविता—संवर्धितेत्यर्थः । ( गो० ) ५ पतिसंयोग सुलभं—पाणिग्रहणो-  
चितं । ( रा० ) ६ प्रधर्षणां—तिरस्क्रियां ( गो० )



क्योंकि, कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो,  
और वर के पक्ष के लोग बराबर या हीन दर्जे ही के क्यों न हों  
किन्तु कन्या के पिता को नीचा ही देखना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां दृष्ट्वा चात्मनि पार्थिवः ।

चिन्तार्णवगतः पारं नाससादासवो यथा ॥ ३६ ॥

अतः मेरे पिता उस तिरस्कार के होने में कुछ भी बिलम्ब न  
देख, चिन्तासागर में निमग्न हो गए और नौकाहीन जन की तरह  
वे उस चिन्तासागर के पार न जा सके ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाप्यगच्छद्विचिन्तयन् ।

सदृशं चानुरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

पिता जी, मुझे अयोनिजा जान, मेरे सदृश और मेरे योग्य  
वर, बहुत ढूँढ़ने पर भी न पा सके। अतः उनको इस बात की  
सदा चिन्ता बनी रहती थी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम् ।

स्वयंवरं तनूजायाः कर्षिष्यामीति धीमतः ॥ ३८ ॥

निरन्तर सोचते सोचते मेरे बुद्धिमान् पिता ने यह विचारा  
कि, इस पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर की योजना करनी  
उचित है ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।

दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूष्णीं चाक्षयसायकौ ॥ ३९ ॥

पूर्वकाल में किसी समय किसी महायज्ञ में मेरे पिता जी के  
किसी पूर्वज को, वरुण जी ने प्रीतिपूर्वक एक श्रेष्ठ धनुष और  
अक्षय बाणों से पूर्ण दो तरफस दिए थे ॥ ३९ ॥

असंचान्यं मनुष्यैश्च यत्तेनापि च गौरवात् ।

तत्र शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

यह धनुष इतना भारी था कि अनेक मनुष्य मिल कर बड़ा प्रयत्न करने पर भी उसे सरका भा नहीं सकते थे और राजा लीच स्वप्न में भी उसको नहीं लचा सकते थे ॥ ४० ॥

तदनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।

समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

मेरे सत्यवादी पिता महाराज जनक ने पुरुषानुक्रम से वह धनुष पाया था । सो उन्होंने राजाओं को निमंत्रण दे एकत्र किया और फिर सब के सामने बोले ॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।

तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

हे राजा लोगों ! आप लोगों में से जो पुरुष इस धनुष को उठा कर, इस पर रोदा चढ़ा देगा, मैं अपनी पुत्री उसीको व्याह्र दूँगा । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४२ ॥

तत्र दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद्गिरिसन्निभम् ।

अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

राजा लोग पहाड़ की तरह भारी उस धनुषश्रेष्ठ को देख, और उसे उठाने की अपने में शक्ति न पा कर, धनुष को प्रणाम कर कर चले गए ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।

विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समामतः ॥ ४४ ॥



११२४

## अयोध्याकाण्डे

स्वयंवर समा समाप्त होने के बहुत दिनों बाद यह महाश्रुति-  
मान् श्रीराम विश्वामित्र जी के साथ, पिता जी का यज्ञ देखने  
आए ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

मेरे पिता जी ने भाई लक्ष्मण के साथ आये हुए सत्यपराक्रमी  
श्रीराम और धर्मात्मा विश्वामित्र जी का भली भाँति आदर सत्कार  
किया ॥ ४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ४६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी ने मेरे पिता से कहा कि ये महाराज  
दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण हैं और यह आपका  
धनुष देखना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम्<sup>१</sup> ।

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद्धनुः समुपानयत् ॥ ४७ ॥

अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को वरुण का दिआ हुआ वह  
धनुष दिखला दीजिए । विश्वामित्र जी के यह कहने पर, जनक  
जी ने वह धनुष मँगवा दिआ ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।

ज्यां समारोप्य भटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

और पराक्रमी श्रीराम ने पलक मारते उस धनुष को नवी,  
उस पर भट रोदा चढ़ा दिआ और उसे टंकोरा ॥ ४८ ॥

तेन पूरयता वेगात् मध्ये भग्नं द्विधा धनः ।

तस्य शब्दोऽभवद्भीमः पतितस्याशनेरिव ॥ ४६ ॥

टंकोर देने के लिए जोर से डोरी खींचने के कारण, बीच से उसके दो टुकड़े हो गए । उसके टूटने से ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ मानों कहीं वज्र गिरा हो ॥ ४६ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसन्धिना ।

निश्चिता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मेरे सत्यसन्ध पिता ने मेरा दान करने के लिए उत्तम जलपात्र मँगवाया और श्रीरामचन्द्र को मुझे देने को बे उद्यत हुए ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।

अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

किन्तु देने के लिए उद्यत होने पर भी अपने अयोध्याधिपति पिता का अभिप्राय जाने बिना, श्रीराम ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार न किया ॥ ५१ ॥

[ टिप्पणी—यह भी भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता थी ॥ उस काल के किशोरावस्था प्राप्त भारतवासी अपने पिता की अनुमति बिना विवाह जैसा दायित्वपूर्ण काम करने का हुस्साहस नहीं कर सकते थे ।

ततः श्वशुरमासन्त्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।

मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

तब मेरे पिता ने मेरे वृद्ध संसुर महाराज दशरथ जी को निमंत्रण भेज बुलवाया और उनकी अनुमति से जगत् में प्रसिद्ध ( अथवा आत्मवेत्ता ) श्रीराम को सौंप दिया अर्थात् उनके साथ मेरा विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

१ छन्द—अभिप्रायं ( गो० )



मम चैवानुजा साध्वी उर्मिला प्रियदर्शना ।

भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

मेरी छोटी, सीधी सादी और सुन्दर बहिन उर्मिला को, मेरे पिता ने स्वयं लक्ष्मण को भार्या रूप में दिया । अर्थात् लक्ष्मण के साथ उसका भी विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

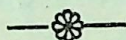
एवं दत्तास्मि रामाय तदा तस्मिन् स्वयंवरे ।

अनुरक्तास्मि धर्मे पति वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ।

हे तपोधने ! मैं उस स्वयंवर में इस प्रकार श्रीराम को दी गई थी । तब से मैं धर्मानुसार पराक्रमवालों में श्रेष्ठ अपने पति श्रीराम की सेवा करने में अनुरागिनी हूँ ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:—

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम् ।

पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

पतिव्रताधर्म को जानने वाली अनुसूया जी ने सीता के विवाह का सविस्तर वृत्तान्त सुन, जानकी जी का मस्तक सूँघा और दोनों हाथों से पकड़, उनको अपने हृदय से लगा कर, कहा ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं<sup>१</sup> भाषितं मधुरं<sup>२</sup> त्वया ।

यथा स्वयंवरं वृत्तं तत्सर्वं हि श्रुतं मया ॥ २ ॥

तू ने स्वयंवर का जो समस्त वृत्तान्त, साफ साफ, मनोहर और विचित्र रीति से कहा, सो मैंने सब सुना ॥ २ ॥

रमेऽहं कथया तेतु दृढं मधुरभाषिणि ।

रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शिवाम् ॥ ३ ॥

हे मधुरभाषिणी ! यद्यपि तेरी इस कथा के सुनने में मेरा मन बहुत लगता है तथापि अब सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं और सुन्दर रात होना चाहती है ॥ ३ ॥

दिवसं प्रतिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम् ।

सन्ध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

देखो न ! दिन भर भोजन की खोज में इधर उधर उड़ते हुए पक्षी, सन्ध्या हुई देख बसेरा लेने के लिए अपने अपने घोंसलों में आ गए हैं । यह उन्हीं का शब्द सुन पड़ता है ॥ ४ ॥

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोधताः ।

सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

ये मुनि लोग स्नान कर भीगे हुए वल्कल वस्त्र तथा जल के कलसे लिए हुए, साथ साथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

ऋषीणामग्निहोत्रेषु हुतेषु विधिपूर्वकम् ।

कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

---

१ चित्रं—बहुविधव्यञ्जनाविशिष्टम् । (शि०) २ मधुरं—मनोहरं ।  
( शि० )



ऋषियों के विधि विधान से किए हुए अग्निहोत्र का धुआँ, जो कबूतर की गरदन के रंग के समान लाल (धुमैले लाल) वर्ण का है, वायु के वेग से आकाश की ओर उठता हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः ।

विप्रकृष्टेऽपि देशेऽस्मिन् न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

ये सब अल्प पत्तों वाले पेड़, जो यहाँ से दूर होने के कारण साफ नहीं दिखलाई पड़ते, चारों ओर से अन्धकार के कारण सघन जान पड़ते हैं। दिशाएँ भी अन्धकार छा जाने से प्रकाश रहित हो गई हैं। अथवा अंधेरा छा जाने के कारण चारों ओर दूर दूर खड़े हुए थोड़े पत्ते वाले पेड़ भी सघन जान पड़ते हैं। अब किसी दिशा में भी उजियाला नहीं देख पड़ता ॥ ७ ॥

१ रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।

तपोवनमृगा ह्येते रवेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

देखो निशाचर चारों ओर घूमने लगे हैं और तपोवन के मृग अग्निहोत्र की वेदी के पवित्र स्थानों में पड़े सो रहे हैं ॥ ८ ॥

संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।

ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बर ॥ ९ ॥

हे सीते ! देखो रात भी तारागणों से भूषित हो आ पहुँची और चन्द्रमा भी चाँदनी फैलाता हुआ आकाश में उदय हो रहा है ॥ ९ ॥

गम्यतामनजानामि रामस्यानुचरी भव ।

कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाऽहं परितोषिता ॥ १० ॥

१ रजनीचरसत्त्वा—निशाचराः । (शि०) २ वेदितीर्थेषु—पावन-वेदिषु । (शि०)

अब मेरी अनुमति से तू जाकर श्रीराम की सेवा कर । तेरी कही मनोहर कथावार्ता सुन मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ ॥१०॥

अलंकुरु च तावत्त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिली ।

प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालङ्कारशोभिता ॥११॥

हे मैथिली ! तू इन दिव्य अलंकारों को मेरे सामने ही धारण कर ले और इनसे भूषित हो, मेरी प्रसन्नता बढ़ा, अर्थात् मुझे प्रसन्न कर ॥११॥

सा तथा समलंकृत्य सीता सुरमुतोपमा ।

प्रणम्य शिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ ॥१२॥

तब देवकन्या के तुल्य सीता जी उन अलंकारों से अपने शरीर को सजा कर और अनुसूया जी के चरणों में अपना सीस रख, (अर्थात् प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र के पास गई ॥१२॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतांवरः ।

राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥१३॥

वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को सजी हुई देख, अनुसूया जी के दिए हुए प्रेमोपहार से बहुत प्रसन्न हुए ॥१३॥

न्यवेदयत्ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली ।

प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्त्रजम् ॥१४॥

तदनन्तर अनुसूया जी के दिए हुए प्रेमोपहार अर्थात् वस्त्र, आभूषण, माला आदि के मिलने का वृत्तान्त, सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा



अथवा प्रेमोपहार की वस्तुएँ सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाई  
॥१४॥

प्रहृष्टस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।

मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥१५॥

मनुष्यों के लिए अलभ्य, अनुसूया जी के किए हुए जानकी जी के सत्कार को देख, श्रीरामचन्द्र और महारथी लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा अनुसूया जी ने जानकी जी का जो सत्कार किया वह मनुष्यों के लिए दुर्लभ है, अतः उसे देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा मनुष्यों के लिए दुर्लभ जो वस्त्राभूषण प्रेमोपहार में अनुसूया जी ने जानकी जी को दिए थे, उन्हें देख, श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥१५॥

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननः ।

अर्चितस्तापसैः सिद्धैरुवास रघुनन्दनः ॥१६॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्वियों और सिद्धों से सत्कारित हो और अनुसूया जी के दिए हुए वस्त्राभरणों से भूषित चन्द्रमुखी सीता को देख, वह रात वहीं रह कर बिताई ॥१६॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य<sup>१</sup> हुताग्निकान् ।

आपृच्छतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान् ॥१७॥

जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब दोनों पुरुषसिंहों ने स्नान और सन्ध्योपासन कर्मों को समाप्त कर, वनवासी तपस्वियों से आगे वन में जाने के लिए बिदा माँगी ॥१७॥

१ पुण्यां—अनुसूययापुण्ययालंकारां सीतां दृष्ट्वा । ( रा० ) २ अभिषिच्य हुताग्निकान्—स्नात्वा कृतहोमान् । ( गो० )

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।

वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥१८॥

तब धर्मचारी और वनवासी तपस्वियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—  
हे राघव ! इस वन में मनुष्यों को घूमना फिरना राक्षसों के कारण बड़ा  
भयावह है । अथवा राक्षसों के उपद्रव से यह वनप्रदेश बड़े संकट का  
स्थान हो रहा है ॥१८॥

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।

वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥१९॥

हे श्रीराम ! इस वन में नाना रूपधारी एवं नरमांसभोजी राक्षस  
और रक्त पीने वाले हिंस्रपशु रहते हैं ॥१९॥

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं धर्मचारिणम् ।

अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥२०॥

वे राक्षस और जंगली हिंस्र पशु इस वन में यदि किसी धर्मचारी तपस्वी  
को कभी अपवित्र दशा में या असावधान पाते हैं तो मार कर खा जाते  
हैं । अतः हे राघव ! आप इन दुष्टों का निवारण कीजिए । (राक्षस  
अपवित्र दशा में रहने वाले तपस्वियों को और वन्य जन्तु सिंह व्याघ्रादि  
असावधान तपस्वियों को) ॥२०॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरता वने ।

अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥२१॥

हे राघव ! इस रास्ते से तपस्वी लोग वन में फल लेने जाते हैं, अतः  
इसी रास्ते से आपका भी इस दुर्गम वन में जाना ठीक है ॥२१॥

१ उच्छिष्टं—प्रशुचिं । (रा०)



इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-

द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः ।

वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः

सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥२२॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

जब तपस्वियों ने हाथ जोड़ मङ्गल आशीर्वाद दे कर इस प्रकार कहा,  
तब सन्तुष्टों को तपाने वाले, श्रीराम और लक्ष्मण ने सीता जी सहित,  
उस दुर्गम वन में, उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्यदेव मेघमण्डल  
में प्रवेश करते हैं ॥२२॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ अयोध्याकाण्ड समाप्त हुआ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये

चतुर्विंशतिसाहस्रिकायां संहितायाम्

अयोध्याकाण्डः समाप्तः ॥

—:०:—

॥ श्रीः ॥

## श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—:०:—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भवमस्तु वः ।  
 प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्षताम् ॥१॥  
 लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।  
 येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥२॥  
 काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।  
 वेशोऽयं क्षीभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥३॥  
 कावेरी वर्षतां काले काले वर्षतु वासवः ।  
 श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्षताम् ॥४॥  
 स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां  
 न्याय्येन मार्गेण महीं महोशाः ।  
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं  
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥५॥  
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।  
 अक्षवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥६॥  
 वेदवेदान्तवेद्याय मंघश्यामलमूर्तये ।  
 पुंसां मोहनरूपाय पुण्यलोकाय मङ्गलम् ॥७॥



विष्णुमित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।  
 भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥  
 पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।  
 नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥  
 त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।  
 सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥  
 सौमित्रिणा च जानक्या चापवाणसिधारिणे ।  
 संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥  
 दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।  
 गृध्रराजाय भक्ताय मुषितदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥  
 सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।  
 सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्विक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥  
 हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।  
 बालिप्रमथानायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥  
 श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।  
 जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥  
 आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।  
 राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥  
 मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।  
 सबन्ध पूर्वराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

### माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां

न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।

गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं

लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।

देशोऽयं क्षीभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।

येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।

चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।

करोमि यद्यत्सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

### स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां

न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।

गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं

लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।

देशोऽयं क्षीभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।

अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥



वरितं रघुनाथस्य शतकौटिप्रविस्तरम् ।  
 एकैकमन्तरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ३ ॥  
 शृग्वनरामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।  
 स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ४ ॥  
 रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।  
 रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ५ ॥  
 यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।  
 वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ६ ॥  
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।  
 चक्रवर्तितनूजाय सावभौमाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥  
 यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।  
 अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ८ ॥  
 अमृतोत्पादने दैत्यान्मृतो वज्रधरस्य यत् ।  
 अदितिर्मङ्गलं प्रादातत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥  
 श्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।  
 यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥  
 ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।  
 मङ्गलानि महाबाहू दिशन्तु तव सर्वदा ॥ ११ ॥  
 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा  
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।  
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै  
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ १२ ॥



